नाटक की परख

[संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण]

डॉक्टर एस० पी० खत्री

साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

तृतीयावृत्ति : १६५६ ईसवी

पाँच रुपया

मुद्रक : हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

माँ

और

रानी बहू

को

जो मेरे लिखने-पढ़ने को

केवल

'नाटक'

समझती हैं

दो शब्द

हिन्दी साहित्य में आलोचनात्मक ग्रन्थों की कमी है। जो ग्रन्थ हैं भी वे संस्कृत-साहित्य के अथवा अंग्रेज़ी के आलोचनात्मक ग्रंथों के अनुवाद मात्र है। आधुनिक आलोचना के सिद्धान्तों की प्रेरणा द्वारा कम पुस्तकें लिखी गई है। 'नाटक की परख' इस साहित्यिक अंग की पूर्ति का प्रयास है।

इसमें सन्देह नहीं कि नाट्य-साहित्य से संबंधित पुस्तकों का संस्कृत साहित्य में अक्षय-भण्डार है। प्राचीन मनीषियों ने नाटक-रचना तथा नाट्य कला पर जो पुस्तकें लिखी हैं उनकी महत्ता अपूर्व है और वे साहित्य की अमूल्य निधि रहेंगी। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर अंग्रेज़ी-साहित्य-सूर्य की प्रखर किरणें पड़ रही हैं। देश के साहित्यकारों में पहले पहल बंगला के साहित्यिकों ने इस प्रकाश को ग्रहण कर अपना साहित्य भरा पूरा किया है। तत्पश्चात् मराठी तथा गुजराती साहित्य ने नवीन धाराओं के अनुसार अपने साहित्य का निर्माण किया है। यहाँ तक की, अगर सच पूछा जाय तो, उर्दू के कुछ कलाकारों ने अंग्रेज़ी साहित्य की हास्यात्मक गद्य शैली को बड़ी खूबी से अपना कर श्रेष्ठ गद्य रचना की है। कदाचित् हिन्दी-साहित्य सेवी इस दौड़ में पीछे हैं। इसका कारण रूढ़िवादिता तथा राष्ट्रीयता हो सकता है। रूढ़िवाद के प्रेमियों ने अन्य बाह्य साहित्यिक प्रभावों से अपने को बचाने की चेष्टा मे कुछ ऐसा दृष्टि-कोण अपनाया जो मध्य-काल में ही वांछित हो सकता था। कुछ साहित्यकारों ने तो अपने साहित्यिक कोट को इस प्रकार सुदृढ़ कर, बाहर खाइयाँ खोद दीं कि किसी बाहरी आक्रमण से वह बिलकुल सुरक्षित हो गया।

इस प्रकार के दृष्टि-कोण तथा सीमित वातावरण से हिन्दी-साहित्य के फलने-फूलने में बड़ी बाधा पड़ी है। यह कहना भी असंगत है कि समस्त बाह्य प्रभाव ग्रहणीय हैं। कुछ बाह्य प्रभाव तो ऐसे हैं कि जिनसे साहित्य की मर्यादा गिर सकती है। उदाहरणार्थ पाश्चात्य देशों के कथा-साहित्य ने जहाँ भारतीय साहित्यकारों को नए-नए रास्ते दिखलाए, नवीन शैलियाँ प्रस्तुत की उसके साथ ही साथ कुछ ऐसे भाव-समूहों पर आधारित कथा-साहित्य निर्मित करने का आमंत्रण दिया जिसके फलस्वरूप लाभ के अतिरिक्त हानि ही अधिक हुई है।

आलोचना-साहित्य के कोटद्वार का पूर्ण-रूप से बाह्य-प्रभावों को लाने के लिए खोल देने में कोई हानि नहीं है। जिन प्राचीन भित्तियों पर हमारा साहित्य-संसार टिका हुआ है उसकी ईंटें कुछ कमज़ोर हो चली हैं और नींव पानी खा गया है। अब समय आ गया है जब हमें उस प्राचीन नींव को नए चूने गारे से अनन्त काल के लिए सुदृढ़ बना देना चाहिए। इसके साथ-साथ साहित्यिक छूत-छात से कदाचित् हानि के सिवा लाभ नहीं। 'पड़ो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय'—शायद कुछ संस्कृत तथा उससे प्रेरित साहित्यकारों के लिए अंग्रेज़ी अथवा अन्य योरोपीय देशों के साहित्यिक सिद्धान्त के लिये 'अपावन ठौर' वाली धारणा अपनानी चाहिए।

इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है। जिस समय संस्कृत साहित्य की रचना हुई उस समय के समाज के आचार-विचार, आदान-प्रदान का ढंग तथा उनको व्यक्त करने की शैली उस समय के लिए नितान्त अनुकूल तथा प्रभावपूर्ण थी। हमें मौर्य-साम्राज्य का वैभव स्वप्न समान हो गया है; राजपूती जौहर अब कहानियों की वस्तु होकर रह गए हैं। हमारे समाज ने इतने पलटे खाए हैं कि आश्चर्य इस बात पर होता है कि वह अब तक जीवित कैसे है। बदलते हुए समाज को जीवित रखने के लिए बदलती हुई

साहित्यिक शैलियों की आवश्यकता पड़ती है। इस बदलते हुए समाज को कुछ नवीन साहित्यिक धाराओं का रसास्वादन कराना भी अत्यन्त आवश्यक है। 'नाटक की परख' भी इसी ओर एक छोटा प्रयास है। इसमें अंग्रेजी नाट्य सिद्धान्तों का निचोड़ है। मैं साहित्य-भवन का कृतज्ञ हूँ जिसके सहयोग के ही कारण यह पुस्तक पाठकों के हाथ में है।

एस० पी० खत्री

इलाहाबाद
जनवरी १; १६४८

विषय सूची

शब्द-कोष

Aristotle	...	अरस्तू
Atmosphere	...	वातावरण
Background	...	पृष्ठ-भूमि
Chorus	...	सहगायक
Comedy	...	सुखान्तकी
Comic	....	सुखान्तक
Conflict	...	द्वन्द्व, संघर्ष
Crisis	...	आपद्काल
Denouement	...	यवनिका पतन
One-Act-Play	..	एकांकी
Plato	...	अफ़लातू
Plot	...	वस्तु
Roman	...	रोमीय
Romantic	...	रोमांचक
Story	...	कथानक
Tragedy	...	दुःखान्तकी
Tragic	...	दुःखान्तक
Tragi-Comedy	...	मिश्रितांकी

१

प्रथम खण्ड

प्राचीन युग

१

नाट्य-कला का उद्गम

हज़ारों वर्ष पहले की कहानी है।

सूर्य की गर्मी से धरती सूख गई थी। मीलों तक पानी और वर्षा का नाम तक न था। सूर्यदेव और भी आकाश में प्रचण्ड होते जा रहे थे। पशु-पक्षी कहीं पर भी दिखलाई नहीं पड़ रहे थे। भीषण गर्मी से वे भी इधर-उधर छिपकर निश्चेष्ट तथा आक्रान्त पड़े हुए थे। ऐसे ही समय में एक जंगली जाति के कुछ लोग गरोह बनाकर भूख और प्यास से त्रस्त होकर बाहर निकल पड़े। बाहर निकलते ही उन्हें सूर्य के प्रचण्ड ताप का अनुभव हुआ। वे थोड़ी ही देर में सूर्य की इस प्रचण्ड शक्ति से विह्वल हो उठे। ज्योंही मध्याह्न हुआ त्यों ही उन्होंने सूर्य की सम्पूर्ण शक्ति तथा उसके विशाल तेज का दर्शन किया। उसके ताप से उनमें भय का सञ्चार हुआ; उसके दर्शन से उनमें श्रद्धा की ज्योति जाग उठी। इस गरोह के कुछ लोग नत-मस्तक हुए। उन्होंने सूर्य को किसी भीषण शक्ति का प्रतीक समझा। उन्होंने प्रार्थना की : देव! अपना ताप कम करो!

इस गरोह के कुछ लोग आगे बढ़ते ही गये। उन्हें सूर्य के ताप की चिन्ता न थी। उन्हें चिन्ता थी अपनी भूख मिटाने की, अपनी प्यास बुझाने की। भूख की ज्वाला ने उन्हें बाहर निकलने पर विवश कर दिया था और उनका दृढ़ निश्चय था कि वे बिना अपनी क्षुधा शान्त किये वापस न जायँगे। इतने ही में बादल आकाश में घिर आये। रिमझिम वर्षा होने लगी। आँधी चली; बादल गर्जा; बिजली कौंधी; पानी बरसा। सूर्य के ताप से त्रस्त मनुष्यों ने गर्मी से शान्ति पायी। वर्षा ने थोड़ी ही देर में सम्पूर्ण प्रकृति को आप्लावित कर

दिया। पथिकों ने अपनी प्यास बुझाई; उनमें भय तथा श्रद्धा का अनुपम सचार हुआ। इस भावना के जागते ही उन्होंने वर्षा की अपूर्व शक्ति के आगे घुटने टेक दिये। उन्होंने प्रार्थना की: जलदेव! तुम धन्य हो! हम तुम्हारे सेवक हैं!!

इस गरोह के बचे हुए लोग और भी आगे बढ़े। उनकी भूख अब भी न बुझ पाई थी। चलते-चलते वे ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ वर्षा हो चुकी थी। नदी-नाले भर रहे थे, चारों ओर हरियाली ही हरियाली थी। हर ओर वृक्षों पर फल लदे हुए थे। पक्षी-वर्ग मंगल-गान कर रहा था। पथिकों ने शीघ्र ही कुछ फल तोड़े, कन्द-मूल इकट्ठे किये, कुछ मछलियाँ पकड़ीं और अपनी क्षुधा शान्त की। क्षुधा-शान्ति के पश्चात् उनके हृदय में समस्त प्रकृति के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा की भावना संचरित हुई। वे विनत हुए: प्रकृति देवी! तू धन्य है; हम तेरे दास हैं!!!

रात्रि में यह सारा गरोह इकट्ठा हुआ। कुछ लोगों ने सूर्य की प्रशंसा की; कुछ ने जल के गुण गाये; कुछ ने सम्पूर्ण प्रकृति के वैभव और उसमें निहित शक्ति का वर्णन किया। उन लोगों ने यह देखा कि सूर्य की गर्मी, वर्षा के जल तथा प्रकृति के वैभव के कारण ही उनकी प्यास बुझी; क्षुधा शान्त हुई। वे हर्ष से नाच उठे। उनके अंग-प्रत्यंग डोल डोलकर प्रकृति की पोषक-शक्ति का परिचय देने लगे। वे इतने अधिक हर्षित हुए कि उन्हें तन-बदन की सुध न रही। स्त्री; पुरुषों ने मिलकर गीत गाने आरम्भ किये। उन्होंने अपनी शान्ति तथा अपने हर्ष का परिचय अपने गायन, नृत्य तथा दैवी श्रद्धा के द्वारा दिया। इसी गरोह की उन्मत्त नृत्य-भावना तथा हर्ष-प्रदर्शन में ही नाट्य-कला का उद्गम था।

आदि जातियों के लिए प्रकृति जीवित थी। दिन-प्रतिदिन के परिवर्त्तन, ऋतुओं के आवागमन तथा प्रकृति के परिवर्तनशील जीवन की पहेली उन्हें अत्यन्त जटिल मालूम होती थी। उनमें न तो

तर्क-शक्ति थी और न विश्लेषण-शक्ति। वे प्रकृति के किसी भी अंग का वैज्ञानिक रूप से निरूपण नहीं कर सकते थे। वे प्रकृति से केवल अपनी क्षुधा शान्ति का वरदान माँगते थे और समस्त प्रकृति को एक विचित्र दैवी घटना समझते थे। वर्षा और वसन्त दोनों ही उनकी क्षुधा शान्ति में सहायक होते थे। जल-राशि तथा नदियाँ उन्हें भोजन के नये पदार्थ प्रस्तुत करती थीं। प्रकृति की जिन-जिन शक्तियों से उन्हें शान्ति और सान्त्वना मिलतीं उन्हीं शक्तियों की वे पूजा करते, उनका आवाहन करते तथा उन्हीं के सामने नत-मस्तक होते। इन्हीं शक्तियों में वे जीवन की प्रगति का अनुभव कर उसे नृत्य में परिणत करने की सफल चेष्टा करते थे। नृत्य, नाटक का आदि-रूप है।

क्षुधा-शान्ति के पश्चात् इन आदि जातियों में, स्वाभाविक रूप से, प्रणय तथा लालसा की भावना जाग उठी। जैसे-जैसे उनकी क्षुधा शान्त होती गयी वैसे ही वैसे उनमें लालसा की भावना बढ़ती गयी। एक समय ऐसा आया जब प्रणय का बाँध टूट गया और लालसा अबाध गति से बह चली। प्रणय के बहाव तथा लालसा की तरंग में स्त्री-पुरुष, युवा-युवती, संयोग की प्रतीक्षा में गायन तथा नृत्य करने और प्रकृति के मनोरम तथा फलप्रद स्थलों पर जाकर क्रीड़ा करने लगे। प्रकृति की जो-जो वस्तुएँ उनकी प्रणय-क्रीड़ा में सहयोग देतीं वे उन्हें सख्य-भाव से देखते और समस्त प्रकृति के पोषक-तत्वों, शक्तिपूर्ण अंगों तथा सुन्दर स्थानों की पूजा करते। अपनी लालसा तथा श्रद्धा को वे अपनी रंगरलियों में आनन्दपूर्वक प्रदर्शित करते थे। संभवतः इन्हीं रंगरलियों में नाटक का बीज निहित था।

इन आदि मनुष्यों के गरोहों का जीवन पूर्णतया श्रद्धामय था। उन्होंने अपने से अधिक शक्तिशाली सूर्य, वर्षा, बिजली और बादल के सामने हार मान कर उनका शासन स्वीकार कर लिया था।

प्रकृति के प्रत्येक स्थल में वे जीवन का अंकुर, उसकी प्रगति तथा उसका विस्तार देखते थे। वे अपने को प्रकृति का एक निरीह अंग मानकर अन्य शक्तिशाली अंगों की पूजा तथा अर्चना में अपना समय व्यतीत करते थे। वायु के वेग, विद्युत् की गति, सूर्य के ताप, आकाश के विस्तार के सामने वे अपनी हीनता का अनुभव कर उन्हें देव-तुल्य अथवा स्तुत्य समझते और उनकी अपार तथा अवि-जित शक्ति के आगे नत मस्तक होकर धर्म का बीज बोते थे।

सारांश में, क्षुधा-शान्ति तथा प्रणय-लिप्सा और प्रकृति की अपार शक्ति की पूजा तथा अर्चना द्वारा नाट्यकला का जन्म हुआ। क्षुधा-शान्ति, प्रणय-तृप्ति तथा जीवन-शक्ति के अनुभव के उपरान्त, इन मनुष्यों ने अपने हर्षपूर्ण तथा श्रद्धायुक्त नृत्य और गायन में नाटक का प्रथम स्वरूप प्रस्तुत किया। वसन्तागमन वर्षागमन तथा अन्य उत्सवों पर नृत्य-गीत गाये जाते और स्त्री-पुरुष एक टोली में इकट्ठे होकर अपना हर्ष प्रदर्शित करते थे। समाज तथा सभ्यता ने नाटक के इसी आदिरूप—नृत्य तथा गायन—को परिमार्जित कर नाटक का आधुनिक रूप निर्मित किया है। इन नाटकों का परिमार्जन पहले-पहल यूनान देश में आरम्भ हुआ।

यूनान के प्राचीन गरोहों ने भी प्रकृति की अपार शक्ति का अनु-भव किया था। उन्होंने प्रकृति के परिवर्तनशील दृश्यों को देखकर तथा उसके अटल नियमों का अनुभव कर, एक दैवी शक्ति की कल्पना की जो मानव की क्षुधा-शान्त कर उसको सन्तोष दान देती थी। इसी श्रेष्ठ शक्ति की कल्पना में कला का जन्म हुआ। इसी कारण कला मानव समाज से संबंधित है। यूनानियों ने अपनी कल्पना का सहारा लेकर उन देवताओं का रूप-निर्माण तथा आवाहन आरम्भ किया जो उन्हें भोजन और सुरा देकर सन्तुष्ट तथा आनन्दित रखते थे। ये देवता 'डायोनिसियस' तथा 'बैकस' के रूप में अवतरित हुए। 'डायोनिसियस' केवल पोषक ही देवता न थे; वे प्रकृति के विशाल

तथा वैभवपूर्ण जीवन के प्रतीक थे। उन्हीं की कृपा से पतझड़ के पश्चात् प्रकृति को वसन्तागमन द्वारा नव जीवन मिलता। उन्हीं के द्वारा सुप्त संसार, जो रात्रि के समय निश्चेष्ट तथा निर्जीव रहता, उषा की लालिमा से प्रातःकाल अपने को सचेष्ट तथा अनुरञ्जित करता। उन्हीं की अनुकम्पा से वृक्षों पर फल आते और अंगूर की बेलें लहलहा उठतीं। वे प्रकृति को जीवन दान देते थे। वास्तव में वे जीवन के प्रस्फुटन अथवा प्रकृति में प्राण-प्रतिष्ठा-योग के दैवी प्रतीक थे। यूनानी 'डायोनिसयस' की पूजा भव्य-रूप से करते थे।

पहले पहल एक प्रमुख गायक टोलियों के सम्मुख आता और 'डायोनिसयस' की प्रशंसा की गीत गाता और फिर नृत्य द्वारा अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करता। 'बैकस' अथवा सुरादेव की भी प्रशंसा में वह तन्मय होकर गायन करता तथा नृत्य द्वारा अपना सन्तोष तथा हर्ष प्रदर्शित करता। इन नृत्य-गीतों के साथ-साथ गायन-कला तथा भाव-व्यञ्जना दोनों का प्रस्फुटन हुआ। धीरे-धीरे प्रमुख गायक के गायन तथा नृत्य कला में तन्मय होकर अन्य लोग भी नृत्य तथा गीत में सहयोग देने लगे। अब गायकों की टोली एक से दो और दो से चार होने लगी। कुछ दिन बाद उन गायकों का चुनाव होने लगा जो दोनों कलाओं में पटु होते। यही टोली, आगे चलकर यूनानी नाट्य-साहित्य में 'कोरस' अथवा 'सहगायक' कहलाई। इन उत्सवों में जो नृत्य तथा गायन होता उन्हें 'डिथिरैम्बिक डांस' तथा 'बैकिक डांस' अथवा तन्मय-नृत्य नाम मिला।

इस प्राचीन नृत्य-गीतों का कोई साहित्यिक लेखा नहीं मिलता। मूल रूप में वे केवल मौखिक रहे होंगे, परन्तु गायन-प्रणाली का लेखा अवश्य है। सबसे पहले प्रमुख गायक पूरे स्वर से गीत की तान छेड़ता और उसकी टेक बतलाता। उसी तान और टेक पर सहगायक अपनी तान छेड़ते और टेक दुहराते। समय ने, धीरे-धीरे यूनानियों के सम्मुख अन्य देवता तथा श्रेष्ठ राष्ट्रीय वीर प्रस्तुत किये। देव-तुल्य वीरों

की कहानियाँ, उनके साहसपूर्ण कार्य, उनकी शूरता तथा उनकी मानवता की प्रशंसा में नृत्य-गीत उत्सवों पर प्रदर्शित होते और लोग बड़ी उत्सुकता तथा उत्साह से सहयोग देते। क्रमशः इन नृत्य-गीतों के विषयों की सूची बढ़ती गयी। समय ने, फिर इन देव-तुल्य वीरों को मनुष्य में परिणत कर दिया। समाज ने मानव को निकृष्ट तथा हीन न समझ कर उसे गौरवपूर्ण तथा श्रेष्ठ वर्ग का समझना शुरू कर दिया। श्रेष्ठ देवों का स्थान, श्रेष्ठ वीरों ने तथा श्रेष्ठ पौराणिक वीरों का स्थान श्रेष्ठ अथवा साधरण वर्ग के मनुष्य ने ले लिया। यूनानियों ने केवल राजाओं तथा रानियों को ही अपने नाटकों में नायक तथा नायिका का पद दिया है। नाट्यकारों ने इन नायक और नायिकाओं के अभिनय-हेतु एक रंगमंच का भी निर्माण किया।

यूनानियों का रंगमंच, मूल-रूप में केवल एक गोल घिरा हुआ स्थान था। बीचोबीच एक थोड़ा सा ऊँचा स्थान वेदी के समान रहता था। यह स्थान सुरादेव का स्थान था। वेदी को यूनानी जनता धार्मिक रूप से पवित्र मानती थी और किसी भी रूप में उसको अपवित्र करना पाप था। वेदी को अपवित्र करने वाले को मृत्यु-दण्ड की राज्याज्ञा थी। ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व यूनानियों की रंगशालाएं इसी रूप में थीं।

इन यूनानियों की रंगशालाओं में समयानुसार 'ट्रैजेडी' अथवा दुःखान्तकी का प्रदर्शन हुआ करता था। जर्मन दर्शनज्ञ-नीट्शे के मतानुसार दुःखान्तकी ही नाटक का मूल-स्वरूप है। इस मूल-स्वरूप में यूनान की आत्मा के दो विरोधी भावों का समन्वय है। पहला है डायोनिसियस—जो कल्पना, आवेश, उद्वेग तथा लालसा प्रतीक है; दूसरा है एपालो—जो सामञ्जस्य, अनुक्रम सन्तोष, शालीनता, मर्यादा तथा प्रेम का प्रतीक है। इन दो विरोधी भावों के समन्वय से ही दुःखान्तकी की रचना संभव हुई है। यूनानी कवियों ने डायोनिसियस तथा एपालो की आत्मा में अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति द्वारा एक

काल्पनिक सामञ्जस्य उपस्थित कर दिखाया। डायोनिसियस की आत्मा उन्मत्तता की प्रलाप-पूर्ण आत्मा है और एपालो की आत्मा स्वप्न-देश की शुभ्र आत्मा है। कल्पना और वास्तविकता, मर्यादा तथा प्रलाप, लालसा तथा प्रेम में सामञ्जस्य प्रस्तुत करना दैवी कार्य था। यूनानी कवि ने इस कार्य को कला के नवीन संसार में संभव किया। इस नवीन संसार में पहुँच कर उसने अपनी रहस्य पूर्ण दृष्टि से, जीवन के विरोधी भावों और द्वन्द्व के पीछे छिपी हुई एकता का अनुभव कर दुःखान्तकी का कलामय निर्माण किया। दुःखान्तकी का दूसरा आधार सहगायक है जिसमें बनदेवता इकट्ठे होकर डायोनिसियस की अर्चना में गीत गाते हैं।

प्रसिद्ध आलोचक रिज़वे ने भी नाट्यकला का उद्गम, ऐतिहासिक दृष्टि से, प्राचीन में ही माना है। उनके अनुमान से नाटक की आत्मा का जन्म समय के आवर्त्त में छिपा है। प्राचीन टोलियाँ और मनुष्यों के गरोह जब ऋतु-परिवर्तन पर प्रसन्न होकर नृत्य करते तो वे उस समय अपने जाति-विशेष वीरों तथा साहसी मनुष्यों का आवाहन कर उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते। इस श्रद्धाञ्जलि में नाटक का बीज निहित था। इनमें अखाड़ों के जातीय खेल, घुड़सवारी की प्रतियोगिता तथा गायन भी सम्मिलित था। डायोनिसियस की पूजा के लिए जो वेदी निर्मित की गई थी वह वास्तव में बलि वेदी थी। वहाँ डायोनिसियस तथा अन्य जातीय वीरों की आत्मा को सन्तुष्ट करने के लिए बलिदान होते थे। इसी बलिदान के कार्य-क्रम में दुःखान्तकी का मूल बीज था। ये बलिदान के उत्सव पहले पहल थ्रेस प्रान्त में शुरू हुए और जब जब टोलियाँ डायोनिसियस की पूजा करतीं तो वे बहुत अशिष्ट तथा अश्लील रूप में नृत्य तथा गायन करतीं। यूनानियों का विश्वास था कि डायोनिसियस ही के कारण खेती होती है, खलिहान भरे पूरे रहते हैं और मनुष्य मात्र को सुख और शान्ति मिलती है। आजकल के रोम प्रदेश में 'सैटरनेलिया' नामक

त्योहार इसी का रूपान्तर मात्र है। यूरोप के देशों में ईस्टर तथा भारत-वर्ष की होली की रङ्गरलियों के पीछे इसी भावना का संकेत मिलता है।

नाट्यकला के आलोचक मूरे के मतानुसार भी दुःखान्तकी का बीज डायोनिसियस की पूजा तथा अर्चना में निहित था। डायोनिसि-यस की पूजा वास्तव में वसन्त और नये वर्ष का आवाहनमात्र थी, क्योंकि इन्हीं के प्रभाव से समस्त प्रकृति नवजीवन पाती थी और मानव समाज सन्तुष्ट तथा हर्षित होता था। यूनानी नये वर्ष की आत्मा को 'डीमॉन' नाम से पुकारते थे और इसी के परिवर्तनशील दृश्यो में दुःखान्तकी की आत्मा का आभास मिलता है। प्रत्येक वर्ष का जीवन कभी गर्व से उन्नत होता, कभी उसी गर्व द्वारा पतन को प्राप्त होता। वसन्त ही उसके गर्व की पराकाष्ठा थी; पतझड़ तथा शिशिर से ठिठुरता हुआ वर्ष उसी का पतन-स्वरूप था। इन्हीं दोनो भावों—गर्व तथा उसका शमन—को लेकर दुःखान्तकी की आत्मा का निर्माण हुआ। जो शक्ति इस गर्व का प्रतिशोध लेकर उसका शमन करती थी। उसे यूनानी 'ह्यूब्रिस' अथवा प्रतिशोधिका कहते थे। कदाचित् शेक्सपियर लिखित 'किंग लियर' नाटक के पतन भाग में प्रतिशोधिका की पूर्ण छाया है। जब वर्षा के गर्व का पतन होता, तो यह प्राण-दण्ड एक प्रकार से उचित ही माना जाता, परन्तु कुछ ही दिनो बाद वर्षा की नवीन आत्मा फिर से अपने पतन का प्रतिशोध लेती और इसी तरह गर्व प्रतिशोध तथा पतन का हर वर्ष पुनरागमन होता रहता और अटूट शृंखला बँधी रहती। इसी शृंखला अथवा पुनरागमन में नाट्य कला का प्रथम दर्शन था।

२

दुःखान्तकी की प्रगति

यूनानी दुःखान्तक सिद्धान्त

ईस्किलस—(५२५—४५६ पूर्व ईसा) यूनानी लेखकों में ईस्किलस ने अपनी कला से दुःखान्तकी की प्रगति विशेष रूप से की। ईस्किलस का जन्म ५२५ वर्ष ईसा हुआ था। जब यूनानियों और फ़ारस देश की सेनाओं में युद्ध हो रहा था उस समय ईस्किलस युवा थे। अपनी युवावस्था में ही उन्हें एक साहित्यिक प्रतियोगिता में पुरस्कार मिला। इस पुरस्कार से उत्साहित होकर उन्होंने साहित्य रचना प्रारम्भ की और उसी को अपना जीवन ध्येय बनाया। किसी एक पुस्तक में उन्होंने यूनानी धर्म की कटु आलोचना की और यूनानी समाज पर व्यंग्यबाण बरसाए। उनके इस कार्य से क्रोधित होकर सरकार ने उन्हें निर्वासन दण्ड दिया और उन्होंने यूनान की राजधानी एथेंस से विदा ली। बहुत काल तक वे निर्वासित रहे और इसी समय उन्होंने पचास ग्रंथों की रचना की। उनकी मृत्यु सिसली में हुई।

ईस्किलस बड़े उत्साही कलाकार थे। उनके समय में नाटकों में केवल एक ही पात्र रहता था जो सहगायकों के साथ संवाद कर नाटक का कार्य सम्पूर्ण करता था। ईस्किलस ने दूसरे पात्र की योजना बनाई और संवाद में नाटकीय तत्वों का सम्मिश्रण कर नाट्य-कला की प्रगति की। दो मनुष्यों के संवाद के फलस्वरूप नाटक रचना में बड़ा गहरा परिवर्तन हुआ और एक ऐसे नवीन तत्व का निर्माण हुआ जिसे आधुनिक लेखकों ने बड़ी कुशलता से अपने नाटकों में व्यवहृत किया है।

ईस्किलस ने, नाटकों में, सहगायकों की कृत्रिमता को घटाया। सहगायकों का संवाद साधारणतः गीत-काव्य के गुण लिए रहता

था। जब नाटक में द्वन्द्व की आवश्यकता होती थी। तब उस समय के कलाकार उसे गीत काव्य के गुणों से पूरा करने की असफल चेष्टा करते थे। ईस्किलस ने संवाद को ही नाटक का मुख्य आधार माना और उसमें अनेक नाटकीय गुण संग्रहीत किए। इसी के साथ-साथ उन्होंने नाटकों की पृष्ठ-भूमि का भी परिचय संवाद द्वारा देना आरम्भ किया। परन्तु ईस्किलस में इतनी प्रतिभा होते हुए भी नाटकों से गीत काव्य के तत्वों को अलग रखकर नाटक रचने की क्षमता नहीं थी। सवाद की प्रधानता तथा पृष्ठ-भूमि का संकेत उनके नाटकों के महत्वपूर्ण गुण हैं।

साधारणतः यूनानियों का विश्वास था कि देवता-वर्ग मनुष्य से ईर्ष्या करते हैं और उसे संसार में पनपने नहीं देते। परन्तु ईस्किलस की धारणा इसके विपरीत थी। उनके विचार में भाग्य ही मुख्यतः प्रतिशोधिका है। यह प्रतिशोधिका कोई रहस्यपूर्ण शक्ति नहीं वरन् मनुष्य को उसके कर्मों के फल प्रदान करती है। मनुष्य का गर्व और उसका अनैतिक कार्य प्रतिशोधिका का आह्वान करता है और प्रतिशोधिका कभी भी अपने कार्य में चूकती नहीं। सारांश में ईस्किलस का यह नाटकीय सिद्धान्त है कि मनुष्य भाग्य के हाथों का खिलौना मात्र नहीं परन्तु मनुष्य के त्रास और पीड़ा में एक गूढ़ नियम सन्निहित है जिसके अनुसार मनुष्य फल भोगता है। और जब दुःख, पीड़ा तथा त्रास से मनुष्य की आत्मा निर्मल हो जाती है तभी वह जीवन को वास्तविक रूप से समझ सकता है। बहुत अंशों में ईस्किलस का सिद्धान्त अंग्रेज़ी कवि जॉन मिल्टन के सिद्धान्तों से मिलता है। जैसे मिल्टन ने ईश्वरीय कार्यों का समर्थन कर मनुष्य को ही दोषी ठहराया उसी प्रकार ईस्किलस ने भी ईश्वरीय कार्यों के पीछे किसी अटल तथा नैतिक नियमों का आभास पाया। संस्कृत तथा हिन्दी के नाटककारों के 'विधि विधान' के संकेत में भी इसी सिद्धान्त की छाया मिलती है।

साफ़ोक्लीज़ (४६५—४०६ पूर्व ईसा) साफ़ोक्लीज ईस्किलस से अधिक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। अपनी युवावस्था में उनको नाटक खेलने का बड़ा चाव था। थोड़े ही समय बाद वे नाटक रचना की ओर आकृष्ट हुए और पूर्व ईसा ४६८ में उन्होने अपना पहला नाटक लिखा। साहित्यिक-प्रतियोगिता में भी उन्होंने ईस्किलस को हराया। साठ वर्ष के अनन्तर उन्होंने क़रीब १२० नाटकों की रचना की, परन्तु उनमें केवल सात ही प्राप्य है। साफ़ोक्लीज़ यूनानी राजनीतिक नेता पेरोक्लीज़ के परम मित्र थे और उनकी रचनाओं में यूनानी सभ्यता के स्वर्ण-युग का सम्पूर्ण चित्र मिलता है।

नाटक रचना में पहले पहल साफ़ोक्लीज़ ने पात्रों की संख्या दो से तीन बढ़ाई जिसके कारण संवाद में विभिन्नता आई और मनोरञ्जकता बढ़ी। यद्यपि ईस्किलस ने पृष्ठ-भूमि का उपयोग शुरू कर दिया था परन्तु दृश्यों का प्रभावपूर्ण प्रदर्शन साफ़ोक्लीज़ ने ही पहले पहल किया। दृश्यों का वर्णन, उनका सुरुचिपूर्ण-चित्रण तथा उन्हें अलंकृत करने मे उनकी विशेष कला थी। -

सहगायकों की संख्या तथा उनकी वेशभूषा में भी साफ़ोक्लीज़ ने बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। उन्होने सहगायकों की संख्या १२ से १५ की और उन्हें नइ वेशभूषा प्रदान की जिसके द्वारा वे बाद में पहचाने जा सकते थे। परन्तु सब से महत्वपूर्ण परिवर्तन उन्होंने नाटकों के रूप में किया। अब तक नाटक चार खण्डों में प्रदर्शित होते थे प्रत्येक खण्ड एक दूसरे पर निर्भर रहता था। साफ़ोक्लीज़ ने यह प्रणाली बदल कर अलग-अलग खण्डो में नवीन विषयों का उपयोग किया।

दुःखान्तक-कला के संबध मे साफ़ोक्लीज़ के सिद्धान्त ईस्किलस से अधिक कलापूर्ण हैं। वे प्रत्येक व्यक्ति के दिन प्रति दिन के दुःखों और त्रासों को देखते हैं। जिस जिस प्रकार से संसार की रंगभूमि में मनुष्य प्रताड़ित होता है उसी का यथार्थ अनुकरण वे नाटकों में

करते हैं। उनके लिखित दु:खान्तकीयों में धार्मिक दृष्टिकोण के विपरीत कला का दृष्टिकोण कहीं अधिक है।

युरिपाइडीज़ (४८० — ४०६ पूर्व ईसा)—साहित्यिक प्रतिभा में युरिपाइडीज भी साफ़ोक्लीज से कम न थे। उनका जन्म एक सम्पन्न परिवार में हुआ था और बाल्यावस्था में ही वे प्रख्यात तर्कशास्त्र-वेत्ता सुकरात के शिष्य बन गए थे। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने साहित्य क्षेत्र में पदार्पण किया। परन्तु इन्हें बहुत बाद में ख्याति मिली। उन्होंने एक सौ के क़रीब नाटक लिखे थे परन्तु उनमें केवल अठारह ही प्राप्त हैं। यद्यपि उन्होंने काव्य-प्रतियोगिता में चार बार पारितोषिक पाया फिर भी वे अपने नगर एथेन्स में लोकप्रिय न हो सके। अपने जीवन के अन्तिम भाग में वे निर्वासित हुए और मेसिडोनिया में जाकर बस गए।

साफ़ोक्लीज़ के समान युरिपाइडीज ने भी सहगायकों के महत्त्व को बहुत अधिक मात्रा में घटाया। यद्यपि ईस्किलस ने यह काम आरम्भ किया था परन्तु युरिपाइडीज ही ने इसे पूर्ण किया। इसके पश्चात् उन्होंने नाटकों की कथावस्तु में बहुत क्रान्तिकारी परिवर्तन किया। कथावस्तु में उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक प्रश्नों पर मौलिक रूप से विचार करना शुरू किया। प्राचीन पौराणिक गाथाओं का विश्लेषण उन्होंने वैज्ञानिक रूप से किया। अपने राजनीतिक तथा तर्कपूर्ण विचारों के कारण उन्होंने अन्य कलाकारों को क्रुद्ध कर दिया। परन्तु जितने भी दु:खान्तकी के लेखक यूनान में हुए युरिपाइडीज ही उनमें सर्वश्रेष्ठ थे। उनमें दु:खान्तकी रचना की श्रेष्ठ प्रतिभा थी; वे उसकी वास्तविक आत्मा से परिचित थे।

युरिपाइडीज़ अपने सिद्धान्तों में पूर्णतया मौलिक हैं और उनके सिद्धान्तों में आधुनिक काल की आत्मा है। उन्होंने जातीय रूढ़ियों और अन्धविश्वास को तिलांजलि देकर कलापूर्ण रूप से ही

दुःखान्तकी की रचना की। उन्होंने कथावस्तु में सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों पर प्रकाश डाल कर दुःखान्तकी की आत्मा में क्रान्ति मचा दी।

यूनान के तीन श्रेष्ठ नाटककारों को रंगमंच की असुविधाओं के कारण अपनी कला को अनेक रूप से सवारने का संयोग न मिला। यूनानी रंगमंच पर सरकारी अनुशासन था और सरकार उसके प्रयोग और नाटकों के प्रदर्शन पर कड़ा नियंत्रण रखती थी। रंगमंच की बनावट तथा उसको सजाने का काम भी अत्यन्त कठिन था। इससे लेखकों को बड़े सावधानी की आवश्यकता रहती थी।

यूनानी केवल स्थायी रंग-मन्च बनाते थे इससे उनके दृश्यों में भी विशेष रूप से विभिन्नता न होती थी। इसके फलस्वरूप कार्य-सम्पादन और संवाद में अरोचकता आने का डर था। इसके साथ साथ सरकार ने नाटक लिखने और उनके खेलने के नियम बना दिये थे जिन्हें प्रत्येक लेखक को मानना पड़ता था।

यूनानी रंगमंच वास्तव में राष्ट्रीय रंगमंच था। जब कोई नाटककार नाटक प्रदर्शित करना चाहता था तो उसे अपने नाटक की पाण्डुलिपि सरकारी आलोचकों को देकर उनकी अनुमति ग्रहण करनी पड़ती थी। ये सरकारी आलोचक उन नाटकों को जब देशहित के उपयुक्त समझते तभी अपनी अनुमति देते। जब कोई नाटक उनके द्वारा उपयुक्त समझा जाता तो उसकी सूचना लेखकों को मिलती थी और सरकार ही सहायकों की योजना बनाती थी। नाटककार तब पात्रों को उनका पाठ सिखलाते थे और उनको भाव-प्रदर्शन की शिक्षा देते थे। इसके लिए कुछ विशेष योग्यता प्राप्त मनुष्य भी रहा करते थे जो पात्रों के सिखलाने का भार ले लेते थे जिसके फलस्वरूप कुछ लोग धीरे-धीरे नाट्य-प्रदर्शन का व्यवसाय भी करने लगे। आधुनिक काल के सिनेमा तथा उसके प्रदर्शन में सरकारी अनुमति ग्रहण करने की पद्धति इसी प्राचीन नियंत्रण का अनुकरण है। इस व्यवस्था के द्वारा

उन प्रदर्शनों को सरकार स्वीकृत नहीं करती जिससे राष्ट्र का किसी प्रकार से अहित हो।

यूनान में जब जब ये नाटक रंगमंच पर खेले जाते थे जनता दूर दूर से और बड़े चाव से उन्हें देखने आती थी। ये नाटक एथेन्स में ही प्रदर्शित होते थे और अनेक उपनिवेशों के लोग उन्हें देखने के लिए इकट्ठे होते थे। उस समय एथेन्स एक तीर्थ बन जाता था। प्रत्येक वर्ष तीन राष्ट्रीय उत्सवों पर नाटक खेले जाते थे और उपनिवेशों के लिए वहाँ पहले से ही स्थान नियत रहते थे। इस राष्ट्रीय रंगमंच की मर्यादा की रक्षा राष्ट्र के सभी लोग एकमत से करते थे। कवियों और नाटककारों पर राष्ट्र के हित और उत्थान का भार था, इसलिए वे अपने निजी विचार नाटकों में नहीं रख सकते थे। उनको उन्हीं विचारों और आदर्शों को लोकप्रिय बनाने का अधिकार था जिससे राष्ट्र की उन्नति हो। यूनानी नाटक केवल आधुनिक नाटकों की तरह मनोरंजन की सामग्री न थे। उनके द्वारा मनोरंजन तो कम परन्तु धार्मिक श्रद्धा प्रचार अधिक होता था। वे डायोनिसियस की पूजा अर्चना के साधन थे। फलतः वे केवल राष्ट्रीय उत्सवों पर ही खेले जाते थे।

यूनान में तीन राष्ट्रीय उत्सव मान्य थे। पहला 'दि सिटी डायोनिसियैक' अथवा 'नागरिक पूजा' जो अप्रैल मास में होती; दूसरा 'लिनिया' अथवा 'सुरादिवस पूजा' जो जनवरी मास के दूसरे भाग में और तीसरा 'रूरल डायोनिसिया' अथवा 'ग्रामीण पूजा' जो दिसम्बर महीने में होती थी। इनमें सबसे मुख्य और महत्वपूर्ण उत्सव 'नागरिक पूजा' था जो डायोनिसियस के देवमन्दिर के निकट होता था। इस रंगशाला के भग्नावशेष अब भी हैं। यहीं पर दुःखान्तकी, सुखान्तकी तथा नृत्यगीत प्रदर्शित होते थे जिनसे समाज में राष्ट्रीय भावना जाग्रत होती थी।

रोमीय दुःखान्तक-सिद्धान्त—रोम के नाटककारों ने नाटक रचना में मौलिकता न दिखलाई। उन्होंने केवल यूनानी नाटककारों का अनुकरण

किया और उन्हीं के ढाँचे को अपना कर कुछ निम्नकोटि के नाटकों की रचना की। रोमीय लेखकों में केवल सेनेका उल्लेखनीय है। उन्होंने दुःखान्तकी की आत्मा को न तो पहचाना और न उसका समीचीन प्रयोग ही किया। रोमीय राष्ट्र के सम्मुख साधारणतः राजनीतिक तथा साम्राज्यवादी प्रश्न थे और जिन-जिन नियमों द्वारा रोमीय समाज की शिक्षा दीक्षा होनी चाहिए थी उन्हीं का उपयोग सेनेका ने अपने नाटको में किया है। उन्होंने एक विशेष प्रकार की सामाजिक तथा राजनीतिक नैतिकता का प्रसार अपने नाटकों मे किया जिसके कारण उनमें दुःखान्तकी की आत्मा मृत प्राय हो गई है। मध्ययुग के पूर्वार्द्ध में दुःखान्तकी की यही हीन दशा रही। धीरे-धीरे ईसाई पादरी इसके विरोधी होते गए और उन्होंने नाटकों को पाप के प्रसार का साधन घोषित कर नाटककारों को देश निकाला दे दिया। करीब तीन शताब्दियों तक नाट्य साहित्य की रचना नहीं हुई। यूरोप पर अन्धकार युग पूर्ण रूप से छा गया था।

मध्ययुग की नाट्य शैली—मध्ययुग उत्तरार्द्ध में दुःखान्तकी को फिर से जीवन दान मिला। क्रमशः ईसाई पादरियों का विरोध घटने लगा और इसाई धर्म से रूढ़ि-वादी विचारों तथा सिद्धान्तो के प्रचार के लिए नाटक अपनाए जाने लगे। पादरियों के धार्मिक व्याख्यान नीरस और शुष्क होते थे और उन्हे रुचिकर बनाने के लिए उनको नाटको का सहारा ढूँढ़ना पडा। साधारण समाज न तो ईसाइयो के धार्मिक विचारों की परवाह करता था और न पादरियो के व्याख्यानों को श्रद्धापूर्वक सुनता था इसीलिए पादरियो ने नाटको के सर्वव्यापी प्रभाव को समझ कर फिर से गिर्जाघरों में नाटको के प्रदर्शन का आयोजन किया।

पहले पहल जो नाटक गिर्जाघरो में खेले गए वे ईसा के जीवन से सबंध रखते थे।[1] ईसा का जन्म, उनकी इश्वरीयता, उनके धर्मकार्य

[1] देखिये 'अंगरेज़ी साहित्य का इतिहास' (नाटक खण्ड)

सत्र पर ये नाटक प्रकाश डाल कर जनता को धर्म की ओर अग्रसर करने का प्रयास करते थे। इसके पश्चात् पादरियों ने ईसाई सन्तों की जीवनी के विषयों पर नाटक खेलने की अनुमति दी। सन्तों के धार्मिक कार्य, उनके आश्चर्यपूर्ण तथा लोकरंजक काम, सब का लेखा इन नाटकों में रहता था जिससे जनता के मनोरंजन के साथ-साथ उनका धार्मिक शिक्षण भी होता था। यदि वास्तव में देखा जाय तो इन नाटकों में (जिनकी संख्या काफ़ी बढ़ी चढ़ी थी) दुःखान्तकों के तत्त्व कोई भी नहीं है और न उनमें कोई आकर्षण ही है।

मध्ययुग दुःखान्तक-सिद्धान्त—मध्ययुग के कलाकारों को दुःखान्तकी के कुछ थोड़े से ही तत्व मालूम थे। उनके लिए किसी श्रेष्ठ और सम्पन्न मनुष्य का आकस्मिक भाग्य-परिवर्तन ही दुःखान्तकी का आधार था। इस भाग्य-परिवर्तन को देखने के पश्चात सहानुभूति, करुणा और भय, तीनों का संचार मन में होता है। उनके विचारों के अनुसार मनुष्य भाग्य के हाथों में खिलौना मात्र है। भाग्य जैसे चाहे वैसे उसको बना बिगाड़ सकता है। भाग्य एक ऐसी रहस्यमय शक्ति है जो कुछ देर तक तो मनुष्य को सुखी देख सकती है परन्तु शीघ्र ही उसका पतन करा देती है। मध्ययुग-समाज के ये विचार वास्तव में निराशावादी हैं।[१]

३

आलोचना सिद्धान्त

साधारण रूप से नाटक-रचना एक कला है। यूनान देश के प्रथम आलोचक अरस्तू ने कला की परिभाषा में कहा है कि 'समस्त कला अनुकरण मात्र है'। उनका मतलब इस परिभाषा से यह था कि

---

१ देखिए—'काव्य की परख'

कलाकार जीवन के विशद विस्तार को देखता है। जीवन के कुछ अंग उसको आकर्षित करते हैं। वह अपनी लेखनी अथवा कूँची उठाकर शब्दों अथवा रंगों के प्रयोग से कविता रच देता है अथवा चित्र खींच देता है। इस कविता अथवा चित्र में उसी जीवन की परछाँई अथवा प्रतिबिम्ब है जिसको कवि या चित्रकार ने पहले देख कर पसन्द किया था। दूसरे शब्दों में वह कविता अथवा चित्र जीवन का अनुकरण है। इसी तरह संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला नृत्यकला केवल अनुकरण द्वारा ही विकसित हुए हैं। यूनान के एक दूसरे आलोचक और दार्शनिक अफ़लातूँ ने इस परिभाषा की आलोचना की। उन्होंने कहा कि जब सब कलाएँ केवल अनुकरण मात्र हैं तो वे झूठ और मिथ्यावाद का प्रचार करती हैं, इसलिए कलाकारों को सभ्य समाज से दूर ही रखना चाहिए। अफ़लातूँ का विचार था कि मूल रूप में संसार की सारी वस्तुएँ केवल ईश्वर के मस्तिष्क में हैं। संसार की सारी चीजें उसी मूल रूप का प्रतिबिम्ब मात्र हैं। जब कलाकार सांसारिक जीवन का अनुकरण करते हैं तो वे मूल रूप के प्रतिबिम्ब का अनुकरण करते हैं। इस तरह वे मूल रूप से और भी दूर जा पहुँचते हैं।

इस आलोचना का उत्तर अरस्तू ने बड़ी समझदारी से दिया। उन्होंने कहा कि यह माना कि कलाएँ केवल अनुकरण करती हैं, परन्तु यह अनुकरण वास्तव में मूल रूप से ही संबंधित है, चाहे वह संबंध कितने भी दूरी का क्यों न हो। इसलिए कलाओं और कलाकारों को सभ्य समाज में रहने का अधिकार है। उन्होंने यह भी कहा कि कला में न तो मिथ्यावाद है और न निस्सारता। उसमें भी सत्य का स्थान है; परन्तु यह सत्य, इतिहास की घटनाओं के समान नहीं, वरन् उनमें कल्पना जगत की सत्यता है।[1] इन सिद्धान्तों से यह

१ देखिए—'काव्य की परख'

निष्कर्ष निकलता है कि नाट्यकला एक कल्पनापूर्ण अनुकरण है जो जीवन के सुन्दरतम अंगों का कलात्मक वर्णन करती है। कुछ आधुनिक आलोचकों ने अरस्तू के सिद्धान्त को भ्रममूलक सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनके अनुसार अरस्तू ने जीवन के दो कृत्रिम भाग—'वास्तविक' और 'कल्पनात्मक'—बना लिए हैं जिससे उनकी आलोचना अपूर्ण है और उनका सिद्धान्त भी भ्रममूलक हो गया है। यदि अरस्तू का सिद्धान्त मान लिया जाय तो शेक्सपियर रचित 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' के कोटि के नाटकों को कला में कोई स्थान नहीं मिलेगा क्योंकि ऐसे नाटकों की वस्तु तो पूर्णतया कल्पना के संसार में है। उसके समस्त मुख्य पात्र दूसरे जगत् के प्राणी हैं।

अरस्तू के पश्चात् इटली के पुनर्जीवन काल में नाट्यकला के कुछ नए सिद्धान्त बनाए गए। अरस्तू की आलोचना सिद्धान्त की पुस्तक 'पोएटिक्स' को लोग भूल गये। आलोचकों ने साहित्य के बहुत से अरबी अनुवादों का अध्ययन किया जिसके फलस्वरूप कास्टेलवेट्रो ने एक नया सिद्धान्त बनाया। उनके अनुसार 'कला का बीज भ्रम में है।' कलाकार अपनी कला से एक भ्रमजाल प्रस्तुत करता है जिससे हमें आनन्द मिलता है। इस भ्रमजाल में पड़ कर हमारा तर्क सुप्त हो जाता है। हम जो कुछ अपने सामने देखते हैं उसी को सत्य मान लेते हैं।

कास्टेलवेटरो के सिद्धान्त में भी अपूर्णता है। शायद वे यह भूल गए कि भ्रमजाल सब मनुष्यों को समान रूप से प्रभावित नहीं कर सकता। यदि हम प्रभावित हो जायँ तो सदैव के लिए वह प्रभाव नहीं रह सकता। यह केवल कुछ ही समय के लिए रह सकता है। इसके साथ-साथ यह भी सही है कि विविध मनुष्यों पर भ्रमजाल का प्रभाव विभिन्न रूप से पड़ता है। इसलिए हम कोई ऐसा भ्रमजाल नहीं निर्मित कर सकते जिसका प्रभाव सब मनुष्यों पर समान रूप से सदा के लिए पड़े। इस सिद्धान्त की यह सबसे भारी कमी है।

फ्रांसीसी आलोचक ब्रूनेलर के अनुसार नाटक का आधार दो इच्छा-शक्तियों का द्वन्द्व है। किसी एक व्यक्ति की दो इच्छाओं, अथवा दो व्यक्तियों की इच्छाओं अथवा एक व्यक्ति की इच्छा और एक वर्ग समूह की इच्छा के द्वन्द्व के फलस्वरूप नाटक का जन्म होता है। कभी-कभी किसी एक व्यक्ति विशेष की इच्छा भी घटनाओं अथवा अड़चनों से टकरा कर द्वन्द्व उपस्थित कर नाटक को जन्म दे सकती है। जिस किसी भी नाटक में यह द्वन्द्व नहीं वह नाटक नहीं कहा जा सकता। इस सिद्धान्त का साहित्य में बहुत मान रहा है।

कुछ दूसरे आलोचकों ने भी इसी सिद्धान्त को मान कर अपनी ओर से टीका-टिप्पणी की है। इनका कहना है कि नाटक में द्वन्द्व तो अवश्य होना चाहिए, परन्तु वह द्वन्द्व विस्तृत अथवा विशाल न होकर एक केन्द्र पर स्थित होना चाहिए। जितना ही यह द्वन्द्व घटनाओं और अड़चनों अथवा अन्य इच्छा शक्तियों से सम्मिलित रहेगा उतना ही वह आकर्षक तथा दर्शकों का हृदयग्राही होगा। द्वन्द्व ऐसा होना चाहिए जो ज्यों-ज्यों नाटक का अन्त पास आए उतनी ही तीव्रता से वह संशयपूर्ण द्विविधा तथा रंजकता प्रदान करे।

इसी के आधार पर कुछ आलोचकों ने नाटकों में आपदकाल[1] की आवश्यकता बतलाई है। जब द्वन्द्व एक केन्द्र पर पहुँच जाता है और जब यह सम्भावना होती है कि अब सारा खेल बना या बिगड़ा तो उसी समय आपदकाल का भी जन्म होता है। यदि नायक आपदकाल झेल गया तो उसकी सफलता है और यदि आपदकाल में उसकी हार हुई तो उसकी विफलता है। इसी सफलता और विफलता के आधार पर सुखान्तकी[2] और दुःखान्तकी[3] की रचना हुई है।

---

१ क्राइसिस अथवा कैटसट्रफ़ी

२ कामेडी ३ ट्रैजेडी

उपरोक्त आलोचकों के सिद्धान्तों का सारांश यह निकला कि नाटक एक अनुकरणात्मक कला है जो जीवन का कल्पनापूर्ण अथवा भ्रमजालमय प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करती है और इस प्रदर्शन में सीमित तथा केन्द्रीभूत इच्छा शक्तियों के द्वन्द्व में नाटक की आत्मा का प्रस्फुटन होता है।

२

द्वितीय खण्ड

दुःखान्तकी

१

दुःखान्तकी की आत्मा

प्राचीन काल में यों तो कई नाटककारों ने नाटक रचना की परन्तु किसी ने भी दुःखान्तकी की आत्मा का विश्लेषण नहीं किया। बाद के दर्शनज्ञों और तत्ववेत्ताओं ने ही इस वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रयास किया है। उन्होंने उस समय के नाटकीय तत्वों को आधार मान कर कुछ सिद्धान्त ढूँढ निकाले और नवीन परिभाषाएँ बनाईं।

वास्तव में दुःखान्तकी की आत्मा और करुण रस मे आत्मिक सम्बन्ध जान पड़ती है अथवा ये दोनों साथ ही साथ रहते हैं। करुण रस का जब प्रादुर्भाव होता है तो उसके साथ-साथ मानव की अन्य अनुभूतियाँ भी वही रस ग्रहण कर लेती हैं और हम और दुःखी व्यक्ति एक ही वर्ग अथवा श्रेणी के जीव हो जाते हैं। उदाहरण के लिए जब हम किसी मनुष्य को फाँसी पर लटकते देखें तो हम में गहरी सहानुभूति और करुणा इसलिए होगी कि हम मनुष्य की हैसियत से दूसरे मनुष्य की हत्या देख रहे हैं। परन्तु इसके विपरीत जब हम किसी अन्य जीवधारी को कष्ट में देखते हैं तो हममें सौहार्द की भावना न आकर केवल करुणा की भावना इसलिए प्रकट होती है कि वह जीवधारी हमसे निम्न कोटि का प्राणी है। इसके विपरीत जब हम किसी दैवी घटना के द्वारा मनुष्य को पीड़ित देखते हैं तो हममें अपनी हीनता का भाव जाग्रत होता है; तब हम हताश अथवा अवाक होकर दुर्घटनाएँ देखते हैं और ऐसी भावना में ही दुःखान्तकी की आत्मा निहित रहती है।

जर्मन दर्शनज्ञ हेगेल ने दुःखान्तकी की आत्मा का विश्लेषण दो भागों में किया है। पहले भाग में धार्मिक दृष्टिकोण है और दूसरे में

सौन्दर्य-कला का दृष्टिकोण। हेगेल के विचार से दुःखान्तकी का आधार दोष अथवा अनैतिकता है और उसका संबंध मनुष्य के आचरण से है। दुःखान्तकी की आत्मा इन अनैतिक दोषों का हल ढूँढती है। इसी हल के ढूँढने में हमें ईश्वर के आचरण की भी मीमांसा करनी पड़ती है तथा ईश्वर और मनुष्य के संबंध में हमें अपने विचार प्रदर्शित करने पड़ते हैं। आदि से अन्त तक दुःखान्तकी की आत्मा एक समान रहती है।

दुःखान्तकी की आत्मा का पहला तत्व ईश्वर और मानव के संबंध का अस्पष्ट रहस्य है। जब हम दुःखान्तकी देखते हैं तो अन्त में यही रहस्यपूर्ण समस्या हमारे सामने रहती है। हम कर्त्ता का कारण से संबंध जानना चाहते हैं। हम कर्त्ता का घटनाओं से संबंध जानना चाहते हैं। हम कर्त्ता के प्रत्येक कार्य का रहस्यमय भेद समझना चाहते हैं; मगर हम सफल नहीं होते। इसी रहस्य में दुःखान्तकी की आत्मा प्रस्तुत रहती है।

इसके साथ-साथ दुःखान्तकी की आत्मा यह सिद्धान्त रूप से मान लेती है कि संसार में नैतिकता है। मनुष्य नैतिक आचरण-वाला प्राणी है और उसका उद्देश्य अनैतिकता से बचकर जीवन-यापन करने का है। इस नैतिक प्राणी में जब कोई दोष अथवा अवगुण समा जाता है तो दुःखान्तकी की आत्मा मानव-चरित्र-क्षेत्र में इसी दोष की प्रगति देखती रहती है; उसका लेखा रखती है और उसकी अन्य क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं पर दृष्टि रख कर, उस दोष के शमन और उस अवगुण के ऊपर विजयप्राप्ति की समस्या को हल करने का प्रयास करती है।

सिद्धान्त रूप से, मृत्यु दुःखान्तकी का मूलाधार है। बिना मृत्यु के दुःखान्तकी का निर्माण असंभव है। यह मृत्यु ही दोष अथवा अवगुण पर विजय पाने का सर्वोत्तम साधन है और यह मृत्यु किसी भी रूप में और किसी भी वेष में प्रस्तुत की जा सकती है—चाहे वह

शारीरिक हो, मानसिक हो अथवा आध्यात्मिक हो।

पूर्व में, विशेषतः भारतवर्ष में दुःखान्तकी लिखने की पद्धति नहीं थी। पूर्व की सामाजिक आत्मा इसके विरुद्ध रही। इसके दो कारण थे। पहला तो इससे जनता में ईश्वर के प्रति अश्रद्धा और ईश्वरीय अनुशासन के प्रति घृणा उत्पन्न होने का डर था। इसीलिए यद्यपि बहुत से प्राचीन संस्कृत नाटक दुःखान्तकी के समीप पहुँच तो जाते हैं मगर मृत्यु का आधार नहीं लेते। दूसरे इन लेखकों ने आध्यात्मिक दृष्टि से मृत्यु की महत्ता बिलकुल ही घटा दी थी और उनके विचार से मृत्यु जीवन का अन्त न कर आध्यात्मिक और ईश्वरीय जीवन का द्वार खोलती है; फलतः इस भावना से दुःखान्तकी का निर्माण नहीं हो सकता। पश्चिमी देशों ने पहले पहल दुःखान्तकी को अपनाया। यूनानी तथा रोमीय लेखकों ने ही इसकी प्रथा चलाई। यूनानी ही इसमें अग्रगण्य थे और रोमीय केवल उनके अनुकर्त्ता। यूनानी दुःखान्तकी के किन तत्वों को समझते थे इसका अध्ययन सहगायकों के वक्तव्यों से ही स्पष्ट होता है।

२

दुःखान्तकी के तत्त्व

पहले पहल अरस्तू ने ही दुःखान्तकी की परिभाषा बना कर उसके विविध तत्वों का साहित्यिक विवेचन किया है। यद्यपि उनके सम्मुख बहुत से नाटक लिखे न गए थे फिर भी अपनी मौलिक तथा साहित्यिक सूझ के कारण उन्होंने दुःखान्तकी की समुचित व्याख्या की है। अरस्तू के विचार से दुःखान्तकी किसी गम्भीर, महत्त्वपूर्ण तथा विशाल कार्य का रंगस्थल पर अनुकरण है जो भाषा के माध्यम से सौन्दर्ययुक्त तथा आनन्ददायी बन कर भय और करुणा

द्वारा हमारी मानवी-भावनाओं की अति का परिमार्जन करती है। सम्पूर्ण कार्य से तात्पर्य ऐसे कार्य से है जिसका आदि, मध्य और अन्त पूर्णरूप से सुगठित रहे और विशाल कार्य से तात्पर्य ऐसे ढाँचे से है जो न तो बहुत बड़ा हो और न बहुत छोटा।

अरस्तू ने प्रत्येक दुःखान्तकी के ६ विशेष तत्व गिनाएँ हैं—कहानी, पात्र, भाषा, विचार, सजावट और संगीत। कहानी से तात्पर्य उस गाथा से है जिसे दर्शक जानते हैं परन्तु वस्तु से तात्पर्य उस तत्व से है जो केवल लेखक के मन में रहता है और दर्शक वृन्द उससे पूर्णतया परिचित नहीं रहते। अरस्तू के अनुसार वस्तु ही दुःखान्तकी की आत्मा है। इसके बाद पात्र, भाषा, विचार तथा सजावट की महत्ता है। संगीत का भी महत्व कुछ कम नहीं परन्तु सजावट तो बिलकुल बाहरी वस्तु है; और यद्यपि इसका प्रभाव दुःखान्तकी की आत्मा पर बहुत अधिक पड़ता है फिर भी दुःखान्तक-कला से इसका कोई आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है। वस्तु के आदि, मध्य और अन्त पूर्णतया सुगठित होने चाहिए और इसके किसी भी भाग में अव्यवस्था न होनी चाहिए। इस सिद्धान्त से मतलब यह है कि यदि वस्तु से कहीं पर कोई भी स्थल निकाल कर अलग कर लिया गया तो सम्पूर्ण वस्तु अव्यवस्थित हो जायगी और नाटक की कार्य-सिद्धि न होगी। सैद्धान्तिक रूप से वस्तु दो प्रकार की हो सकती है—सरल तथा मिश्रित। सरल वस्तु में किसी प्रकार का यकायक उलट फेर या आकस्मिक परिवर्तन न होकर उद्देश्य की सिद्धि होती है। मिश्रित वस्तु मे आकस्मिक परिवर्तन तथा पात्रो में नवीन चेतनता और अनुभव निहित रहते हैं।

अरस्तू के नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार पात्र में चार गुण होने चाहिए—

(१) श्रेष्ठता (२) भाषा प्रयोग की स्वाभाविकता (३) साधारण मानवता तथा (४) समरूपता।

नाटकों के पात्र श्रेष्ठ होने चाहिए जिससे अभिप्राय यह है कि वे निम्न कोटि के अथवा हत्यारे और दुर्जन नहीं हो सकते। इन पात्रों को वही भाषा बोलनी चाहिए जो इनके वर्ग और श्रेष्ठता के अनुकूल हो। उनमे साधारण मनुष्यों के समान यथोचित कार्य करने की क्षमता अनिवार्य होगी और उनके चरित्र अथवा कार्य शैली में आकस्मिक विशृङ्खलता न होकर समरूपता होनी चाहिए।

इन गुणों के साथ पात्रो के चरित्र विशेष द्वारा ही दुःखान्तकी का कार्य सम्पूर्ण होना चाहिए; हाँ, घटनाओ पर भी उसका दायित्व रह सकता है परन्तु मूल दायित्व पात्र के ऊपर ही होना चाहिए। नाटककार का मुख्य उद्देश्य, पात्र को पार्थिव जगत से ऊपर उठा कर, एक उच्चस्तर पर रख कर, वस्तु निर्माण है। प्रत्येक दुःखान्तकी के निर्माण में वस्तु के विविध अंगों को एकत्र कर, आपदकाल की सीमा को पार कर उसे मानवी-प्रश्नों का हल प्रस्तुत करना चाहिए।

दुःखान्तकी का प्रभाव—दुःखान्तकी के प्रभाव पर भी अरस्तू ने अपने विचार मौलिक रूप से प्रकट किए हैं। दर्शकों पर दुःखान्तकी का प्रभाव कब और कैसे पड़ता है इसका उन्होंने वैज्ञानिक रूप से अपनी पुस्तक[1] में विवेचन किया है। वास्तव में यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दुःखान्तकी का समुचित प्रभाव तभी पड़ता है जब—

(१) दोनों प्रतिद्वन्द्वी पक्ष मित्र, संबंधी अथवा हितचिन्तक हों परन्तु एक दूसरे के शत्रु न हों।

(२) दोनों पक्षों का संबंध प्रकट और स्पष्ट न होकर गुप्त हो अथवा

(३) कार्य सम्पादन होते होते यह गुप्त संबध स्पष्ट हो जाय।

इन उपरोक्त सिद्धान्तों के फलस्वरूप दुःखान्तकी की वस्तु के दो

---

१ पोएटिक्स

स्पष्ट-विभाग हो जाते हैं। पहला है वस्तु की आपदकाल तक प्रगति और दूसरा उसकी जटिलता का समाधान।

मानव-हृदय पर दुःखान्तकी के प्रभाव का आधार अरस्तू ने चिकित्साशास्त्र का सिद्धान्त माना है। जिस प्रकार निपुण वैद्य रेचक औषधियों से मनुष्य के शरीर को शुद्ध कर देते हैं और शरीर के अन्दर की उष्णता दूर कर शरीर नीरोग करते हैं उसी प्रकार से श्रेष्ठ नाटककार दर्शकों और पाठकों की आत्म-शुद्धि, भय और करुणा के संचार से करते हैं। इस भय और करुणा का संचार नायक की अंतिम दशा के फलस्वरूप होता है। नायक का पतन ही दुःखान्तकी का मूलाधार है। प्रत्येक दुःखान्तकी का नायक श्रेष्ठ, चरित्रवान, नैतिक, निष्पक्ष, निष्कपट तथा विचारशील होता है परन्तु इन गुणों के साथ उसके चरित्र में केवल एक दोष रहता है। इस दोष अथवा अवगुण को हम एकांगी दोष कह सकते हैं। यह एकांगी दोष उसकी चित्तवृत्ति में अथवा विचार में हो, नैतिक सिद्धान्त अथवा आदर्श में हो और चाहे उसके चरित्र में किसी समय भी प्रगट हो उसकी करुण दशा तथा पतन का मूल का कारण होता है। इसी दोष के कारण वह केवल अपने ही जीवन का अन्त नहीं करता वरन अपने मित्रों, संबंधियों और जिन जिन से उसका लगाव रहता है सबको दुःख पहुँचाता है और कभी कभी उनकी हत्या भी कर बैठता है। जब दर्शक दुःखान्तकी देख चुकता है तो स्वभावतः उसके हृदय में दो विशेष भावों का प्रादुर्भाव होता है। पहला भाव करुणा का होता है और दूसरा भय का। इन भावों की जागृति का कारण मनोवैज्ञानिक है।

जब हम रंगस्थल पर एक श्रेष्ठ, चरित्रवान, निष्ठापूर्ण, नैतिक, सुन्दर, स्वस्थ, विचारशील नायक का पतन देखते हैं तो हमारे हृदय में घोर करुणा का संचार होता है। स्वभावतः हममें करुणा का भाव रहता भी है और जब हममें अधिक करुणा जाग्रत होती है तो हम दुःखी, उदास तथा म्लान हो जाते हैं। परन्तु जब हम दुःखान्तकी

देख चुकते हैं तो विशेष मात्रा मे करुणा का संचार हममें होता है; और उसके साथ ही साथ हमारी स्वाभाविक करुणा की मात्रा सामञ्जस्य स्थापित करना चाहती है। फलतः यदि हममें अधिक अंश में करुणा हुई तो उसका परिमार्जन तथा संशोधन होता है और हममें उतनी ही करुणा की मात्रा रह जाती है जो हमे उदास तथा म्लान नहीं बना सकती। उसकी मात्रा केवल उतनी ही रहती है जितनी हमको स्वाभाविक तथा साधारण रूप से मनुष्य बनाए रखने के लिए उचित होती है। जिस प्रकार विरेचन ओषधि हमारे शरीर को शुद्ध करती है उसी प्रकार दुःखान्तकी हमारी करुणा का संशोधन करती है।

परन्तु साधारणतः करुणा के बाद ही अथवा साथ ही साथ भय का भी संचार होता है। क्योंकि जब हम इतने श्रेष्ठ और विचारशील नायक की विफलता देखते हैं तो हमारे मन में यह भय उत्पन्न होता है कि हमारा गर्व, जो अपने पर हम किया करते हैं, न जाने कब और कैसे चूर होकर मिट्टी में मिल जाय। गर्व मे मत्त होकर हम क्रूर तथा राक्षस बन जाते हैं। दुःखान्तकी के अन्त को देखते-देखते हमारे गर्व के अति का संशोधन हो जाता है। इस संशोधन में, कुछ लेखकों के मत के अनुसार, हमारी कायरता का भी परिमार्जन होता है। स्वभावतः मनुष्य में भय की भावना हर समय रहती है। जीवन का लोभ हमें सदैव कायर बनाता चलता है और जब हममें भय की मात्रा बहुत बढ़ जाती है तो हमें कायरता पूर्ण-रूप से घेर लेती है और हम कर्त्तव्य-हीन तथा निश्चेष्ट बन जाते हैं। परन्तु दुःखान्तकी जब भय रूपी-ओषधि हमें और अधिक मात्रा में दे देती है तो हमारी-मूल भय की भावना में खलबली मच जाती है और धीरे-धीरे हमारी भय की भावना की अति का शमन हो जाता है। कुछ दूसरे आलोचकों का कथन है कि दुःखान्तकी देखने के फलस्वरूप केवल हमारी दो ही भावनाओं का परिमार्जन नहीं होता बल्कि हमारी सम्पूर्ण आत्मा का संशोधन होता है और वह शुद्ध हो जाती है। तत्पश्चात

उसमें नैतिक तथा आध्यात्मिक सत्य और भी दृढ़ रूप से अपना स्थान बना लेते हैं।

अरस्तू के सिद्धान्तों का यदि हम वैज्ञानिक विश्लेषण करें तो हमे उनके साहित्यिक विचारों की यथार्थता का बोध हो जायगा। पहले तो यह स्पष्ट ही है कि अरस्तू ने कला को नैतिकता तथा आध्यात्मिकता और राजनीति तीनों से संबधित कर दिया है और दूसरे उनका चरित्र-संशोधन सिद्धान्त वास्तव में चिकित्सा-शास्त्र के रेचक सिद्धान्त पर ही स्थित है। परन्तु इसके साथ-साथ यह भी जान लेना जरूरी है कि अरस्तू का अभिप्राय दुःखान्तकी से आत्मिक अथवा आध्यात्मिक संशोधन न होकर (जैसा कि कुछ आलोचकों का मत है) केवल भावनाओं की अति का ही सशोधन मात्र है। इसका एक विश्वस्त प्रमाण यूनानी जीवन-सिद्धान्त में मिलता है।

यह देखा गया है कि जब से मनुष्य में तर्क और लालसा के भाव उदय हुए उसे उसी समय से एक द्वन्द्व का सामना करना पड़ रहा है। तर्क उसकी आत्मा की आवाज़ है; लालसा है उसके शरीर गा आवाहन। और आज तक मानव-समाज इन दोनों पन्थों द्वारा सत्य-मार्ग ढूँढ रहा है। दर्शनज्ञों का आदेश है—'लालसा का दमन करो और अध्यात्मिकता के आगे घुटने टेको'। इसके विपरीत सौंदर्य विज्ञान विशारदों का निर्देश है—'आत्मा के नीरस पथ का त्याग करो! शरीर को प्रफुल्ल, तेज-पूर्ण, सन्तुष्ट और सौंदर्यपूर्ण बनाओ क्योंकि इसी में आत्मा का निवास है!' पहला आदेश मनुष्य को ससार से विमुख और दूसरा उसमें लिप्त करता है। यूनानियों के सम्मुख इन दोनों विरोधी भावों मे सामञ्जस्य प्रस्तुत करने का जटिल प्रश्न था। अरस्तू ने इस प्रश्न का हल सहज ही में ढूँढ़ निकाला और यही हल समस्त यूनानी समाज ने भी ग्रहण किया। यूनानियों ने दोनों सिद्धान्तों को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ग्रहण कर लिया। उन्होंने जीवन की सम्पूर्णता को समझ कर न तो केवल अध्यात्मवाद की

दुन्दुभि बजाई और न सौंदर्यवाद को ही लेकर जीवन यापन किया; वरन् उन्होंने दोनों के समुचित सम्मिश्रण में ही जीवन की सार्थकता देखी। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं यूनानियों ने डायोनिसियस की उन्मत्तता तथा एपालो की मर्यादा-प्रियता दोनों का सहज समन्वय कर लिया वैसे ही उन्होंने जीवन के इन दोनों—इबरानी तथा यूनानी सिद्धान्तों में सामञ्जस्य स्थापित कर लिया। उनके विचारों में राज-नीति के नरम दल की छाया देख पड़ती है। किसी भी विचार अथवा भावना में अति किसी प्रकार की भी न हो यही उनका मूल सिद्धान्त था। अपने अनुभव से उन्होंने जान लिया था कि दोनों भावनाओं के समन्वय में ही जीवन की संपूर्णता है इसीलिए उन्होंने आत्मा तथा सौंदर्य, तर्क तथा इच्छा, अध्यात्म तथा यथार्थ दोनों के समुचित समन्वय द्वारा एक आकर्षक जीवन-सिद्धान्त का निर्माण किया।

इस सिद्धान्त के फल स्वरूप हमें दुःखान्तकी के प्रभाव को समझने मे सरलता होगी। यूनानियों को डायोनिसियस के त्योहारों में लालसा, उन्मत्तता, आवेश तथा प्रलाप के अति से जीवन में विशृंखलता आने का डर था और ये भावनाएँ शरीर से सम्बन्ध रखती थीं; और इसके साथ ही साथ एपॉलो के त्योहार की मर्यादा, आदर्शवादिता तथा आध्यात्मिकता की अति से जीवन में नीरसता आने का भय था; फलतः इन दोनों की अति का परिमार्जन तथा संशोधन उनके साहित्य-सिद्धान्तों का प्रमुख ध्येय हो गया। यही संकेत हमें यूनान देश के प्रत्येक लेखक की दुःखान्तकी में मिलता है और इसी संकेत के अनुसार समस्त यूनानी दुःखान्तकी का अन्त भी होता है। इस अन्त के प्रदर्शन में लेखकों की नैतिक कला छिपी रहती है। जब हम श्रेष्ठ वीरों की विफलता देख चुकते हैं और भाग्य-चक्र की कुटिलता पहचान लेते हैं तिस पर भी हम जीवन से हताश नहीं होते। हम नास्तिक न बन कर ईश्वरीय विधान के प्रति अपनी श्रद्धा दिखलाते हैं और यह भली भाँति जान लेते हैं कि नायक ही की

कमज़ोरी अथवा उसके दोष के ही कारण उसकी यह दशा हुई। भाग्य का हाथ उसके पतन और विफलता में था तो अवश्य मगर सबसे ज्यादा ज़िम्मेदारी नायक की, उसके अवगुण की, उसके एकांगी दोष की है। यदि यह दोष उसमें न होता तो भाग्य-चक्र सम्भवतः उसका कुछ बिगाड़ न सकता था। यहीं पर हमें उस रहस्य का भास होता है जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं। क्या वास्तव में दायित्व भाग्य का है अथवा नायक का? इसका उत्तर समुचित रूप से पाठक अपनी अपनी रुचि के अनुसार दे सकेंगे। इसी में प्राचीन काल से लेकर आज तक दुःखान्तकी की रहस्यमयी लोक प्रियता है।

यूनान देश के दुःखान्तकीयों में उसके सामाजिक, नैतिक, व्यावहारिक धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारो की प्रतिच्छाया है।

१

नाटक के विषय

यदि ऐतिहासिक रूप में देखा जाय तो धर्म तथा नाटक का घनिष्ठ संबंध आदि कला से अब तक, व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप में अवश्य रहा है। जिन महान भावनाओं तथा विचारो, लालसाओ तथा आदर्शों द्वारा मनुष्य को प्रेरणा मिली है; जिन आध्यात्मिक अथवा पार्थिव विचारो ने मानव के हृदय का इतिहास निर्मित किया है उन सब में धर्म की झाँकी अवश्य मिलेगी। यहाँ तक की मनुष्य जब बर्बर अवस्था मे था उस काल के भी नृत्य, व्यवहारिक विधान, बलिदान—जो धर्म के ही अग थे, नाटक के विषय बने। पिछले अध्यायों में, जैसा हम संकेत दे चुके हैं, युनानी समाज ने डायोनिसियस तथा बैकस देवताओं की पूजा अर्चना के संबंध में जो नृत्य तथा गीत की व्यवस्था बनाई उसमें धर्म का आधार ही मुख्य था; ये ही आगे चलकर नाटक के रूप में अवतरित हुए। और यों भी यदि

देखा जाय तो सभी युगों में, नाटकों को धर्म संबंधी उन्नत विचारों तथा आदर्शों को ही विषय रूप में अपनाना पड़ा। यूनानी नाटक तो देवताओं द्वारा दी गई प्रताड़ना तथा भाग्य की अठखेलियों से भरे मिलेंगे। यूनानी समाज के प्राणी को, क्रूर तथा शक्तिशाली देवों की प्रतिहिंसा के जो प्रतिफल भुगतने पड़ते उन सब का प्रदर्शन श्रेष्ठ नाटककार अपने नाटकों में किया करते थे। यही विषय मध्ययुग के नाटको में भी मिलेंगे। जो रहस्यपूर्ण नाटक तथा ईसाई-मत-प्रसार संबंधी नाटिकायें मध्य युग में लिखी गईं उन सब में रोमन कैथलिक धर्म के अन्तर्गत पाप, पुण्य, भय, मृत्यु नियति तथा ईसा के पुनर्जीवन विषयक विचारों का लेख था। और आजकल के नाटक जो मनोवैज्ञानिक सत्यों तथा चरित्र-विश्लेषण और व्यक्तित्व की समीक्षा करते हैं उनमें भी, यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो, धर्म का संपर्क कहीं-कहीं अवश्य मिलेगा।

आधुनिक नाटकों के विषय की चर्चा करते हुए कुछ विचारकों ने बहुत दिन पहले यह कहा था कि आधुनिक नाटकों विशेषतः दुःखान्तकी में कोई विचार प्राधान्य नहीं, उनके प्रभावों में एक्य नहीं; और कला के अन्तर्गत जो धार्मिक तथा नैतिक भावनाओं का प्रदर्शन होना चाहिये वह भी नहीं है। कारणों की विवेचना करते हुए यह कहा गया कि आधुनिक काल में विज्ञान की प्रगति ने हमारे मानवी प्रश्नों को और भी जटिल कर दिया; मनुष्य के विश्वास और श्रद्धा को मिटा दिया उसे भाग्य की क्रूरताओं का और भी विषम अनुभव कराया और उसके हाथ से ईश्वर-रूपी पतवार छीन कर उसे संसार-सागर के थपेड़ों को एकाकी सहन करने के लिये उसकी नौका वहीं छोड़ दी। उसके प्राचीन आदर्श मृगतृष्णावत् हो गए; उसका जीवन हताश हो गया। कदाचित ये विचार पचास वर्ष पूर्व ठीक थे और उस काल के नाटकों द्वारा इन्हीं विचारों की पुष्टि भी होती थी। परन्तु धीरे-धीरे इस अविश्वासवाद के युग का अन्त हुआ और आजकल मानवी

सत्यों के प्रदर्शन,मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा व्यक्तित्व निर्माण के सम्बन्ध मे जो-जो विचार प्रस्तुत होते है उनमें सत्य-धर्म तथा नैतिकता की भावना अन्तर्हित रहती है।

धर्म वास्तव में है क्या? मूल रूप मे वह उन शक्तियो तथा प्रेरणाओं का समूह है जो मनुष्य तथा उसके व्यक्तित्व को सजोती हैं, शक्ति देती हैं और उसे मनुष्य-नाम को सार्थक बनाने का आदेश देती हैं। इन शक्तियो अथवा प्रेरणाओं के नाम हैं—प्रेम और स्नेह; आनन्द, उत्साह, धैर्य, वीरता, साहस, निर्भयता; लालसा और कामना, भक्ति तथा श्रद्धा, विश्वास और सहनशक्ति; आध्यात्मिक शक्ति और आत्मसयम। अनेक श्रेष्ठ दुःखान्तकीयो की मूल-भावना में धार्मिक भावनाओं तथा मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृतियों का द्वन्द्व पूर्णतया: स्पष्ट है और इसी द्वन्द्वपूर्ण भावना को लेकर ही अनेक श्रेष्ठातिश्रेष्ठ नाटकों का निर्माण यूनानी युग में हुआ और उसकी परम्परा आधुनिक काल तक बनी हुई है।

विज्ञान ने भी जिन क्षेत्रों को अपना कर उनका विवेचन दिया उन सबकी समष्टि श्रेष्ठ नाटकों में मिलेगी। वंश-परम्परा, पैतृक तथा मातृक प्रभावों का वैज्ञानिक विश्लेषण,बाल्यकाल की पारवारिक तथा सामाजिक व्यवस्था, तथा व्यक्ति और व्यक्ति को बनाने-बिगाड़ने वाले अन्यान्य साधनों को जब नाटककार ने नाटको के विषय रूप मे प्रयुक्त किया तो उनमे एक नवीन स्फूर्ति तथा एक नवीन प्रवाह आ गया। और यदि सच पूछा जाय तो व्यक्ति तथा व्यक्तित्व को उन्नत बनाना ही धर्म का प्रमुख ध्येय है। नाटककारों का यही प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए कि वे अपनी कला द्वारा व्यक्तित्व अन्तर्द्वन्द्व, पैतृक तथा मातृक प्रभाव, वंश-परम्परा, सामाजिक व्यवस्था, पूँजी की शक्ति, राजनीतिक तथा सामाजिक षड्यन्त्र, मानव की प्रकृति तथा नियति और भाग्य से संबंधित जितने द्वन्द्व हो सकते हैं सब का सम्यक प्रदर्शन करें। यह सही है कि जैसे-जैसे नाटककार इनका प्रदर्शन करेगा उसे व्यक्तित्व

के परिवर्त्तन तथा प्रगति का आभास मिलता रहेगा; और जैसे-जैसे व्यक्तित्व रहस्यपूर्ण जीवन-शक्तियों तथा भाग्य से होड़ लेता रहेगा त्यों-त्यों नाटक अत्यन्त हृदयग्राही होता जायगा।

नाट्य-साहित्य के प्रथम निर्माताओं ने जो विषय पहले-पहल नाटकीय प्रदर्शन के लिए चुना वह अत्यन्त महत्वपूर्ण था और आज तक उसका महत्व ज्यों का त्यों बना हुआ है और कदाचित जब तक मानव, मानव बना रहेगा उसे इस विषय को महत्वपूर्ण मानना ही पड़ेगा। यह महत्वपूर्ण विषय है—दैवी प्रताडना-विशेषतः ऐसे व्यक्तियों के जीवन में जिन्होने कोई भी ऐसा कार्य नहीं किया जो उनको उस प्रताड़ना का भागी बनाए। साधु-प्रकृति के मनुष्यों तथा पुण्यात्माओं को अपार कष्ट मिला है; सन्तों को अपार प्रताड़ना का भागी होना पड़ा है; ऐसे व्यक्तियों को यातनायें भुगतनी पड़ी हैं जो कभी भी उसके योग्य नहीं कहे जा सकते। बालको की असमय मृत्यु; आकस्मिक प्राण-हन्ता घटनायें; युद्ध म निरीह सिपाहियो की हत्या, महामारी और भुभुक्षि की यातनाएँ; मृत्यु-मार्ग पर वृद्धो की दुःखद यात्रा; आखिर होती ही क्यों है? निरीह बालक काल-कवलित क्यो होते हैं; निर्दोष तथा पुण्यात्मा दण्ड क्यो पाते हैं; निष्पाप तथा भोले-भाले व्यक्ति अपने प्राण क्यो गॅवा देते हैं? इसका रहस्य क्या है? ईश्वर के दण्ड-विधान में तर्क कहाँ तक है? मनुष्य तथा ईश्वर के संबध में कौन सा रहस्य निहित है। सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान, जगन्नियन्ता जो अपनी कृपा द्वारा मनुष्य को बनाता है अपनी शक्ति से उसे प्रताड़ित क्यों करता है। वह भले तथा बुरे को उसके कर्म-समान फल क्यों नहीं देता? इस रहस्यपूर्ण प्रश्न को, जो मूल रूप मे सभी श्रेष्ठ साहित्य को प्रेरणा देता रहा है, संसार से प्रथम नाटककर ने भी अपनाया। पूर्व-ईसा ही इस लेखक ने अपना नाटक अवश्य लिखा होगा; परन्तु लेखक के नाम का पता नहीं और उसने कहाँ इस श्रेष्ठ नाटक की रचना की इसका भी कोई ऐतिहासिक लेखा नहीं

मिलता। नाटक का नाम है 'जॉब'।[1] और यह नाटक इसीलिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि नाटककार ने उस युग में प्रचारित जिन

---

१. नाटक की कथावस्तु अत्यन्त सरल है। जाब, ऊज़ प्रदेश का अत्यन्त न्यायी, पुण्यात्मा, प्रजापालक तथा श्रद्धालु शासक है। सम्पन्नता उसकी चेरी है और ईश्वर पर उसे अपार श्रद्धा है। स्वर्ग के देवों में उसकी चर्चा जब होती है तो शैतान यह कहता है कि जाब की श्रद्धा-भक्ति केवल स्वार्थ साधना है और दुःख पड़ते ही वह समस्त श्रद्धाभक्ति विदा कर देगा। प्रश्न यह उठता है कि जाब स्वार्थ-साधक है अथवा अटल-भक्ति वाला व्यक्ति। उसकी पूर्ण परीक्षा का आदेश दिया जाता है और शैतान धीरे-धीरे उसकी सारी सम्पन्नता हर लेता है; उसे भिखारी बना देता है और घोर शारीरिक यातनाएँ देता है। फिर भी जाब अपनी श्रद्धा तथा भक्ति पर अटल रहता है। उसकी स्त्री बल्कि कभी-कभी उसके भक्ति की हँसी उड़ाती है परन्तु उसकी दृढ़-निष्ठा अडिग रहती है। उसकी शारीरिक यातना उसके लिये असह्य हो जाती है; उसके अनेक मित्र संवेदना प्रगट करते आते हैं; एक उसको अपने पापों की क्षमा माँगने का आदेश देता है; दूसरा ईश्वरीय दण्ड को न्याय-सगत घोषित करता है और तीसरा उसके असमंजस को और भी बढ़ा देता है। जाब इस दैवी न्याय के प्रति असन्तोष प्रकट कर जीवन तज देना चाहता है: वह बार-बार ईश्वर की दुहाई देता है पर उसकी सुनवाई नहीं होती; वह हताश हो जाता है। वह केवल यही कह कर सन्तोष पा लेता है कि यह प्रश्न उसकी समझ के परे है; दैवी रहस्यों को वह अपनी मानवी आँखों से नहीं परख सकता। मनुष्य का धर्म दैवी-विधान के सम्मुख घुटने टेकना मात्र है। बहुत कुछ अंश में यही विषय सत्य-हरिश्चन्द्र समान अन्यान्य नाटकों में मिलेगा; परन्तु केवल फर्क इतना होगा कि अन्त में देवता स्वयं आकर अपने भक्त को स्वर्ग-धाम ले जायेंगे।

उन्नत भावनाओं का प्रदर्शन किया, जिन मानवी अनुभवों पर उसने प्रकाश डाला वे अब तक लोकप्रिय हैं; तथा जिस दैवी-रहस्य की ओर उसने संकेत किया उसका उद्घाटन आज तक नहीं हो सका।

इस नाटक की कथावस्तु के विवेचन पश्चात् कुछ दार्शनिक निष्कर्ष सरलता से निकल सकते हैं। पहला निष्कर्ष यह है कि हमें जीवन को सम्पूर्ण रूप में और अविचलित हो परखना चाहिये; दूसरे कितने ही दुःख क्यों न पड़ें अपने नैतिक मार्ग पर अडिग रहना चाहिये; तीसरे सत्य मार्ग का अनुसरण ही सबसे बड़ा कर्त्तव्य है और चौथे मानव को आध्यात्मिक शान्ति की चरम आवश्यकता है। श्रद्धा तथा प्रेम, मानव की अमूल्य निधि हैं। इसके साथ ही साथ यह भी सहज ही में कहा जा सकता है कि मनुष्य जिसकी शक्तियाँ सीमित हैं; जो सागर की बूँद समान है; वह असीम तथा परम-आत्मा रूपी अथाह-सागर को कैसे अवगाह सकता है? इस सत्य को हृदयंगम करना ही उसका प्रमुख कर्त्तव्य है। निस्सीम को परखने और समझने के लिए मनुष्य को स्वतः देवता होना पड़ेगा।

इसमें सन्देह नहीं कि जिस समस्या को लेकर नाटककार ने रचना की और उसका जो भी हल जिस रूप में भी वह प्रस्तुत कर सका वह सन्तोष-जनक नहीं। सन्तोष-जनक वह हो भी कैसे सकता है! प्रश्न तो हल हुआ ही नहीं; केवल श्रद्धा रखने का आदेश ही मिला। कदाचित् इस समस्या का कोई हल है भी नहीं; यदि है तो जीवित प्राणी उसे नहीं जानता : ससार के परे जो दूसरा संसार है वहाँ पहुँचकर शायद कोई सन्तोषप्रद उत्तर मिल सके परन्तु वहाँ से लौट कर आया ही कौन है? इसका यह अर्थ हो सकता है कि यदि मनुष्य, प्रकृति की अविचल व्यवस्था तथा अटल नियमों के चक्कर में आकर दण्ड पाता है तो वह पापी नहीं कहा जा सकता। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रकृति की अटल व्यवस्था जो अपने चक्र में अनेक निर्दोषों को पीसती चलती है, अनेक रूप में लाभदायक भी

है। इसके द्वारा हमारे विश्वास की पुष्टि होती है; हमें शक्ति मिलती है और यह सन्तोष प्राप्त होता है कि हमने जो कुछ भी किया सत्यपालन के लिए ही किया। दुःख तथा दण्ड सभी को मिलते रहते हैं; मानवी आत्मा को शुद्ध रखना ही जीवन की सबसे बड़ी जीत है।

यूनानी नाटककार ईस्किलस ने भी, पूर्व ईसा ५२५ में, इसी विषय के आधार पर अपना महान नाटक[1] लिखा। जैसा कि हम

---

१. 'प्रेमीथ्यूज़ बाउन्ड'। इस नाटक की भी कथावस्तु अत्यन्त सरल किन्तु प्रभावपूर्ण है। कथावस्तु, प्राचीन पौराणिक गाथा प्रोमीथ्यूज के जीवन से संबंधित है। प्रोमीथ्यूज स्वयं देवता हैं और जीयस देवता के आदेशों की अवहेलना कर वह मानव को सुखी बनाने के लिये स्वर्ग की ज्ञानाग्नि चोरी से ले आते हैं। आदि काल के मनुष्य का जीवन जानवरों से भी बदतर था। रहने के लिये ये पृथ्वी खोद कर गड्ढे बनाते; कीड़े-मकोड़े के सहवास में जीवन व्यतीत करते; मांस नोच कर खाते। उन्होंने मनुष्य को कृषि, उद्योग व्यवसाय तथा सभ्यता के नियमों से दीक्षित किया; ज्योतिष, वनस्पतिशास्त्र, खनिज विद्या इत्यादि सिखला कर बर्बर मनुष्य को सभ्य बनाया। सभ्य जीवन-यापन के ये साधन बतलाकर उन्होंने मनुष्य को एक अमूल्य वरदान दिया। वह वरदान था—'आशा'—जिसके सहारे मनुष्य घोर से घोर पीड़ा तथा यातना सह कर भी अपना मनुष्यत्व बनाये रख सकता था। परन्तु इस मानवी कार्य के लिये जीयस ने क्रोधवश उन्हें अपार दण्ड दिया।

प्रोमीथ्यूज काकेशिया के हिमाच्छादित पर्वतों की चोटी पर बन्दी कर दिये गये। ठिठुरते शीत में, प्रकृति के हिमखण्डों से टूटती हुई प्रचण्ड वायु उन्हें मृत्यु की प्रताड़ना देने लगी। शक्ति तथा प्रचंडता नामक दो देवताओं को उन्हें हिमशिखरों पर लोहे की मजबूत सलाखों से जड़ देने का आदेश मिला। धातु तत्व के देवता को, जिन्हें यह कार्य सौंपा गया, प्रोमीथ्यूज के दुःखी जीवन को देख कर अत्यन्त ग्लानि हुई परन्तु

पहले कह चुके हैं यूनानी नाटककार धर्म तथा धार्मिक त्योहारों से संबंधित ही विषयों पर नाटक रचना किया करते थे और उनमें भाग्य की विडम्बना कर्मों का प्रतिफल तथा आत्म-संशोधन के विचार ही मूलतः रहा करते थे।

शक्ति तथा प्रचण्डता नामक देवताओं ने उनके सहानुभूति की भर्त्सना कर उन्हें अपना कार्य करने पर बाध्य किया। जब तक प्रोमीथ्यूज के प्रताड़क सम्मुख रहे उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा; परन्तु उनके जाते ही उनकी वाणी फूट पड़ी। उन्होंने अपनी इस विषम दशा पर विचार करना शुरू किया और अपने मानव प्रेम को साक्षी रखकर अपनी निर्दोषिता प्रमाणित की। अनुचित दण्ड का विरोध करते हुए उन्होंने उस दण्ड के विधायकों की कानों में अपनी आवाज पहुँचाई; उन्होंने अपनी निस्वार्थ सेवा, मानव-प्रेम तथा त्याग की दुहाई दी। परन्तु शक्तिशाली जीयस न पिघले : वह उनका पूर्ण आत्म-समर्पण चाहते थे, तभी उनका दण्ड कम किया जा सकता था। प्रोमीथ्यूज के अनेक शुभचिन्तक संवेदना प्रकट करते हुए उनको आत्मसमर्पण कर देने की सलाह देने लगे। परन्तु युग-सेवी प्रोमीथ्यूज का कहना था कि देव-लोक मानव से ईर्ष्या करता है और उसके भविष्य को नहीं पहचानता, और जनसेवी प्रोमीथ्यूज अपना आदर्श नहीं त्याग सकता। उन्हें अब देवताओं के क्रोध तथा उनके द्वारा पाये हुए दण्ड का जरा भी सोच और भय नहीं, वे अपनी मर्यादा पर अटल रहेंगे। वे यह भी कहते हैं कि उनके पास एक ऐसा रहस्यपूर्ण ज्ञान है जो देवताओं को नष्ट-भ्रष्ट कर देगा। इस रहस्य को भी देवता-वर्ग जानना चाहता है; परन्तु प्रोमीथ्यूज भय और त्रास दिखाने पर भी इसे बतलाते नहीं। अन्य देवता उन्हें समझाने बुझाने आते हैं : वे उनकी एक नहीं मानते। वे घोषित करते हैं कि समस्त संसार की समस्त यातनाएँ वे सहन करने पर प्रस्तुत हैं। उनके जीवन को प्रज्वलित करने वाली शक्ति—उनकी जीवात्मा अमर है, अमिट

मध्ययुग में लिखे गये धार्मिक रहस्यों से पूर्ण नाटक तथा सन्तों की जीवनी से संबंधित आश्चर्यजनक कथाओं सभी में, यही जटिल विषय प्रस्तुत है। इस अन्धकार के युग में भी जब मनुष्य अपने को समस्त विश्व का केन्द्र समझता था; जल-थल-नभ के प्राणियों को अपने स्वार्थ-साधन का यंत्र मात्र समझता था। तब भी वह इन्हीं गूढ़ प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने में संलग्न रहता था। मैं कौन हूँ? क्या हूँ? जीवन का उद्देश्य क्या है? मृत्यु का कारण क्या है? अनन्त क्या है? मानव से उसका क्या संबंध है? इन सभी विषयों में मनुष्य तथा परिस्थितियों के द्वन्द्व की भावना निहित रहती थी। मनुष्य का अज्ञान, पाप और पुण्य की भावना, दण्ड तथा पुण्य-फल इन सब विषयों पर नाटककार की दृष्टि केन्द्रित रहा करती थी। मध्ययुग के नाटकों के विषय तथा नाटककारों की रचनायें इस कथन की पुष्टि करती हैं कि धार्मिक भावनाओं का द्वन्द्व ही अनेक नाटकों का मूल विषय रहा है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण नाटक 'एवरीमैन' के कथानक[1]

है। यहीं पर नाटक का अन्त हो जाता है, चूँकि नाटक के अन्तिम भाग अप्राप्त हैं यह नहीं कहा जा सकता कि महान नाटककार ईस्किलस ने इसका अन्त किस प्रकार किया होगा। परन्तु समस्या पुरानी है— मनुष्य की अनुचित प्रताड़ना। देवों का अनियमित त्रास। इसका कारण क्या है?

१. एवरीमैन के जीवन को परखने के लिए ईश्वर मृत्यु को आदेश देते हैं और मृत्यु अकस्मात उनके सम्मुख आकर उनको अनन्त-मार्ग पर चलने की आज्ञा देती है। एवरीमैन निष्प्रभ तथा हताश हो अपने अनेक मित्रों को अपना साथ देने के लिये आमंन्त्रित करते हैं। उनके मित्र-वर्ग उनकी ओर कुछ काल तक तो उन्मुख रहते हैं परन्तु इस दुरूह यात्रा पर साथ जाने में असमर्थता प्रकट करते हैं। परन्तु उनका केवल एक साथी है जो उनके साथ चलने पर प्रस्तुत है। वह है उनका

द्वारा स्पष्ट किया गया है कि मनुष्य के अच्छे कर्म ही उसका साथ अन्त तक देते हैं। यह कथानक बौद्ध-धर्म की एक लोकगाथा पर आधारित ज्ञात होता है।

इस नाटक के विषय का मूल विचार स्पष्ट है। मनुष्य को संसार में किसका आधार ढूँढ़ना चाहिए? क्या मनुष्य अपनी अनन्त की यात्रा के लिये संबल सहित तैयार है? क्या वह यह तो नहीं भूल गया कि उसका अन्त समय निकट है? मनुष्य के पार्थिव संबंधों का मूल्य क्या है? यही प्रश्न तो आज भी सबको व्यस्त किये हैं!

पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तथा सोलहवीं शती के आरम्भ में दैवी प्रताड़ना सबंधी विषयों पर ही श्रेष्ठ नाटक रचे गये जिनमें मुख्य शेक्सपियर लिखित 'किंग लियर' माना जा सकता है। लियर को अपने पुत्री-प्रेम के प्रतिफल में अनेक मानसिक यातनायें सहनी पड़ती हैं और जिन कन्यायों को उन्होंने अपनी समस्त पैतृक-सम्पत्ति बाँट दी वे ही उसकी अवहेलना करती हैं; उसके विरुद्ध युद्ध करती

पुण्य-कर्म। पुण्य कर्म अपने अन्यान्य साथी इकट्ठा कर देते हैं—ज्ञान, शक्ति, सौंदर्य, सभी कुछ न कुछ उसका साथ देने पर प्रस्तुत होते हैं परन्तु अन्त तक साथ नहीं दे पाते। ज्ञान बेचारा काफी दूर तक साथ जाता है। परन्तु मृत्यु-द्वार पर वह भी विदा माँगता है। ऐसी परिस्थिति में केवल शुभ कार्य ही उसके साथ रहते हैं और मरणोपरान्त भी साथ देते हैं। जिस बौद्ध-कथा पर यह कथानक आधारित ज्ञात होता है उसका नायक एक ऐसा व्यक्ति है जिस पर बहुत ऋण है। जब देश का राजा उसे सब ऋण चुकाने की आज्ञा देता है तो वह अपने दो मित्रों—सम्पत्ति, मित्र, और सम्बन्धिओं से सहायता माँगते हैं परन्तु वे सभी विमुख हो जाते हैं। केवल उसके पुण्य कर्म ही उनके काम आते हैं; ये पुण्य-कर्म उनकी श्रद्धा, आशा, सहानुभूति, प्रेम, दान तथा मानवता की समष्ठि मात्र हैं। इन्हीं के द्वारा उनका उद्धार होता है।

हैं और उसे बन्दी बना कर पागल कर देती हैं। इसके विपरीत जिस पुत्री को उन्होंने तिरस्कार के सिवाय कुछ भी नहीं दिया वही उनकी सेवा-सुश्रूषा मे तत्पर रह भाग्य के हाथ अपने प्राण तज देती है। इस विधि-विधान का आशय क्या है? क्या लियर के पुत्री-प्रेम का यही प्रतिफल होना चाहिये था? क्या दैव ने उन्हें अनुचित रूप से दण्ड नहीं दिया?[1] इन्हीं प्रश्नों पर पुनर्जीवन काल के तथा उसके बाद लेखकों ने अपने नाटकों मे विचार किया।

---

१. कुछ चिन्तनशील व्यक्तियों का कथन है कि विशाल नैतिक नियमों का विरोधी व्यक्ति उनके चक्र में पड़कर प्राण तज देता है। लियर में भी यह विरोध प्रस्तुत है। उनका पुत्री-प्रेम सभी सीमा तोड़ देता है। पूर्वीय दर्शन सिद्धान्तों के अनुसार पूर्व कर्मफल के अनुसार ही मनुष्य बनता बिगड़ता है; और हमारा वर्तमान जीवन पूर्व जन्म के कर्मों का फल भोगने के लिये ही हमें मिला है। इस विधान के विरोध में यह कहा जाता है कि इस सिद्धान्त के द्वारा भाग्यवाद का प्रसार होगा। जिन कुटिल, क्रूर, हृदयहीन व्यक्तियों ने धर्म-सुधारकों तथा युग-सेवियों की हत्या कर डाली क्या वे ईश्वर के अस्त्र-समान प्रतिष्ठित किये जाँय जिन पर ईश्वर इतना बड़ा दैवी दायित्व रखता है? क्या वे हत्यारे न कहला कर ईश्वरीय-शक्ति के प्रतीक माने जाँय? फिर जब हमें अपने पूर्वजन्म का किंचित मात्र भी स्मरण नहीं तो उसका प्रतिफल इस वर्तमान जीवन में पाना मनुष्य के विरुद्ध ईश्वर का षड्यंत्र ही कहा जायगा, क्योंकि जो व्यक्ति प्रतिफल भुगत रहा है वह वही व्यक्ति नहीं जिसने पूर्वजन्म में पाप बटोरे थे। इस विवेचन के विपक्ष में यह कहा गया है कि पूर्व के दर्शन सिद्धान्त जीवन का वर्गीकरण नहीं करते; वे जीवन की एकता पर जोर देते हैं। यह जीवनचक्र अनादिकाल से चला आ रहा है और यह चक्र भविष्य में इसी प्रकार चलता रहेगा— इसका आदि अन्त नहीं। यहाँ तक कि जगन्नियन्ता भी इस चक्र

आधुनिक युग के नाटकों के विषयों की झाँकी पहले-पहल हमें गर्टो[1] रचित डाक्टर फाउस्टस[2] नामक नाटक में मिलती है। उन्होंने ही पहले पहल विश्व को ईश्वर द्वारा परिचालित तथा नियन्त्रित न मान कर

को स्थगित नहीं कर सकता। इसीलिये हम बार-बार रामराज्य-स्थापना की दुहाई देते हैं, ईश्वर के अवतार की प्रतीक्षा करते हैं और आशा तथा श्रद्धा के सहारे जीवनयापन करने लगते हैं। कर्मभोग के दो महत्वपूर्ण फल होते है—एक तो इसके द्वारा भ्रातृ-भाव का सचार होता है क्योंकि हममें दुःखी व्यक्ति के प्रति सहज संवेदना उपजती है और दूसरे हम इन दैवी यातनाओं को आत्म-संशोधन का साधन समझने लगते है। परन्तु पक्ष और विपक्ष के तर्कों के आडम्बर में यह हमे न भूलना चहिये कि जीवन के रहस्य को मनुष्य मात्र नहीं सुलझा सका: निस्सीम को परखना सीमित शक्ति के मनुष्य के परे है।

१. प्रसिद्ध जर्मन साहित्यकार

२. डाक्टर फाउस्टस जो नाटक के नायक हैं, अत्यन्त ज्ञानी तथा वैज्ञानिक विशेषज्ञ हैं। उन्हे अपार ऐन्द्रजालिक ज्ञान प्राप्त है। इस ज्ञान के द्वारा वह अपार पार्थिक आनन्द की प्राप्ति चाहते है और शैतान के हाथों अपनी आत्मा बेंच देते है। उनकी उत्कट इच्छा है कि वे जीवन, मृत्यु तथा अनन्त का रहस्य समझ लें। वे आत्मा तथा शरीर की शक्तियों के द्वन्द्व से विह्वल होते है। आनन्द का जीवन प्रारम्भ होते ही उस आनन्द-सागर में वह पूर्णतः डूब जाते है। उनका एक स्त्री से प्रेम हो जाता है धीरे-धीरे वे उसे त्याग भी देते हैं। परन्तु कुछ ही दिनों बाद उनकी अपनी शक्ति पहचानती है; वे शैतान की मक्कारी को समझने लगते हैं, उन्हें अपनी सब भूलें याद आती हैं और वे ग्लानि से भर उठते हैं। आत्मग्लानि के होते ही शैतान उन्हें दूर ले जाता है; और कालान्तर में पापों की स्वीकृति तथा पश्चात्ताप के फलस्वरूप फाउस्ट को त्राण मिल जाता है।

उसे समस्त विश्व में अन्तर्हित देखने की प्रवृत्ति यूरोपीय साहित्यकारों को दी। इस प्रवृत्ति की मान्यता सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में रही। इस परिवर्त्तित दृष्टिकोण का फल यह हुआ कि इससे जीवन-विकास के सिद्धान्तों की पुष्टि हुई और मनुष्य के व्यक्तित्व को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवन-शक्ति व्यक्तित्व के माध्यम द्वारा ही अपनी फल-प्राप्ति करती है। फाउस्ट का विषय है—जीवन-रहस्य! क्या मृत्यु ही जीवन का अन्त है? फाउस्ट, शैतान के हाथों अपनी आत्मा बेंच देता है और उसके फलस्वरूप उसे शक्ति, सौंदर्य और आनन्द का वरदान प्राप्त होता है। वह पार्थिव आनन्द के झूले में झूलता रहता है; परन्तु एक समय ऐसा आता है जब उसकी बन्दी आत्मा चीत्कार कर उठती है। घोर मानसिक यातना सहने तथा अपने पापों की स्वीकृति के फलस्वरूप और एक स्त्री के सहयोग द्वारा उसे त्राण मिलता है। इस घटना से इस विषय का संकेत भी मिलता है कि क्या पाप का अनुभव आत्म-ज्ञान-प्राप्ति के लिये आवश्यक है? इस वर्ग के नाटक मनुष्य की अपार तृष्णा, उसकी अमिट लालसा, उसकी अनियंत्रित उत्कण्ठा का परिचय देते हैं। मनुष्य अपने उद्देश्य-सिद्धि में किस हद तक जा सकता है; उसकी मानसिक अशान्ति उसे कौन-कौन से साधन अपनाने पर बाध्य करती है और शान्ति की खोज में मनुष्य किस प्रकार विह्वल हुआ करता है। इन्हीं विशाल प्रश्नों की छाया आधुनिक नाटकों की विषय-वस्तु में प्रतिबिम्बित है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दैवी तथा प्रकृति के रहस्यों को समझने में मनुष्य अपनी सीमित शक्तियों को किस प्रकार प्रयुक्त करता है। प्रकृति अपनी रहस्यमयी शक्ति द्वारा मनुष्य को ठगती रहती है और ज्यों-ज्यों मनुष्य उसके पाश में फँसता जाता है त्यों-त्यों उसको सन्तोष सा प्राप्त होता है। किन अनगिनत साधनों द्वारा वह मनुष्य को अपने हाथ का खिलौना बना लेती है; वह कैसी-कैसी

लालसायें जाग्रत करती है और मनुष्य भी उसके रहस्य को हृदयंगम करने के लिये क्या नहीं कर बैठता। मनुष्य का समस्त कला प्रयोग प्रकृति के रहस्योद्घाटन का साधन मात्र है; समस्त दर्शन उसके नियमो के विश्लेषण तथा विवेचन के आधार मात्र हैं तथा समस्त धर्म शास्त्र उसके जीवन को परखने की दृष्टि मात्र हैं। घूम-फिर कर वही पुराना प्रश्न फिर सम्मुख आता है—क्या अनुभव बिना जीवन के रहस्यों का उद्घाटन नहीं हो सकता ? क्या बिना पाप का अनुभव किये पुण्य के दर्शन दुर्लभ होंगे ? इन प्रश्नो के आधार-भूत वही पुराने विचार हैं—वंशपरम्परा, इच्छा शक्ति, नियति। इन्ही तीनों के द्वारा मनुष्य अपनी आत्मसिद्धि में सफल अथवा विफल होता रहेगा।

उन्नीसवीं शती के विचारों में भी यह प्रश्न महत्वपूर्ण रहा कि पाप अथवा बुराई संसार में जन्म ही क्यों लेती है ? उसके मूल में क्या है ? उससे त्राण किस प्रकार मिल सकेगा ? पुण्यात्मा दुःख तथा त्रास क्यो पाते हैं ? गुणी तथा मानी अनुचित दण्ड के भागी क्यों होते हैं ? विधि की इस विडम्बना का रहस्य क्या है ? कुछ लेखकों ने श्रद्धा की पतवार मनुष्यो को पकड़ा कर उसे जीवन-सागर में यात्रा करने छोड़ दिया; कुछ ने जीवन को रहस्यपूर्ण घोषित करते हुए यह सिद्धान्त बनाया कि जब तक मृत्यु का आवरण मनुष्य को घेरे है वह इस रहस्य को समझ ही नहीं सकता। मृत्यु एक घूंघट है जो हटते ही मानव-सुन्दरी की पूर्ण आभा प्रदर्शित कर देगी। कुछ श्रेष्ठ कवियो ने भय, घृणा, ईर्ष्या, तीनो को समस्त मनुष्य समाज का घोर शत्रु समझ उन्हे जीवन से निकाल फेंकने का आदेश दिया। उनके विचारो के अनुसार इन्ही तीनों के द्वारा मानव-जीवन त्रस्त रहता है और इनके न रहने पर जीवन शान्तिमय तथा सुखी होगा। उन्होंने प्रेम को ही समस्त ससार का मूल आधार माना और भ्रातृभाव, स्वतन्त्रता तथा समता के आदर्शों को ग्राह्य बतलाया।

उन्होंने आत्मशक्ति की महत्ता स्थापित कर पात्रों को तथा मनुष्य की कमजोरियों को चुनौती देने का आदेश दिया।

उन्नीसवीं के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जिन-जिन विषयों को नाटककारों ने अपनाया उनका सम्पूर्ण-विवरण कठिन ही नहीं वरन असम्भव है। कारण यह कि मनुष्य से सम्बधित जितने भी विषय हो सकते हैं सबको एक-एक कर नाटककारों ने अपने नाटक में प्रयुक्त किया और कुछ ऐसे कलाकारों ने इस युग में जन्म लिया जिनके प्रभाव का मूल्यांकन सरल नहीं। मनुष्य के पारिवारिक जीवन की उलझनें, उसके सामाजिक जीवन की समस्यायें, उसके आर्थिक तथा राजनीतिक जीवन की जटिलतायें, उसके मानसिक तथा आध्यात्मिक जगत के विषम द्वन्द्व—सब पर अनेक रूप से श्रेष्ठ नाटककारों ने नाटकों में अपने विचार प्रकट किये। यद्यपि इन सब उपरिलिखित विषयों पर श्रेष्ठ नाटकों की रचना नहीं हुई परन्तु इनमें से अनेक ऐसे विषयों को नाटककारों ने चुना जिनके व्यापक प्रभाव आज तक विदित हैं और कदाचित् उनका प्रभाव भविष्य में भी तब तक बना रहेगा जब तक ये समस्यायें पूर्णतया हल नहीं हो जाती।

२

बुद्धिवाद का प्रसार

उपक्रम—यदि ऐतिहासिक रूप से देखा जाय तो प्राचीन काल से अब तक नाटकों के विषय तथा विषय-प्रयोग में निरन्तर परिवर्तन होता आया है और कदाचित भावी युगों मे भी होता रहेगा। जो नाटक धर्म तथा धार्मिक भावनाओं की छत्रछाया में पल्लवित-पुष्पित हुए, समाज से प्रोत्साहित हुए, उन्हें बुद्धिवाद से अत्यन्त उच्च स्तर पर

पहुँचाया। चौदहवीं शताब्दी के धर्म तथा सन्त-जीवनी संबंधी नाटकों के युग की समाप्ति पश्चात् शेक्सपियर जैसे महान् कलाकार तथा उनके अन्य समकालीन नाटककारों ने मानव चरित्र की गहराइयों को नापा, उनका अत्यन्त सूक्ष्म वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया और वातावरण तथा परिस्थिति और नाटकों के नायकों को समरूप में महत्व दिया। जब शेक्सपियर के युग की मानसिक प्रेरणा शान्त हो गई तो उनके अनुयायी मानव चरित्र के छोटे-मोटे पहलुओं पर विचार करने लगे, परिस्थिति तथा कथावस्तु को महत्व देने लगे और अतिशयोक्ति के प्रयोग द्वारा समय के अन्तर्गत प्रसारित क्रूरता, बर्बर पाशविकता, हत्या, प्रतिशोध तथा दरबारों का कुत्सित जीवन, इन्द्रजाल तथा जादूगरी, दुखान्तकीयों में तथा मध्यमवर्गीय समाज और निम्नवर्ग के व्यक्तियों के प्रतिदिन जीवन का प्रदर्शन सुखान्तकीयों में करने लगे। पारिवारिक आदर्शों की धूम-सी मच गई और अनेक नाटककारों ने आदर्श पत्नी तथा सम्मानित स्त्री जगत् से संबंधित अनेक नाटकों की रचना की और पारिवारिक नैतिकता का प्रसार किया। पुरुष तथा स्त्री के अवैध संबंधों पर अनेक नाटककारों ने अपनी लेखनी उठाई और प्राचीन सामाजिक तथा पारिवारिक परम्परा के अनुसार उनका प्रदर्शन कर, उनके सुधार के पश्चात् उनकी प्रशंसा की। दुःखी वैवाहिक जीवन के अनेक कारणों पर प्रकाश डालते हुए नाटककारों ने पति-पत्नी के संबंध को पुष्ट करने की चेष्टा की, पतिव्रता नारियों द्वारा पति-सुधार[1] के अनेक दृश्य प्रस्तुत किये और पथभ्रष्ट पति की भर्त्सना की। साधारणतः सुखान्तकीयों में पारिवारिक जीवन के आदर्शों का प्रतिपादन हुआ, आत्म-सम्मान तथा परिवार-सम्मान के जटिल

१. ये विषय बीसवीं शताब्दी के हिन्दी के रोमाञ्चक तथा पौराणिक नाटककारों को भी प्रिय हुए। बेताब तथा राधेश्याम के नाटकों में यही तत्त्व प्रधान है।

प्रश्नों पर विचार करते हुये हिंसात्मक साधनों के स्थान पर क्षमा, सन्तोष तथा शान्ति को स्तुत्य माना गया। सिद्धान्त-रूप में सुखान्तकीयों का आधार पचतत्त्व से बने शरीर के किसी एक तत्व की अधिकता थी जिसके कारण मनुष्य का समस्त व्यक्तित्व दूषित तथा हास्यास्पद हो जाता है। क्रोध, ईर्ष्या, गर्व, इत्यादि दुर्गुणों को आधार मान कर अनेक उपहासास्पद पात्रों का सफल निर्माण हुआ। इस सिद्धान्त की मान्यता सुखान्तकी लेखकों में बहुत काल तक रही।

सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी के नाटकों का मुख्य विषय-आधार शूर-वीर व्यक्तियों की उच्चाकांक्षा तथा विषम और लालसा-युक्त सामाजिक जीवन था; और व्यंग्य ही उसके प्रदर्शन का सहज साधन था। पुराने नाटकों के नायक अपूर्व शक्ति तथा असाधारण मानसिक बल से आभूषित रहते थे। परन्तु नवीन नायकों के हृदय में भावनाओं के प्रसार की अपार क्षमता थी। इस काल में ऐसे शूर-वीर नायक चुने गये जिनमें अनुभव करने की शक्ति अत्यधिक थी। उन्होंने अपने सम्मान की रक्षा अपने बाहुबल से की और उस बाहुबल को उत्साहित करने वाला साधन था, प्रेम और स्नेह। जहाँ कहीं द्वन्द्व प्रदर्शित किया गया वह गुणों का ही द्वन्द्व था अवगुणों का नहीं।

इस युग के नाटककारों ने सुखान्तकी रचना में व्यंग्य तथा हास्य का इतना उत्कृष्ट प्रदर्शन किया जिसकी तुलना कदाचित किसी अन्य युग के नाटककारों से नहीं हो सकती। जिन-जिन सामाजिक बन्धनों की खिल्ली उन्होंने उड़ाई उन पर पुनः हमारे आधुनिक युग ने नाटकीय रूप में विचार किया। जिन आडम्बरपूर्ण नैतिक भावनाओं का प्रसार पुराने नाटककारों ने किया और जिन पाखण्डपूर्ण सम्बन्धों को महत्वपूर्ण घोषित किया उन सब को इस युग के नाटककारों[1] ने हास्यास्पद रूप में प्रदर्शित किया। यद्यपि ये नाटककार भी नैतिक का

१. शेरिडन, गोल्डस्मिथ।

प्रसार चाहते थे परन्तु ऐसी नहीं जिसमें चीख-पुकार ही अधिक हो, तत्व कुछ नहीं। साधारणतः इन लेखकों ने समस्त जीवन पर व्यंग्य बाण बरसाये और नैतिकता के नाम पर प्रसारित पाखण्डों की इन्होंने खूब ही खबर ली।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तथा बीसवीं के पूर्वार्द्ध तक नाटक के विषय लेखकों की व्यक्तिगत रुचि, आदर्श तथा उनके सिद्धान्तों के अनुसार चुने गये। इस युग में ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र अत्यन्त विकसित हो चला था; व्यवसाय तथा मशीन युग की नींव पड़ ही नहीं चुकी थी, दृढ़ भी हो चुकी थी; साम्राज्यवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच रहा था और साम्यवाद अपना विशाल त्रिनेत्र खोलने की चेष्टा कर रहा था। भ्रातृ-भाव समता, स्वतन्त्रता के जो नारे लगे थे और जिसके प्रभाव से समस्त यूरोप दहल उठा था, धीरे धीरे जनता के हृदय में घर करते जा रहे थे। धर्म की भित्ति हिल रही थी; रूढ़िवादी धार्मिक विचार विज्ञान के थपेड़ों से विह्वल हो रहे थे; सामाजिक सम्बन्धों पर तर्क की प्रखर किरणें पड़ने लगी थीं।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से राजनीतिक क्षेत्रों में हलचल मची, अनेक राजनीतिक वादों का जन्म हुआ, राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता का द्वन्द्व आरम्भ हुआ, तानाशाही तथा प्रजातन्त्र और साम्यवाद के अदार्श एक दूसरे को सशंक दृष्टि से देखने लगे और राजनीतिज्ञों तथा अर्थ-शास्त्रियों ने मानव को एक बार फिर युद्ध की अग्नि में झोंक दिया। द्वितीय युद्ध समाप्त ही नहीं हुआ कि तृतीय महायुद्ध की भेरी धीरे-धीरे आजकल फिर बजने लगी। राजनीतिक तथा आर्थिक आदर्शों को साहित्य में प्रश्रय मिलने लगा और मार्क्सवाद का प्रसार हर ओर होने लगा। ऐसी अस्तव्यस्त परिस्थिति में साहित्य को सब वादों का लेखा रखना पड़ा और पिछले सौ वर्षों के साहित्य को देखते ही यह स्पष्ट हो जायगा कि शायद ही कोई मानवी क्षेत्र बचा हो जहाँ की रूढ़िवादी परम्परा हिला न दी गई हो। उपन्यास, गद्य,

कहानी, कविता, नाटक सब में इस विशाल अस्तव्यस्तता का प्रदर्शन मिलेगा। विज्ञान, मनोविज्ञान तथा मनस्तल-शास्त्र ने जो भी रही सही रूढ़ियाँ थीं सब को नष्ट-भ्रष्ट कर लेखको को एक नवीन दृष्टि-कोण अपनाने पर बाध्य किया। मनुष्य के पारिवारिक (मातृक तथा पैतृक) सम्बन्ध; सामाजिक—(व्यक्ति तथा समाज, व्यक्ति तथा वर्ग विशेष, व्यक्ति तथा अन्य व्यक्ति) सम्बन्ध, राजनीतिक आदर्श; आर्थिक सम्बन्ध; व्यक्तित्व के द्वन्द्व; मनस्तल के द्वन्द्व; और अन्यान्य अन्योनाश्रित सबधों को तर्क की कसौटी पर कसा जाने लगा है। बुद्धिवादी साहित्य के प्रसार की यही भूमिका है।

२

इब्सेन

इब्सेन : बुद्धिवादी नाटकों के प्रवर्त्तक, सर्वसम्मति से इब्सेन ही माने गये हैं। जैसा कि हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक नाटकों मे या तो कथावस्तु के तत्व को विशेष महत्त्व दिया गया या नायको अथवा पात्रों की अनुभव-शक्ति तथा उनके चरित्र-विश्लेषण पर जोर दिया गया; कभी-कभी दोनों को ही महत्व मिला और साधारणतः पात्र और परिस्थिति के आधार पर ही नाटकों की रचना हुई। जिन पुराने साहित्यकारों ने इस साहित्यिक परम्परा को बदलना चाहा वे केवल शैली ही बदल सके, आधारभूत तत्वों को बदलना उनके लिये सभव न हुआ। कुछ लेखकों ने इन आधारभूत तत्वों को गौण समझ कर विचार तथा तर्क, बुद्धि तथा विवाद को महत्वपूर्ण समझ कर नाटक-रचना की परम्परा चलाई।

बुद्धिवादी नाटक परम्परा के अन्तर्गत एक विशेष प्रकार के नाटक का जन्म हुआ। इनमें किसी समस्या (राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक)

पर एक वादाविवाद के रूप में प्रकाश डालते हुए पक्ष और विपक्ष दोनों का प्रदर्शन किया गया। समस्यात्मक नाटक रचना शैली को अनेक आधुनिक नाटककारों ने अपनाया और इनकी परम्परा अंग्रेजी नाटककारों[1] ने ही चलाई। इससे यह तात्पर्य नहीं कि पुराने युगों के नाटकों में किसी समस्या पर प्रकाश डाला ही नहीं जाता था; प्राचीन तथा मध्य युग के नाटकों में समस्या प्रस्तुत थी और अत्यन्त महत्वपूर्ण भी थी और इस तथ्य को हम विस्तारपूर्वक स्पष्ट कर चुके हैं। परन्तु उस काल के तथा आधुनिक समस्यापूर्ण नाटकों में सबसे बड़ा भेद यह है कि आज के नाटक हमारे समाज के दिन प्रतिदिन के द्वन्द्व का प्रदर्शन करते हैं और उनका मुख्य आधार है वर्ग-संघर्ष। वे साधारणतः हमारे राजनीतिक, सामाजिक, पारिवारिक तथा आर्थिक जीवन के वैषम्य को स्पष्ट कर हमें उनपर तर्क रूप से विचार करने पर बाध्य करते हैं। इसके विपरीत प्राचीन नाटकों की समस्या वर्ग-संघर्ष पर आधारित न होकर आध्यात्मिक सत्यों पर ही विशेषतः आधारित थी; उसका सम्बन्ध हमारे पार्थिव जगत से कम वरन् आध्यात्मिक जगत से अधिक था।

दूसरे आज के समस्यात्मक नाटकों की शैली पुराने युग के नाटकों से कहीं भिन्न है। प्राचीन नाटककार मानवी भावनाओं का उत्कर्ष; आध्यात्मिक शक्ति की पराकाष्ठा; दैवी विधान की विशाल व्यवस्था अत्यन्त उत्कृष्ट तथा उन्नत रूप में व्यक्त कर मनुष्य को आध्यात्मिक जगत का प्राणी बनने का आदेश दिया करते थे। आज के समस्यात्मक नाटक हमारी व्यक्तिगत न्यूनताओं तथा सामाजिक और राजनीतिक तथा आर्थिक विधान की आलोचना तथा उसका वैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत कर व्यक्ति को उस वैषम्य को दूर करने का आदेश देते हैं। प्राचीन नाटकों का वातावरण समुन्नत, उत्कृष्ट तथा आत्मा को ऊँचे

---

१. गाल्सवर्दी

ले जानेवाला होता था। आज के समस्यात्मक नाटक हमको हमारे पार्थिव जगत की विषमतापूर्ण परिस्थितियों पर तर्क-रूप से विचार करने का आग्रह करते हैं। पहले वर्ग के नाटकों की आत्मा अध्यात्मवाद से प्रेरित थी; आज के नाटकों की आत्मा तर्क से उद्वेलित है। प्राचीन काल के नाटकों का नायक नियति से उलझता था, मध्यकालीन युग का नायक अपने चरित्र के वैषम्य से होड़ लेता था और आज का नायक प्रस्तुत परिस्थिति के अखाड़े में युद्ध करता है।

बुद्धिवादी नाटककार विशेषतः शिक्षित वर्ग के लिये ही अपने नाटक लिखते हैं क्योंकि वे ही उसके तर्क को सफल रूप में समझकर प्रस्तावित सत्य को हृदयगम करेंगे। वे हमारे सामाजिक तथा आर्थिक जीवन से संबंधित ऐसे सत्यों का प्रदर्शन करना चाहते है जो मनुष्य को सोचने पर विवश करे और अन्ततोगत्वा उसका अनुसरण हो। वे जब किसी सत्य विशेष को हृदयंगम कर लेते हैं तो उसी के आधार पर कथावस्तु तथा पात्रों का निर्माण कर चलते हैं। इन बुद्धिवादी नाटको के पात्र कितने स्वाभाविक तथा कितने गतिमय होंगे यह बुद्धिवादी नाटककार की प्रतिभा और उसकी कला पर निर्भर होगा। यदि बुद्धिवादी नाटककार में कला और प्रतिभा है तो उसके पात्र हृदयग्राही, प्राणमय तथा गतिशील होंगे; यदि प्रतिभा नहीं है तो वे केवल अपने निर्माता के हाथ की कठपुतली समान होंगे—जिनका अपना निजी जीवन कुछ न होगा और जिस प्रकार ग्रामोफोन के तवे पर सुई रखते ही आवाज आने लगती है उसी प्रकार हम कलाकार की बातें पात्र के निर्जीव मुख से सुनते रहेंगे।

साधारणतः हमारे अनुभवों की नित्य नवीन सुव्यवस्था का प्रदर्शन ही कला का प्रधान कार्य माना गया है। कुछ कलाकार अनुभवों के आधारभूत तत्वों के प्रदर्शन में ही संलग्न रहते हैं और कुछ उन सत्यों पर एकाग्र हो विचार करने लगते हैं जिनके द्वारा जीवन के विविध तत्वों की व्यवस्था संभव हुई है। इस सत्य को नाटकीय रूप

देते हुए वह यह चेष्टा करते हैं कि उनका प्रस्तावित सत्य ही नायक रूप में दर्शकों के सम्मुख आये और उनको सोचने समझने पर विवश करे। उनके लिये कथानक, कथावस्तु, पात्र इत्यादि महत्वपूर्ण नहीं। उनके लिये केवल वही सत्य महत्वपूर्ण है जिससे प्रेरित हो उन्होंने पात्रों तथा परिस्थितियों को जन्म दिया। शेक्सपियर के युग के तथा उनके बाद के नाटकों के पात्र तथा परिस्थितियाँ दोनों ही अत्यन्त महत्वपूर्ण होती थीं—बुद्धिवादी नाटकों में उनकी महत्ता बिलकुल ही घट गई।

आधुनिक युग में जिस जोर-शोर से बुद्धिवादी नाटकों का जन्म हो रहा है उसके अनेक कारणों की ओर हम समुचित संकेत दे चुके हैं। मूलतः विज्ञान तथा मानवता आधुनिक युग के दो विशाल स्तंभ हैं। जहाँ कहीं हम सौन्दर्यात्मक आनन्द की प्राप्ति आजकल होती है हम बरबस संतुष्ट नहीं होते—हमारी तितिक्षा तथा सत्यानुसरण की भावना सदैव हमें असन्तुष्ट रखती है। हम यह आग्रह करते हैं कि कला हमें सूझ दे और हमारा मार्ग प्रशस्त करे। फ्रांसीसी नाटककार मुलियर की तरह आधुनिक कलाकार पात्रों को केवल किसी हास्यास्पद बुराई का प्रतीक मानकर नाटक-रचना नहीं करते; वे यह भी नहीं चाहते कि कुछ साधारण पारिवारिक आदर्शों का प्रतिपादन किया जाय। उनका ध्येय सामयिक समस्याओं पर तर्क रूप में विचार करना रहता है। वे पति-पत्नी संबंध; माता और शिशु के संबंध, श्रमिक वर्ग तथा पूंजीपति के संबंध की कटु सत्यता प्रदर्शित करना चाहते हैं। विवाह-विच्छेद, आत्मसम्मान, रोग और व्याधि; कलाकार की स्वतन्त्रता, वृद्धावस्था तथा युवावस्था के द्वन्द्व तथा मातृक और पैतृक संबंधो पर खुले और स्पष्ट रूप में वे तर्क सहित विचार करेंगे। इस संबंध में प्रश्न यह उठता है कि क्या नाटकों में सुधार की भावना श्रेयस्कर है? क्या नाटकों को किसी सिद्धान्त प्रतिपादन का साधन बनाने से उनकी कला को क्षति

पहुँचेगी? इस प्रश्न पर मतभेद है—एक वर्ग के आलोचक यह कहते हैं कि बिना किसी बुद्धिवादी समस्या के प्रदर्शन के नाटक-रचना व्यर्थ है। इसके प्रदर्शन में ही लेखक, पाठक तथा समाज का कल्याण है। और जब तक नाटककार किसी वैज्ञानिक विचार का आधार नाटकों में नहीं लेता, और सामाजिक सत्यों का प्रदर्शन नहीं करता तब तक वह विफल तथा निष्प्राण रहेगा। नाटक के आनन्द का माप उसमें बौद्धिक अंश की उपस्थिति मात्र होगा। वही उसकी श्रेष्ठता का निर्णायक होगा।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के विरोधी वर्ग का यह अनुमान है कि सुधार की भावना का प्रचार करने वाले नाटक कलाहीन होंगे। यह उनका ध्येय ही नहीं; और जो नाटक सुधार की भावना का प्रसार करेंगे अत्यन्त अपरिपक्व होंगे अथवा वे ऐसे युग में लिखे जायेंगे जो हीन तथा निकृष्ट होगा। सुधार के विचारों से ओत-प्रोत नाटक एक औषधालय समान होगा। जहाँ हम अपनी व्यथाओं और रोगों का निदान ढूँढ़ने जायेंगे। नाटकों का पठन पाठन तो एक प्रतिभोज समान है जहाँ हमें मनोनुकूल सुरुचिपूर्ण भोजन तथा आनन्द प्राप्त होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक बुद्धिवादी तथा समस्यात्मक नाटक जो केवल विचारों को ही महत्व देते हैं, केवल तर्क और विवाद द्वारा उद्बुद्ध होते हैं, उनके पात्र-वर्ग कठपुतली मात्र होंगे और उनकी कला तर्क और विवाद से आतंकित रहेगी और उनका प्रमुख ध्येय हमारी विचार-शक्ति को ही जाग्रत करता रहेगा। वे केवल कोरे विचारों के अमूर्त-रूप[1] का प्रसार करेंगे और प्रायोगिक जीवन से कहीं दूर रहेंगे।

---

१. यह निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि इब्सेन के नाटकों में विचारों की अमूर्तता नहीं और उनके पात्र भी कठपुतली नहीं। वे जीते-जागते हमारे परिचित प्राणी हैं। यह भी सही है कि उनके नाटक एक

४

बुद्धिवादी नाटकों के विषय

जिन नाटकों में बुद्धिवाद का प्रसार पहले पहल हुआ उनके प्रमुख विषयाधार मनुष्य की आत्म-सिद्धि के प्रश्न थे। किन-किन साधनों द्वारा मनुष्य अपने को पहचान सकता है; उसकी आत्म-सिद्धि के लिए कौन-कौन से गुण आवश्यक होंगे; उनका आदर्श क्या होना चाहिये; इस आत्म-सिद्धि की साधना में उसे कौन-कौन सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा? इन्हीं विचारों के आधार पर बुद्धिवादी नाटक रचे गए। इन नाटकों में कहीं तो इच्छा-शक्ति तथा भाग्य और कहीं आदर्शवादिता तथा मानवी आवश्यकताओं[2] का विषमद्वन्द्व प्रदर्शित

विशेष तर्कपूर्ण मानसिक सुव्यवस्था की ओर निर्देश देते हैं जिनके अनुसरण से हमारा जीवन सार्थक, पाखण्डहीन तथा मानवी होगा।

२. धार्मिक क्षेत्र में ईब्सेन लिखित 'ब्रैन्ड' इसका सफल उदाहरण है। ब्रैन्ड नामक पादरी अपने धार्मिक जीवन का आदर्श—'सर्वस्व न्योछावर करो' का अनुसरण करते हुए भाग्य और मानवी आवश्यकताओं से टक्कर लेते हैं। उनमें अपार धार्मिक श्रद्धा है; अपने आदर्श की ज्योति जगाते हुए वे एक दुःखी व्यक्ति को आत्मिक शान्ति देने के लिये तूफान में नदी पार करते हैं: एक भी माँझी उनका साथ नहीं देता। वह अपनी मरणासन्न माता को आत्मिक शान्ति देने इसलिए नहीं जाते कि वह धनलोलुप है, और जब तक वह अपना सब धन धर्म-प्रसार में लगाने का वचन नहीं देती वह अपने प्रण से नहीं डिगते; वह उसी स्त्री से विवाह करते हैं जो धर्म की मर्यादा आजन्म निबाहने का वचन देती है; उनकी मरणासन्न बालिका उन्हें अपने धर्मस्थान का त्याग नहीं करा सकती; उसकी मृत्यु होती है; उसके पुराने वस्त्रों को भी माता अपनी सान्त्वना के लिये नहीं रख सकती और वह उसे एक नंगे

किया गया है। इच्छा-शक्ति तथा भाग्य के द्वन्द्व स्वरूप मनुष्य त्रारा पाता है; अपनी इच्छा-शक्ति का अनुसरण करते हुए उसे भाग्य के

भिखारी परिवार को दे देने पर विवश की जाती है; वह माता के धन से गिर्जे का निर्माण करते हैं परन्तु कुछ अनुयायी ऐसे है जो उनके इस कार्य में स्वार्थ साधन देखते हैं। इस परिस्थिति से ऊब कर वह पर्वतों पर भाग जाते हैं: क्योंकि वहीं पर वह एकाग्र हो धर्म की सेवा कर सकेंगे। उनके सब अनुयायी उनका साथ छोड देते है और अन्त मे एक शिकारी बालिका के हाथ की बन्दूक अनायास छूट जाती है और वर्फ के शिलाखण्ड गिरने लगते हैं और ब्रैन्ड की मृत्यु होती है। ब्रैन्ड अपने जीवन में क्यों विफल होते है ? उनके आदर्श तो महान् हैं उनकी मृत्यु क्यों होती है ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है उनके आदर्शों में न तो कोई बुराई है और न कमी है। कमी है उनकी अन्धी इच्छा शक्ति में और उस शक्ति की अजेयता में जो मनुष्य को पीसती चली जाती है। और फिर सब से बड़ी कमी है उनके चरित्र में जिस पर धर्मान्धता का आवरण चढ़ा हुआ है। धर्म-हठ सब हठों में सर्वोपरि है और जो उसका शिकार हुआ उसे सांसारिक जीवन में सफलता नहीं प्राप्त होगी। 'सर्वस्व न्योछावर करो' सिद्धान्त हठ-धर्मी की पराकाष्ठा है जो प्रेम तथा मानवता का गला घोंट देती है। यह दुःखान्तकी दुधारी तलवार के समान प्रतीत होती है: एक ओर तो वह धर्म के नाम की माला जपने वालों और समय आने पर झुकर जाने वालों पर व्यग्य-बाण बरसाती है और दूसरी ओर धर्मादर्श पर भी कुठाराघात करती है। जिस धर्म को कार्य में परिणत करने का फल यह हो कि मनुष्य को जाने गँवानी पड़े उस धर्म को क्या कहा जाय। ब्रैन्ड स्वयं तो दूषित आदर्शवाद से प्रेरित हैं और उनके यजमान घोर पाखण्डी हैं। आदर्श का पालन अत्यन्त श्रेष्ठ गुण है परन्तु इसका ध्यान रहे कि वह आदर्श कार्य में परिणत करने योग्य है भी या नहीं। इस दु:खान्तकी द्वारा यह सत्य प्रसारित जान

थपेड़ों को सहन करना पड़ता है और अन्त में भाग्य की मजबूत दीवाल के सामने वह सिर पटक कर प्राण तज देता है। ऐसा कदाचित ही हुआ हो कि इच्छा-शक्ति ने भाग्य पर विजय पायी हो। उपर्युक्त द्वन्द्व हम केवल एक ही मानवी-क्षेत्र में नहीं वरन् सभी क्षेत्रों

पड़ता है कि जहाँ तक श्रेष्ठ आदर्शों के निर्माण का प्रश्न है वहाँ तक तो श्रेष्ठातिश्रेष्ठ सिद्धान्तों तथा आदर्शों का निर्माण होना चाहिये : विचार तथा आध्यात्म-जगत में ऐसा होना भी चाहिये परन्तु जहाँ उनकी सिद्धि और उन्हें कार्य में परिणत करने का प्रश्न है मनुष्य को समझौता करना ही पड़ेगा। हाँ, यह ध्यान अवश्य रहे कि इस समझौते में स्वार्थ, कपट तथा असत्य की छाया न हो। आदर्शवादी सुधारक के लिये यह अत्यावश्यक है कि अपने आदर्शों को वह आँखों से ओझल तो न होने दे परन्तु मानवी कमजोरियों को भी न भुलावे।

इसी विषय के दूसरे पहलू पर लिखा गया 'पीयर जिन्ट' नामक नाटक है। पीयर जिन्ट पग-पग पर अवसरवादी है : अवसरवाद ही उसका श्रेष्ठ आदर्श है वह कभी अपने स्वार्थ को, अपने आनन्द को, अपने व्यवसाय को छोड़ और कुछ सोचता ही नहीं—मानों संसार उसकी स्वार्थ-सिद्धि कर विशाल क्षेत्र हो। जीवन भी उसके लिए व्यवसाय मात्र है : अपने स्वार्थ की परिधि के बाहर वह निकल ही नहीं सकता—यही उसका अभिशाप है। उसके पिता में भी वासना कुट-कूट कर भरी थी और उसके बहुत से अंश पुत्र में भी आ गये थे। एक छोड़ दूसरे से वह ऐसे ही प्रेम करता है जैसे मनुष्य चोला बदलता है। उसका एक ही आदर्श है 'स्वार्थ-साधन में सब कुछ उत्सर्ग करो'। इस आदर्श का अनुसरण करते-करते वह पागलों की दुनियाँ में जा बसता है। अन्त में दुःखी, त्रस्त, और विह्वल पीयर जिन्ट आत्मा की पुकार सुनता है, जो उसकी एक पुरानी तिरस्कृत प्रेयसी के सहवास द्वारा उठती है। परन्तु अब कुछ नहीं हो सकता। मृत्यु उसका आवाहन करने आ गई। इस

में व्यापक रूप से देखेंगे। पारिवारिक तथा सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों से संबंधित मानसिक अथवा बुद्धिवादी क्रान्ति विषयक विचारों को आधुनिक साहित्यकारों ने सहर्ष अपनाया। वैवाहिक जीवन की विषमता; चरित्र निर्माण में माता तथा पिता का प्रभाव, राजनीतिक दलबन्दी तथा उसके पाखण्ड और सामाजिक बन्धनों के आडम्बर पर गम्भीर विचार किया गया। विवाह-व्यवस्था[1] प्रेम का

नाटक द्वारा आत्मसिद्धि के दूसरे साधन पर प्रकाश डाला गया—यह साधन है स्वार्थ-परता। इसकी भी विफलता हम देख चुके। स्वार्थ हमारी आँखों पर पट्टी बाँध देता है। हम शैतान के साथी बन जाते हैं। हममें देखने की शक्ति चाहिये; हममें आध्यात्मिक अनुभूति की क्षमता चाहिये तभी हमारी आत्म-सिद्धि हो सकेगी। हमें त्राण तभी मिलेगा जब अपने को हम समझें और अपनी कुत्सित भावनाओं का शमन करें। बुद्धिवाद का अनुसरण करते हुए लेखक ने हमारे व्यवसायी जीवन की घोर स्वार्थ परता पर विकट प्रहार किये हैं। सभ्यता का प्रसार करने के लिये हम धर्म पुस्तकें बेचते हैं; गोले बारूद बनाते हैं और बेचते हैं केवल इसीलिये कि हमारे भाई युद्ध में उसके शिकार हों। इसी दूषित पूँजी से हम गिर्जे बनवाते हैं; ईश्वर को ठगने का प्रयत्न करते हैं। धन्य हैं हम।

१. 'कामेडी आव लव'; 'डाल्स हाउस'; 'गोस्ट्स'। इन नाटकों में व्यक्ति तथा व्यवस्था का द्वन्द्व प्रदर्शित है; और व्यक्तिगत आत्मा का विश्लेषण ही इनका मुख्य आकर्षण है। 'डाल्स हाउस' की नायिका अपने पति और उसके प्रेम पर अपार श्रद्धा रखती हुई, न्याय की दृष्टि से अपने को खतरे में डालकर उसकी सहायता धन से ऐसे समय करती है जब पति रोगग्रस्त है। रोगमुक्त होकर जब वह सम्पन्न होता है तो उसे अपनी पत्नी की गलती मालूम होती है क्योंकि वह एक अन्य सहयोगी की सहायता करना चाहती है जो उसके आड़े समय काम

घातक है: उसका घोर शत्रु है। देश-प्रेम[1] केवल स्वार्थ-सिद्धि की टट्टी है जिसकी आड़ से स्वार्थान्ध शिकार खेला करते है। समाज-सेवा[2]

आया था। पति महोदय उसे त्यागने की धमकी देते हैं; त्याग भी देते हैं, परन्तु जब बदनामी का डर हट जाता है तो फिर उनका प्रेम उमड़ता है। परन्तु अब देर हो गई है; पत्नी, पति के हाथ का खिलौना न होकर अपने व्यक्तित्व को पहचान लेती है। अपने बच्चों तथा पति को निःसंकोच तजकर अपनी आत्मसिद्धि के लिये निकल पड़ती है।

१. 'द लीग आव यूथ' का नायक जब अभिजात वर्गों द्वारा तिरस्कृत होता है तो प्रजातन्त्र की रक्षा के सिद्धान्तों पर पंचम-स्वर में व्याख्यान देता है और जनता का नेता बन बैठता है, परन्तु ज्योंही उसे बड़े व्यक्ति के यहाँ दावत का निमन्त्रण मिलता है वह अभिजात वर्ग की श्रेष्ठता की प्रशंसा के पुल बाँधता है और उन सभी व्यक्तियों से समझौता करना चाहता है जो उसकी स्वार्थ-साधना में सहायक होंगे। 'ऐन एनिमी आव दि पीपुल' में प्रजातन्त्र के झूठे आदर्शों की कटु आलोचना की गई है।

२. 'द पिलर्स आव सोसायटी'—नायक अपने पाखण्ड के बल पर जनता का नेता बना हुआ है। वह स्थान विशेष में रेल की लाइन निकालने के विरुद्ध इसलिये है कि स्वतः उसके व्यवसाय को धक्का लगेगा, उसके पास नावों पर सामान ढोने का ठेका है। वह एक अन्य स्थान में रेलवे लाइन निकालने के पक्ष में इसलिये है कि इसके फलस्वरूप वहाँ की जमीन की कीमत बढ़ जायगी और उसे लाखों का लाभ होगा। वह धन के लिये विवाह करता है; अपने शत्रु से बदला लेने के लिये उसको एक ऐसे जहाज पर भेजता है जो निश्चय ही डूब जायगा, परन्तु अभाग्यवश उसका पुत्र उसमें चोरी से छिपकर बैठ जाता है और उसके क्रूर नियन्त्रण से निकल भागना चाहता है। ऐसी विकट परिस्थिति में उसे आत्मग्लानि होती है। वह अपने पुत्र को बचाने दौड़ पड़ता है;

नाटकीय कार्य के प्रदर्शन में उन्होंने प्राचीन यूनानी नाटककारों के सिद्धान्त ही अपनाये और देश, काल, कार्य के समन्वय की महत्ता प्रदर्शित की। उन्होंने इस सिद्धान्त को इसलिये नहीं मान्य समझा कि वे श्रेष्ठ यूनानी साहित्यकारों के सिद्धान्त थे वरन् इसलिये कि इनके द्वारा उनकी कला को सहायता मिली।

इब्सेन के नाटकीय विषयों का मूल आधार मनुष्य की आत्मा है। आत्म-जगत की परिधि में ही उनकी कला अपने उत्कर्ष पर पहुँचती है : मनुष्य के बाह्य जगत् से उन्हें न तो मतलब ही रहता है और न उसे वह महत्वपूर्ण ही समझते हैं। प्राचीन रंगमंचों पर प्रदर्शित नाटकों की धूम-धाम तथा वातावरण का उत्तेजनापूर्ण प्रदर्शन उन्हें प्रिय न था क्योंकि ये पाठक वर्ग का ध्यान मनुष्य के आत्म-संसार से हटाकर उसके बाह्य-संसार पर केंद्रित कर देते थे।

मनुष्य के आत्म-जगत् के द्वन्द्वपूर्ण उत्कर्ष की कहानी ही उन्हें प्रिय थी; और इस कहानी का प्रदर्शन शेक्सपियर के नाटकों के विपरीत एक छोटे कमरे अथवा सड़क पर आरम्भ होता है। अधिकांश कार्य केवल छोटे-मोटे कमरों में ही सम्पन्न होता है और कार्य भी विस्तृत नहीं रहता। उनके दो एक नाटकों में वक्तृत्व के प्रयोग की झाँकी मिल जाय तो मिल जाय परन्तु साधारणतः रंगमंच पर बहुत कार्य सम्पन्न नहीं होता है : न तो वहाँ मल्लयुद्ध और न सेनाओं का परिचालन ही होता है; वहाँ हत्यायें भी नहीं होतीं—आत्महत्या भी नहीं। अधिकतर पात्रों के मृत्यु की सूचना मात्र कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रूप में दे दी जाती है।

ऐसे नियमों की परिधि में नाटकीय कार्य प्रदर्शन के लिये यह आवश्यक हो गया कि नाटककार संवाद पर ही अधिक जोर दे और उसी को कार्य की प्रगति का आधार माने। इब्सेन की संवाद-कला अत्यन्त सहज, सरल तथा स्वाभाविक होती है। उसमें न तो कवित्व के तत्त्व रहते हैं और न वक्तृता की चीख-पुकार; उसमें कोई विशेष

साहित्यिकता भी नहीं होती। उनके संवाद जीवन के इतने समीप होते हैं कि उनके बातचीत के टूटे-फूटे अंश साधारणतः पाये जाते हैं और उनके कुछ प्रतीकात्मक नाटकों में तो इस नैसर्गिक संवाद की महत्ता और भी बढ़ जाती है।

इब्सेन के नाटकों का सबसे महत्त्वपूर्ण गुण है कार्य का आदि। अधिकतर तो उनके नाटक ऐसे स्थल से आरम्भ होते हैं जो अन्त के बहुत समीप रहता है और धीरे-धीरे पूर्ववर्ती भावों अथवा घटनाओं की सूचना मात्र संवाद द्वारा दे दी जाती है। कभी-कभी तो उनके नाटकीय पात्रों के संबंध तीसरे अथवा चौथे अंक तक नहीं स्पष्ट होते और दर्शक वर्ग की उत्सुकता तीव्र होती जाती है। साधारणतः नाटक के मध्य भाग तक का कार्य रंगमंच पर प्रदर्शित न होकर सूचना रूप से मिलता है और यही शैली श्रेष्ठ यूनानी नाटककारों की भी रही है।

इब्सेन अपनी कला में यथार्थवादी भी हैं और प्रतीकवादी भी। नाटकों की संयोजित व्यवस्था, वेश-भूषा, प्रेरणायें, संवाद इत्यादि में तो वह पूरे यथार्थवादी हैं—कहीं कोई स्वार्थी तथा प्रतिशोध से उत्तेजित व्यक्ति अपने शत्रु को एक टूटे-फूटे जहाज पर यात्रा कराने की व्यवस्था करता है; कहीं कोई माता अपने पुत्र से पिता के पापों को छिपाती है क्योंकि पिता ने ही अपना रोग अपनी सन्तान को दिया है; कहीं कोई चिकित्सक मोतीझरा के कीटाणुओं को उस जल में पाता है जिसे जनता प्रयुक्त करती है और जनता ही उसका विरोध करती है; कहीं कोई पति वैवाहिक जीवन में बहुत काल रहने के बाद अपनी पत्नी का त्याग केवल इसलिये करता है कि उसकी पत्नी के पिछले जीवन के विषय में उसे कुछ उड़ती हुई खबरें मिली हैं; और कहीं कोई कैदी जेल से छूटने के पश्चात् अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा पुनः प्राप्त करने की चेष्टा करता है। ये सभी विषय यथार्थवादी ही हैं। उनके नायकों की टोली भी आकर्षक है। कहीं पर राजनीति क्षेत्र के जुआड़ी हैं; कहीं घोर अवसरवादी; कहीं हठधर्मी; कहीं पिता के रोगों

को भुगतते हुए युवा हैं; और कही अपनी आत्मा को भुलावे में डाले हुए स्वार्थ-साधक। उनके स्त्री पात्रों में भी काफी विभिन्नता है—कहीं वे स्त्रियाँ हैं जो परित्यक्ता हैं; कहीं स्वयं परित्याग करने वाली है, कहीं आत्महीन होते हुए भी स्वतन्त्रता की पुजारिन हैं; और कहीं मध्यमवर्गीय परिवार की सन्तुष्ट खेलती-खाती स्त्रियाँ हैं। हाँ उनके नाटकों में दो प्रकार के व्यक्ति नहीं : श्रेष्ठ अथवा आदर्श मनुष्य तथा श्रेष्ठ और आदर्श स्त्री-पात्र।

यथार्थवाद तथा प्रतीकवाद का जो समन्वय इब्सेन ने अपने नाटको में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है उसके कारण उनके कुछ नाटकों के अनेक अंश दुरूह हो गये हैं। उनके प्रतीक कभी तो स्पष्ट रहते हैं परन्तु उनका अधिकांश अस्पष्ट ही रह जाता है—इसका कारण यह है कि वे केवल कलाकार ही नहीं कवि और दर्शनवेत्ता भी हैं और जीवन के तत्वों को परखने का प्रयत्न करते हैं और इस कार्य में जरा भी नहीं झिझकते। अच्छा तो इब्सेन के दार्शनिक सिद्धान्त हैं क्या ?

यद्यपि इब्सन ने अपने को कवि ही अधिक माना और दर्शनज्ञ कम फिर भी अपने नाटकों में उन्होंने जो प्रश्न पूछे और उनके उत्तरों की ओर जो संकेत दिया उसके आधार पर हम उनके दार्शनिक विचारधारा की रूप-रेखा सरलता-पूर्वक बना सकते हैं। अपने नाटकों में जो-जो दृष्टिकोण उन्होंने प्रस्तुत किये उसके द्वारा प्रमाणित है कि उनके दृष्टिकोण वैयक्तिक, व्यंग्यात्मक, तथा स्वयंवादी[1] हैं।

यों तो इब्सेन के सभी नाटकों में व्यंग्य की कटुता का प्रसार है परन्तु समाज तथा परिवार से सम्बन्धित नाटकों में उनका व्यंग्य कटुता की सीमा को पार कर मनुष्य को बर्बर अथवा नर्क का कीड़ा बनाकर छोड़ देता है। वे न तो सामाजिक शिष्टाचार और न किसी

१. देखिये 'काव्य की परख'

विशेष सामाजिक कुरीति पर अपने व्यंग्य बाण बरसाते हैं : उनका क्षेत्र जैसा हम पहले कह चुके हैं—मनुष्य का आत्म-जगत है। वे विशेषतः उन आदर्शों तथा उन व्यवस्थाओं से सम्बन्धित आचार-विचार को अपने व्यंग्य का शिकार बनाते हैं जो मनुष्य ने अपने दैनिक जीवनयापन के लिए बहुत दिनों से बना रखा है। जिन आदर्शों को मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा में ध्रुवतारा मानकर चलता है उसकी निस्सारता तथा उसकी निरर्थकता वह सदैव प्रदर्शित करेंगे। उनका विचार है कि ये कोरे आदर्श जो मनुष्य अपने को धोखा देने के लिये बनाता है मनुष्य को ऐसे मार्ग पर पहुँचाते हैं जहाँ उसकी रक्षा नहीं हो सकती। अपने आदर्श पालन में मनुष्य जिस तर्क के सहारे चलता है उसका अन्तिम फल अत्यन्त विषम तथा घातक होता है। ये आदर्श वास्तव में कोरे आदर्श मात्र होते हैं और उन्हें कार्य में परिणत करना कोरी मृग-तृष्णा ही होगी। वे कार्य में परिणत तो होते नहीं परन्तु मनुष्य उन्हीं की दुहाई दिया करता है जिसका फल होता है—कपट और पाखण्ड। हो सकता है कि दो एक ऐसे व्यक्ति निकल आयें जो अपने आदर्श-पालन में बहुत कुछ सफल हो जायँ परन्तु उनके लिये भी वह घातक ही सिद्ध होगा। संसार में कदाचित् झूठे आदर्शों से बढ़कर मनुष्य के लिये और दुर्भाग्य की वस्तु क्या हो सकती है? समाज के मिथ्यादर्श मानवता के कलंक हैं; उनके वशीभूत मनुष्य या पाखण्डी बनेगा या मृत्यु का ग्रास। इसलिये यह आवश्यक है कि मनुष्य मिथ्यादर्श त्याग दे; अपने को पहचाने; स्वतन्त्र हो जाय।

इब्सेन का आग्रह है कि मनुष्य की आत्म-सिद्धि तभी होगी जब वह वैयक्तिक दृष्टिकोण अपनायेगा। सामूहिक व्यवस्थाओं के वे घोर विरोधी हैं। सत्यता और स्वतन्त्रता का सबसे बड़ा शत्रु है----संगठित बहुमत। अल्पसंख्यक ही साधारणतया सत्य पथ पर रहते हैं और यों तो संसार में सबसे शक्तिशाली वही व्यक्ति है जिसमें अकेले खड़े होने की क्षमता है। वैयक्तिकता हमारे धर्म-क्षेत्र में ही नहीं वरन् सामाजिक

क्षेत्र में भी फलप्रद होगी और उसके द्वारा मनुष्य की आत्म उन्नत होगी।[1] परिवार भी तभी सन्तुष्ट और सुखी होगा जब उसमें स्वतन्त्र व्यक्तियों के लिये स्थान होगा : जिस किसी परिवार में अयोग्य तथा पाखण्डी व्यक्तियों की प्रतिष्ठा रहेगी वह परिवार न तो उन्नति करेगा और न उसके द्वारा समाज का हित होगा। जहाँ व्यक्ति का सुधार हुआ, समाज—जो व्यक्तियों का समूह है—अपने आप ही समुन्नत होता जायगा।

व्यक्ति की उन्नति के लिये यह अत्यावश्यक है कि वह अपनी इच्छा-शक्ति के माध्यम द्वारा अपनी आत्माभिव्यंजना सत्य तथा स्वतन्त्ररूप से करे : उसके लिये वही कार्य श्रेष्ठ है जिसके द्वारा उसकी आत्म सिद्ध हो : यही मनुष्य का श्रेष्ठ धर्म है।

विचारक की हैसियत से इब्सेन उन व्यक्तियों को तिरस्कृत करते हैं जो पग-पग पर समझौते को ही आदर्श मानकर अपनी आत्म-हानि किया करते हैं। जो मनुष्य[2] सतत अपने पार्थिव लाभ के लिये समझौते का सिद्धान्त बघारा करता है अपनी आत्म-सिद्धि कभी भी नहीं कर सकता। जीवन में वह विफल ही रहेगा।

इब्सेन यद्यपि वैयक्तिकता का आदर्श प्रसारित तो करते हैं परन्तु इस सिद्धान्त की कमजोरी तथा न्यूनताओं से भी पूर्णतः परिचित हैं। उनके अनेक नाटक जो वैयक्तिकता के सिद्धान्त पर आधारित हैं उसकी सीमायें भी निर्धारित करते हैं और मानवी तथा नैसर्गिक आवश्कताओं[3] पर अधिक जोर देते हैं। जो नायक वैयक्तिकता से

---

१. 'ए डॉल्स हाउस'; 'गोस्ट्स'

२. 'पीयर जिन्ट'

३. 'ब्रैण्ड'। नायक की विफलता का कारण उसकी वैयक्तिकता नहीं : उसका कारण यह है कि वह धर्मान्ध हो जीवन में 'प्रेम' को महत्व नहीं देता।

उत्साहित हो, जीवन के परिवर्तन-शील नियमों की मर्यादा की रक्षा नहीं करते 'वह भी विफल रहेंगे। कोरी वैयक्तिकता भी घातक होगी। ज्यों-ज्यों मनुष्य का नैतिक उत्तरदायित्व बढ़ता जाय त्यों-त्यों उसे त्याग करने पर तत्पर रहना श्रेयस्कर तथा आत्मसिद्धि में लाभप्रद होगा। अपने सभी नाटकों में इब्सेन परार्थ-जीवन सिद्धान्त तथा वैयक्तिक जीवन सिद्धान्त का घोर संघर्ष दिखलाने के पश्चात् यह संकेत देते हैं कि मनुष्य को आत्म-सिद्धि के पथ पर अग्रसर होते हुए दूसरों के हित के लिये जीना श्रेयस्कर है : इस द्वन्द्व को प्रदर्शित करने में वे सिद्धहस्त हैं।

जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं मनुष्य के आन्तरिक अथवा आत्म-जगत में ही इब्सेन अपने नाटकों की कथावस्तु ढूँढ लेते हैं और मनुष्य की आत्मा से बढ़कर वह दूसरी अन्य वस्तु श्रेष्ठ नहीं समझते। अपनी आत्मा के प्रति सत्य व्यवहार करो; वाह्य उपकरणों को महत्व-हीन समझो क्योंकि स्वर्ग वास्तव में मनुष्य की अन्तरात्मा में ही प्रतिष्ठित है : वाह्य उपकरणों से निर्वाण सम्भव नहीं; वह तो केवल आत्मा की महादशा है। सामाजिक नियम, धर्माचार, रीति, शिष्टाचार, लोकाचार सभी तभी तक मूल्यवान रहेंगे जब तक वे आत्मा को उसकी महादशा तक ले जाने में सहायक होंगे और आत्मा का नियन्त्रण मानेंगे। जो भी व्यावस्थायें तथा रीति-रिवाज बने हैं व्यक्ति की उन्नति के लिए ही बने हैं : व्यक्ति ही उनका भोक्ता है वे व्यक्ति में भोक्ता नहीं। वाह्य आचार-विचार जो आत्म-सिद्धि में रोड़े अटकायें उन्हें निकाल फेंकना चाहिए क्योंकि व्यक्ति का निर्णय ही सत्य-निर्णय है : अचार-विचार का वाह्य नियन्त्रण मनुष्य की आत्मा को कुण्ठित ही नहीं करेगा उसके लिए घातक भी होगा। लेखक का यह दृढ़ निश्चय है कि मनुष्य की आत्म-सिद्धि ही उसका प्रमुख कर्तव्य और उसका महान धर्म है : यदि मनुष्य अपनी आत्मा के प्रति सत्य-व्यवहार करे तो वह सहज ही दूसरे से भी सत्य-व्यवहार करेगा। इब्सेन का

विश्वास है कि यद्यपि संसार में बहुत कुछ खराबियाँ हैं: अनेक बुराइयाँ है, अस्तव्यस्तता है, फिर भी मनुष्य अपनी आत्म-शक्ति से उनका कुछ सुधार कर सकता है : ससार को सभ्य तथा सुसंकृत बना सकता है।

इब्सेन की कला श्रेष्ठता का विवेचन करते हुए यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि उनकी कला तथा उनके सिद्धान्तों का मूल्यांकन भी किया जाय। जहाँ हमें उनकी कला की श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ती है वहाँ उनके आदर्शों की न्यूनता को भी स्वीकार करना पड़ेगा। इब्सेन की शैली श्रेष्ठ होते हुए भी अह-भाव से बहुत अश मे दूषित है; उनके सिद्धान्त जो भी हैं रचनात्मक होने हुए अधिकांश रूप में विनाश कर हैं। जिन-जिन सामाजिक संस्थाओं की उन्होंने खिल्ली उड़ाई और जिन-जिन पर उन्होंने व्यग्य बाण बरसाये उनको ध्वस करने के उपरान्त हम उनकी जगह किन सस्थाओं को दें इस प्रश्न का वे कोई उत्तर नहीं देते। उनकी कसौटी पर मैत्री तथा पितृ और मातृ-प्रेम कभी भी खरे नहीं उतरते और वे बार-बार हमारी दृष्टि अन्दर की ओर फेरते रहते हैं। विवाह-विधान की विषमता पर तो उन्होंने जितने कटु प्रहार किए उतने शायद ही किसी अन्य आधुनिक साहित्यकार ने किए हो : परन्तु उस विधान का स्थान कौन सी अन्य व्यवस्था ले इस ओर वे जरा भी सकेत नहीं करते। इसमे सन्देह नहीं कि इब्सेन की लेखनी जिन दम्पतियों का चित्र खींचती है वे दम्पति ऐसे हैं जिनमें ऐसी न्यूनतायें हैं जो उन्हें एक दूसरे के अनुपयुक्त बना देती हैं, परन्तु इस अनुभव पर किसी सार्वभौम सिद्धान्त का निर्माण तर्कपूर्ण नही। परन्तु इतना होते हुए भी इब्सेन के नाटको ने आधुनिक समाज में जो उथल-पुथल पैदा की वह श्रेष्ठ साहित्यकार ही कर सकता था। उन्होंने आत्म-जगत में क्रान्ति करने की जो आवाज उठाई उसका आधुनिक विचार-धारा पर बहुत

गम्भीर प्रभाव पड़ा है। वे कवि हैं, भविष्यवक्ता हैं; सुधारक हैं तथा सत्य के पुजारी हैं।

६

अन्य आधुनिक विषय

इब्सेन ने जिस तीव्रगति से बुद्धिवाद का साहित्यिक प्रचार किया उसका अत्यन्त गम्भीर अनेक देशों के नाटकों तथा नाटककारों पर कहीं तो अव्यक्त और कहीं स्पष्ट रूप में पड़ा। इब्सेन के बुद्धिवाद ने आधुनिक यथार्थवाद को जन्म दिया जिसका प्रमुख उद्देश्य था—दैनिक जीवन का प्रदर्शन तथा सामयिक समस्याओं का अनुशीलन।

यथार्थवाद ने साहित्य, विशेषतः नाटक के विषय-क्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत कर दिया और पात्र तथा विषय रूप में उन व्यक्तियों को स्थान मिलने लगा जो इस महत्व से अब तक वंचित रहे। साधारण जनता श्रमजीवी, रोगग्रसित तथा पीड़ित, भूखे और नंगे, शोषित वर्ग, पापी तथा प्रायश्चित्त न कर सकने वाले, जानवरों के समान जीवन यापन करने वाले, और बर्बरतापूर्ण, मांस के टुकड़ों पर अपनी तृष्णा बुझाने वाले--जिन्हें आधुनिक समाज नर्क के कीड़ों के नाम से संबोधित करता है--नाटकों में पात्र रूप में रहने लगे। जिन लेखकों ने इस वर्ग के पात्रों को नाटकों में आश्रय दिया उनका विचार था कि समाज के सभी वर्गों के जीवन का परिचय पाठक-वर्ग को प्राप्त करना चाहिए। उन्हें सम्पूर्ण जीवन से परिचित होना चाहिए। प्राचीन तथा मध्ययुग के नाटककार श्रेष्ठ वर्ग के व्यक्तियों को आधार मान कर नाटक रचना करते थे; आधुनिक युग निम्न-वर्ग के प्राणियों को नायक तथा नायिका बनाएगा और उनके सुख-दुःख का समुचित प्रदर्शन करेगा।

समय की यही माँग है : इस माँग को सभी साहित्यकारों को पूरा करना पड़ा।

जहाँ इब्सेन ने अपने नाटकों के पात्रों के भाग्य-निर्णय में पैतृक तथा मातृक प्रभावों पर अधिक जोर दिया और मनुष्य की विफलता में उन प्रभावों को ही विशेषतः दोषी ठहराया, ठीक इसके विपरीत अन्य साहित्यकारों[1] ने वातावरण पर ही अधिक उत्तरदायित्व रखा। परन्तु वास्तव में मनुष्य की विफलता का उत्तरदायित्व किस पर रखा जाय—चरित्र पर, वातावरण पर, अथवा अपने पूर्वजों पर जिनकी हम सन्तान हैं—इस प्रश्न का सही हल अब तक कोई भी कलाकार समुचित रूप में नहीं दे सका। यह निर्विवाद है कि हमारे चरित्र पर—हमारे माता-पिता, भाई-बहिन, संगी-साथी, वर्ग-विशेष, पुस्तकाध्यान, कला तथा प्रकृति के अनेक मनोरम दृश्य----सब की कुछ न कुछ छाया अवश्य पड़ती रहती है। इसी को वातावरण का प्रभाव कहेंगे। परन्तु वातावरण पर उत्तरदायित्व रखने के पहले हमें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि अनेक व्यक्ति ऐसे भी हैं और हुए हैं जो इन अनेक प्रभावों से परे भी रहे हैं और उनमें ऐसी मानसिक हीनता थी कि वे कोई अन्य प्रभाव ग्रहण ही नहीं कर सकते थे। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि हमारी आत्मा, हमारे आन्तरिक जीवन तथा हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व के जो गुण रहते हैं वे या तो ईश्वर-जगन्नियन्ता या हमारे पूर्वजों अथवा वंश-परम्परा द्वारा प्राप्त होते हैं। इस नियम के अपवाद कम नहीं : अनेक महान् कलाकारों की जीवनी[2] तथा उनकी साहित्यिक कला इसका प्रमाण है।

वातावरण के फलस्वरूप मनुष्य चरित्र किस प्रकार दूषित होता है और उस दोष के कारण वह कितनी आपदायें तथा मानसिक व्यथा

---

१ लियो टाल्सटाय

२. शेक्सपियर; कबीर; सूरदास

सहन करता है—इस विषयाधार पर अनेक नाटक लिखे गये।[1] दूषित आचरण जो हमारा सहज स्वभाव हो जाता है आगे चल कर समस्त समाज को प्रभावित करता है और धीरे-धीरे जो भी हमारे सम्पर्क में आता है कुछ न कुछ दोष अपने साथ ले जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि अन्तर्जगत के अन्धकार और अन्धकार-युक्त समाज की तामसिकता को दूर करने का प्रयत्न करें। पाप और प्रतिहिंसा, ललक और लालसा तथा लालच और उच्चाकांक्षा इन सब पर विजय पाने के लिये हमें अपनी अन्तर्दृष्टि का सहारा ढूँढ़ना पड़ेगा। अपनी अन्तर्दृष्टि से ही हम अपने आत्म-अन्धकार को दूर कर सकेंगे। हमारी अन्तर्दृष्टि में एक ऐसी दैवी ज्योति प्रज्वलित होगी जिसके प्रकाश में हमारा समस्त जीवन परिवर्त्तित हो एक आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जायगा; तब हम वास्तविक जीवन की झाँकी देखेंगे; ऐसे जीवन की झाँकी जो 'जीवन' नाम को सार्थक करेगी।

इस कोटि के लेखकों की धारणा है कि विषाक्त वातावरण द्वारा जिसमें मिथ्यादर्श, पाखण्डपूर्ण धर्म, झूठे सामाजिक रीति-रिवाज तथा दूषित विचारों का समावेश रहेगा व्यक्ति तथा समाज दोनों ही हानि उठायेंगे। इसके द्वारा मिथ्याचार, विषम युद्ध, भूख, गरीबी, सुरापान तथा व्यभिचार फैलेगा और कारागार के उपयुक्त प्राणियों का जन्म होगा। और इससे यह होगा कि इस दूषित वातावरण की परम्परा सी

---

१. 'पावर आव डार्कनेस', 'फ्रूट्स आव कल्चर'; 'द लाइट शाइन्स इन डार्कनेस'। पहली कृति में कृषकों का जीवन तथा उस जीवन की आध्यात्मिक शून्यता का वर्णन है : लालसा, प्रतिहिंसा, विश्वास-घात, अवैध प्रेम, नायक के आचरण में कूट-कूट कर भरा है। परन्तु धीरे धीरे उसकी आत्मा में ज्योति फूटती है; एक अत्यन्त गंभीर परिस्थिति में जहाँ वह आमंत्रित किया गया अपने पापों की गठरी खोलकर वह ईश्वरीय कृपा तथा दैवी-क्षमा की याचना करता है।

चलती जायगी और मनुष्य उसके बन्धन से कभी मुक्त नहीं होगा। अतएव यह नितान्त आवश्यक है कि एक ऐसे सद्धर्म, एक ऐसी समाजिक व्यवस्था, एक ऐसी शिक्षा-शैली का जन्म और प्रचार हो जो पार्थिव जीवन के अन्धकार को दूर कर हमारी दृष्टि आत्म-विकास की ओर फेरे। मनुष्य को एक ऐसे मन्त्र की आवश्यकता है जो सत्य का वास्तविक स्वरूप प्रस्तुत कर सके और जब यह सम्भव होगा तो पूँजीवादी समाज द्वारा फैलाये हुए मिथ्याचार, अमितव्ययिता, युद्ध, स्वेच्छाचार सभी का अंत हो जायगा।

आध्यात्मिक रूप में, इस वर्ग के लेखकों का विचार है, कि मनुष्य की मानसिक शक्ति उसका अमोघ-अस्त्र है; और उस पर चाहे कैसी भी विपत्तियाँ क्यों न आएँ और चाहे वह किसी भी रूप में प्रताड़ित क्यों न हो उसकी आत्म-शक्ति अजर तथा अमर है। पार्थिव जगत के जड़ अंशों से मनुष्य कहीं ऊँचा है : उसमें अनुभव की शक्ति है : उसे अपने को पहचानने की शक्ति है। इससे बढ़कर गौरव की और कौन सी वस्तु हो सकती है। मनुष्य में ईश्वर का अंश है; उसका अन्तर्जगत ईश्वरीय ज्योति से प्रकाशमान है जहाँ वह भले और बुरे, पाप और पुण्य का निर्णय सहज ही कर सकता है। यह ज्योति सबमें समरूप में प्रस्तुत है उसे ऊँच नीच का भेद ज्ञात नहीं। यदि मनुष्य अपनी समस्त शक्ति इसी अन्तर्ज्योति के प्रकाश को ग्रहण करने में लगाये तो उसे अनन्त का परिचय प्राप्त होगा : उसे परमात्मा का प्रेम प्राप्त होगा; उसका तथा परमात्मा का ऐक्य स्थापित होगा।

इस कोटि के लेखक अपनी रचनाओं के निष्कर्ष स्वरूप यह भी प्रमाणित करते हैं कि समस्त विश्व किसी दैवी प्रेरणा से परिचालित है और मनुष्य भी उसी प्रेरणा का अंश है। इसी प्रेरणा का फल है कि मनुष्य में आत्म-शक्ति है; बुद्धि है; प्रेम तथा स्नेह है; और सुबुद्धि तथा आत्मज्ञान द्वारा पुण्य मार्ग पर चलने की क्षमता है।

पुण्य क्या है ? इसकी विवेचना करते हुए लेखकों ने सभी श्रेष्ठ

धर्मों का निचोड़ प्रस्तुत कर यही विचार श्रेष्ठ समझा कि शान्ति, अहिंसा, प्रेम, शिष्टाचार, समभाव तथा भ्रातृभाव; श्रद्धा तथा मानवता। जीवन के आदर्श हैं : इन्हीं के द्वारा विश्व का कल्याण होगा।

पिछले वर्षों में राष्ट्रों के बीच जो दो महायुद्ध हुए और जिसके कारण समस्त मनुष्य संसार त्रस्त हुआ, उसके आधार-स्वरूप भी कुछ लेखकों ने नाटक लिखे और युद्ध की अमानुषिकता तथा बर्बरता पर प्रकाश डाल कर मनुष्य में सद्धर्म जगाने का प्रयत्न किया। इस प्रश्न का हल प्रस्तुत करने में कुछ लेखकों को धर्म के विश्लेषण का अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ और उन्होंने धर्माध्यक्षों तथा धर्मपुस्तकों दोनों को खूब आड़े हाथों लिया।[1] धर्म के नाम पर मानवता का खून करने वालों पर उन्होंने वज्र गिराया और अपनी कटूक्तियों द्वारा धर्म की मर्यादा की रक्षा की आवाज उठाई और मानवी सभ्यता से युद्ध को बहिष्कृत करने का आदेश दिया। इन लेखकों की दृष्टि में सद्धर्म का यही अर्थ है कि मनुष्य को वही कार्य करना चाहिये जो वह अपनी दृष्टि से अच्छा और श्रेष्ठ समझे; और इस दृष्टि से अच्छा कर्म करना कि इसके द्वारा इस जीवन में अथवा दूसरे में इसका मीठा फल मिलेगा विडम्बना मात्र है। मनुष्य को अपने विश्वास के अनुसार ही कर्म करने चाहिये : धर्माध्यक्षों के कथन पर अपने विश्वासों की हत्या महान पातक है।

युद्ध के कारणों तथा फल का विश्लेषण करते हुए इन लेखकों ने यह प्रमाणित किया कि विज्ञानज्ञ युद्ध को क्रूरतापूर्ण तथा बर्बरतापूर्ण बनाते जा रहे हैं। युद्ध अब शारीरिक शक्ति का माप नहीं बतलाता, वह बतलाता है—मनुष्य की क्रूरता तथा उसकी बर्बरता का माप, उसकी कायरता का माप, उसकी अमानुषिकता का माप! युद्ध-प्रेम ने आज की

---

१. बर्नर्डशा—'ऐन्ड्राक्लीज एण्ड दि लायन'

सभ्यता को एक बहुत बड़े खतरे में डाल दिया है : उसने मनुष्य को तर्कहीन बनाकर, उसे यन्त्रवत् कर, अपने भाइयों का ही खून बहाने को उत्साहित किया है। उसने वीरता को कायरता में परिणत कर दिया है, मानवता को बर्बरता में बदल दिया है और मनुष्य जैसे विशाल-हृदय प्राणी को निर्जीव यन्त्र समान बनाकर उसे राजनीतिज्ञों तथा अर्थ-शास्त्रवेत्ताओं के हाथ का खिलौना मात्र बना दिया है। युद्ध-प्रेमियों ने विषाक्तगैस, अणुबम, हाइड्रोजन बम इत्यादि द्वारा मनुष्य के सभी श्रेष्ठ कार्यों को नष्ट-भ्रष्ट करने का निश्चय कर लिया है। निरीह बालकों; स्त्री वर्ग, तथा अस्पतालों के बिलखते रोगियों पर उन्होंने घातक प्रहार करवा कर शत्रु की रीढ़ तोड़ने का प्रयत्न किया और इस कार्य को सफल और क्रूरतापूर्ण रीति से करने वालों को वीर-चक्र तथा महावीर चक्र से सुशोभित करने का आयोजन किया। कोई भी धर्म, कोई भी सभ्यता, इस प्रकार के घातक तथा अमानुषिक वातावरण में नहीं पनप सकती। जो भी व्यक्ति युद्धद्वारा सभ्यता तथा मानवता की रक्षा करना चाहता है—पाखण्डी है; जो भी धर्म तथा जो भी धर्माध्यक्ष युद्ध में प्रदर्शित वीरता की सराहना करता है और मनुष्य को हत्या करने को उत्तेजित करता है ईश्वर का अंश नहीं—शैतान का अंश है और उसका इस पृथ्वी से हट जाना ही मानव के लिये कल्याणकारी होगा।

तो फिर युद्ध की सम्भावना को हटाने का क्या प्रयत्न हो ? उत्तर सरल है। जब तक मनुष्य समाज में घृणा और क्रोध, व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा; स्वार्थान्धता तथा साम्राज्यवादिता का बोलबाला रहेगा युद्ध अवश्यम्भावी होगा। इसके द्वारा मनुष्य की तर्क-शक्ति पर परदा पड़ा रहेगा; उसके मानवी गुणों की हत्या होती रहेगी; उसके सामाजिक सम्बन्धों में विषमता आती जायेगी; शोषक और शोषित-वर्ग का संघर्ष बढ़ता जायगा और मनुष्य जब तक इन कमजोरियों को निकाल नहीं फेंकता उसका कल्याण असम्भव होगा। इस युद्ध-रोग का निदान तथा शमन तभी होगा जब हम अपनी पाठशालाओं में युद्ध,

वीरता, घृणा तथा पाप की सच्ची तस्वीर अपने बालकों के सम्मुख रखें! उन्हें युद्ध से घृणा करना सिखलायें; घृणा से भी घृणा करना सिखलाना उनके भावी जीवन के लिए हितकर होगा। उन्हें शान्ति का पाठ पढ़ाना, उन्हें प्रेम तथा भ्रातृभाव का महामंत्र सिखलाना, उन्हें ललित कलाओं की ओर आकृष्ट करना—इसी में सभ्य समाज का कल्याण है। या तो हमें विश्वमैत्री का पाठ पढ़ना होगा या अपनी सभ्यता का नाम-निशान मिटते अपनी आँखों देखना होगा।

आधुनिक युगके आर्थिक, राजनीतिक तथा आध्यात्मिक जीवन का विश्लेषण करते हुए कुछ कलाकारों ने अपने नाटकों में उनके वैषम्य का हल प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। किसी लेखक ने केवल निष्क्रिय रहने का विचार सम्मुख रखा, किसी ने आतंकवाद द्वारा सब युद्ध-प्रेमियों को नेस्त-नाबूद करने का प्रस्ताव रखा; किसी ने क्या बहुतों ने प्रेम, विश्वास अहिंसा तथा समता और भ्रातृभाव द्वारा ही सभ्यता की रक्षा का स्वप्न देखा और कुछ ने प्राणि-शास्त्र का अध्ययन कर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि हमें महामानव के जन्म लेने के साधन इकट्ठे करने चाहिए। सिद्धान्तरूप में उन्होंने इसे क्रियात्मक विकास[१]—क्रियेटिव इवोल्यूशन—नाम दिया और यह आदेश दिया कि हमें महामानव के जन्म की तैयारी करनी चाहिए। जब हम अपने खेतों की उपज बढ़ा सकते हैं; अच्छी खाद तथा अच्छे बीज से बहुत बड़े तथा प्राणदायक अन्न के दाने उपजा सकते हैं तो क्या यह सम्भव नहीं कि हम अन्यान्य वैज्ञानिक सत्यों तथा शिक्षणात्मक तथा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रयोग कर महामानव को जन्म दें जो हमारी सभ्यता की रक्षा करे और उसे उन्नत बनाये। हमारे इस प्रगति के मार्ग का सबसे बड़ा शत्रु है हमारी अशिक्षा नहीं कुशिक्षा; हमारा कुत्सित समा-

---

१. 'मैन ऐण्ड सुपरमैन'; 'बैक टु मेथ्यूजीला'

जिक आदर्श; हमारी आधुनिक विपाक्त सभ्यता। हमारा सभ्य संसार मिथ्यावाद का विशालप्रासाद है। हमारी स्त्रियाँ सुन्दर नहीं आभूषित मात्र हैं; हम शुद्ध नहीं, स्वच्छ मात्र हैं; हम गौरवपूर्ण नहीं अलंकृत मात्र हैं; हम धार्मिक नहीं रूढ़िग्रस्त हैं; हम सच्चरित्र नहीं कायर हैं; हम कुकर्मी भी नहीं केवल हीन हैं; हममे कला नहीं, उद्दाम लालसा है; हम समृद्ध नहीं पूँजीपति हैं; हममें भक्ति नहीं दासत्व है; हम कर्मयोगी नहीं, कर्त्तव्य-रत नहीं, साहसी नहीं और दृढ़निष्ठ नहीं; हम केवल संस्कारवादी हैं; अकर्मण्य हैं, कायर हैं, अनिश्चयवादी हैं। न हममें संयम है न सौजन्य, हममें आत्मसम्मान भी नहीं। हम केवल स्वेच्छाचारी हैं; गर्वग्रस्त हैं, भावुक हैं। मिथ्यावाद ही हमारा जीवन-सिद्धान्त है।

आधुनिक जीवन के उपर्युक्त कटु विश्लेषण के उपरान्त यही सिद्धान्त मान्य रहा कि आधुनिक पुरुष हीन है और बिना महामानव के जन्म के संसार का कल्याण नहीं। महामानव को कम से कम तीन सौ वर्ष तक जीवित रहना पड़ेगा क्योंकि सत्तर या अस्सी वर्षों का जीवन जो हमें आजकल मिला हुआ है उसमें हो ही क्या सकता है। इतने वर्षों में हम कुछ भी तो नहीं कर पायेंगे। आजकल तो यह परिस्थिति है कि जब तक हम जीवन सत्य को समझें कि हम मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं; हमारे कार्यों में जल्दबाजी तथा स्वार्थान्धता रहती है। इसके विपरीत जब हमें तीन सौ वर्ष जीने की अवधि मिल जायगी तो हमारा सम्मत जीवन व्यवस्थापूर्ण तथा सफल होगा। तर्क रूप में यह कहा गया कि जब हम कोई किराये का मकान कुछ ही दिनों के लिये लेते हैं तो उससे ज्यों-त्यों काम निकालते हैं और उसकी देखभाल में बहुत कम समय लगाते हैं परन्तु जब कोई मकान हम खरीद लेते हैं या निन्यानवे वर्ष के ठेके पर लेते है तो उसकी देखभाल और उसको सुव्यवस्थित रखने का सतत परिश्रम करते हैं। उसी प्रकार जब हमें केवल सत्तर या अस्सी वर्ष का ही जीवन मिलता है तो हम ज्यों-त्यों उसे

काट लेते हैं परन्तु जब हमें तीन सौ वर्ष का जीवन प्राप्त होगा तो बहुत सावधानी, दूरदर्शिता तथा तर्कपूर्ण रीति से जीवन यापन करेंगे।[1]

जीवन के अन्य द्वन्द्वों को भी आधुनिक नाटककारों ने विषय-रूप में प्रयुक्त किया। जीवन की सबसे भारी कमी यह है कि वह

---

१. बर्नर्ड शॉ—'बैक टु मेथ्युजीला'। शा के अनेक नाटकों (तथा उनके एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य) के अध्ययन के फलस्वरूप यह कहा जा सकता है कि जो जीवन-सिद्धान्त आदर्श; रूप रहेगा वह है सत्य तथा साहसपूर्ण जीवन-यापन का आदर्श इसी से मानव का कल्याण होगा। हम जीवन को जितना ही व्यय करेंगे उतना ही वह समृद्धिशाली होगा; जितना हम खायेंगे उससे कहीं अधिक पायेंगे। उन्नत विचार ही हमारी जीवन-यात्रा के सफल निर्देशक होने चाहिये; हमें समाज के हित के लिये कुछ भी न उठा रखना पड़ेगा। हमें लक्ष्मी की दासता छोड़ मानवता की दासता स्वीकार करनी पड़ेगी; जो हमारी आत्मा को शक्ति देगी, हमें सत्यं, शिवं, सुन्दरं का साक्षात्कार करायेगी।

शा का कथन है 'मेरा विश्वास है कि मेरा जीवन मेरा नहीं, समाज का है। जब तक मैं जीवित रहूँगा तब तक मेरी यही इच्छा रहेगी कि मैं समाजहित में अपनी समस्त शक्ति व्यय करूँ। मेरी यही इच्छा होती है कि मैं अपनी शक्तियों का अधिक से अधिक जितना हो सके उपभोग करूँ और मृत्यु के समय मुझमें कुछ न रह जाय। मेरा यह भी विश्वास है कि जितना अधिक मैं कार्यरत रहूँगा उतना ही पूर्ण मेरा जीवन होगा। मुझे जीवन यापन में अपार आनन्द प्राप्त होता है। जीवन मेरे लिये क्षणभंगुर नहीं : जीवन मेरे लिये एक टार्च (चोरबत्ती) समान है जिसकी विद्युत-शक्ति को मैं अधिक से अधिक प्रयुक्त कर, अधिक से अधिक प्रकाश फैलाकर, भावी सन्तानों के लिये उस ज्योति को सुरक्षित कर जाऊँ।'

अपने समय के श्रेष्ठ पुरुषों को नहीं पहचान पाती; और श्रेष्ठ पुरुषों की भी सबसे भारी कमजोरी यह है कि वह अपने समय के पहले ही जन्म लेते है और विप्लव तथा विद्रोह के कारण बन जाते हैं। समाज इन विशिष्ट आत्माओं की अवहेलना करता है, ईश्वर के नाम पर उन्हें त्रास देकर उत्पीड़ित करता है और अन्त में उनकी हत्या करके अपने को ईश्वरीय सिद्धान्तों का रक्षक तथा पोषक घोषित करता है। सुकरात, ईसा तथा गांधी इसी कोटि की महान् आत्मायें थीं जिनकी हत्या कर समाज ने भविष्य में उनका गुणानुवाद किया; उन्हें देवत्व प्रदान किया। सभी युगों में महान् आत्माओं ने जन्म लिया; अपनी अवहेलना देखी, प्राणदण्ड पाया और वे भविष्य में देवातिदेव कहलाये। श्रेष्ठ मनुष्य तथा सत्य को न परख सकने के कारण समाज ने अपनी ही हानि की और इसी अन्धबुद्धि के कारण वह उनकी हत्या का कारण भी बना। यह हमारी बौद्धिक विडम्बना है।[1] हमारे मुख से बरबस यह निकलता है कि हे ईश्वर कब तक तू अपने भक्तों की क्रूरतापूर्ण परीक्षा लिया करेगा!

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक युग की प्रगति तथा विकास के लिये विचार और वाणी की स्वतन्त्रता[2] अत्यावश्यक है।

---

१. बर्नर्ड शा--'सेन्ट जोन'

२. कदाचित यह बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि अमरीका जैसे प्रजातन्त्र के आदर्शों की दुन्दुभि बजाने वाले देश में, प्रथम महायुद्ध के समय में, शान्ति-अहिंसा के मूल मन्त्र 'सरमन आन द माउन्ट' का प्रचार कानून द्वारा बन्द किया था और गांधी द्वारा अनूदित अफलातूं कृत 'एपालोजी एण्ड डेथ आव साक्रेटीज' (जिसमें प्राचीन युगों की सुबुद्धि सुरक्षित है) प्रजातन्त्रवादी अंग्रेज सरकार ने न्याय-विरुद्ध घोषित कर दिया था।

न्याय-विधान की विषमता एवं विडम्बना तथा साम्राज्यवादी पूँजीपतियों की धनलोलुपता के विषयाधार भी आधुनिक युग को प्रिय हुए। न्याय विधान किस प्रकार मनुष्य को प्रताड़ित करता है और मनुष्य अपनी दया और प्रेम के फलस्वरूप कौन-कौन से कर्म-भोग नहीं भोगता इसे भली-भाँति व्यक्त किया गया।[1]

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिये कि समाज को अपनी सुरक्षा के लिये कोई प्रयत्न करना ही नहीं चाहिये। समाज, प्रत्येक सनकी व्यक्ति को अपने नियन्त्रणहीन विचारों के प्रचार की आज्ञा नहीं दे सकता; परन्तु हमें यहाँ सुबुद्धि से काम लेना होगा। हमें उस व्यक्ति को कारागार भेजने का किञ्चित मात्र भी अधिकार नहीं जो गाय के रक्त से बने हुए; कीटाणुओं को अपने बालक के शरीर में शीतला के टीके के रूप में प्रवेश कराने का विरोध करता है और यह आशा करता है कि प्रार्थना तथा दैवी कृपा द्वारा ही वह शीतला के प्रकोप से अपनी सन्तान की रक्षा कर सकता है। यद्यपि सामाजिक व्यवस्था की रक्षा के लिये असहिष्णुता तथा नियन्त्रण आवश्यक हैं फिर भी यह ध्यान रहे कि समाज में सुधार तभी सम्भव हुए जब सुधारकों के नियमों और कानूनों को चुनौती दी।

१. गाल्सवर्दी—'जस्टिस'—नायक एक अत्यन्त दुःखी स्त्री को अपने क्रूर पति से छुटकारा दिलाने के लिये, जाली चेक बना कर धन से उसकी सहायता करता है। उसे कठिन कारागार की यातना भुगतनी पड़ती है। न्यायाधीशों की संवेदना तथा करुणा उसके साथ अवश्य है परन्तु न्याय के शिकंजे उसको कस चुके हैं। कारागार से मुक्त होने पर, समाज उस व्यक्ति को क्षमा नहीं करता क्योंकि वह जेल यात्री रह चुका है; उसको नौकरी नहीं मिलती; जब मिलती भी है तो उसे अपने विशिष्ट प्रेम को त्यागने का आदेश मिलता है। नायक आत्महत्या करता है। हतभाग्य नायिका हतबुद्धि हो न्याय का यह अमानुषिक रूप देखती रह जाती है।

धनलोलुप[1] व्यक्ति किस प्रकार समाज को धोखा देकर; मनुष्य का रक्त बहाकर, पाखण्ड रचकर अपना स्वार्थ साधन करते हैं, इस अनुभव को व्यंग्यात्मक रीति से स्पष्ट किया गया।

मनुष्य तथा ईश्वर के सम्बन्धों की विवेचना के अन्तर्गत कुछ नाटककारों ने साम्राज्यों के उथल-पुथल और उलट-फेर; राष्ट्र तथा देश-कल्याण के नाम पर न्योछावर होने वाली विशाल सेनाओं का ठिठुरते जाड़े में विनाश; एक महान शक्ति द्वारा परिचालित विश्व के प्राणियों के चित्र जो किसी अज्ञात कारण-वश, मृत्यु के ग्रास बना करते हैं, अपने नाटकों में प्रस्तुत किये।[2] यह शक्ति मनुष्य को अपने हाथों की कठपुतली समझ कर उससे खेल किया करती है और उन्हें अन्त में पीस देती है परन्तु अज्ञानी मनुष्य यह समझा करता है कि वह स्वयं अपने भाग्य का विधायक है।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन काल के अज्ञात नाटककारों से लेकर आज तक के नाटककारों के मूल विषयाधार मानव तथा उसके निर्माता के सम्बन्ध का विश्लेषण रहा है। इन महान कलाकारों ने नियति अथवा दैवी गति तथा मनुष्य के अन्यान्य क्लेशों एवं व्यथाओं के

---

१. 'फारेस्ट'—स्वार्थी नायक दास प्रथा के अन्त करने का पाखण्ड रचकर, अनुसंधान करने वालों की एक टोली अफ्रीका भेजकर वहाँ से मजदूरों को लाने का प्रयत्न करता है और सोने की खानों का पता लगाना चाहता है। वहाँ के आदि निवासियों से लड़ाई होती है; अनेक व्यक्तियों की हत्या होती है; पूँजीपति नायक जाल रचकर अपनी कम्पनी के शेयर दुगने दामों पर बेचकर अपनी धनलिप्सा शान्त करता है। यह है आधुनिक पूँजीवादी व्यक्तियों तथा कम्पनियों की स्वार्थान्धता जो मनुष्यों के जीवन का जुआ खेलती है।

२. टामस हार्डी—'द डाइनैस्ट्स'

प्रश्नों पर गंभीर रूप में विचार किया, कुछ कलाकार साहस खो बैठे और इस दैवी गति को उन्होंने मनुष्य के ज्ञान के परे समझा, कुछ ने बहुत कुछ कठिनाई होते हुये भी कर्म करने का आदेश दिया; कुछ ने दैवी गति को चुनौती भी दी; कहीं जीवनोत्सर्ग और आत्मा की अमर ज्योति जलाकर पार्थिव जगत की क्रीड़ा समाप्त करने का आदर्श प्रस्तुत किया गया। इन सभी नाटककारों ने जीवन, मृत्यु, व्यक्तित्व, परम्परा, वातावरण, नियति, सौभाग्य तथा दुर्भाग्य सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करते हुए विभिन्न हल प्रस्तुत किये; परन्तु आत्मसिद्धि की आवश्यकता तथा उसकी मर्यादा-रक्षा पर सब ने जोर दिया।

यह निर्विवाद है कि ललित कलाओं का प्रमुख ध्येय हमें जीवन की गहरी अनुभूति प्रदान करना है : यह अनुभूति वर्तमान जीवन की ही नहीं वरन् उस भावी जीवन की भी अनुभूति होनी चाहिये जिसके बिना वर्तमान जीवन निरर्थक प्रतीत होगा। उसे हमें इस अनुभूति को पूर्ण रूप से हृदयगम करने की क्षमता प्रदान करनी होगी; हमारे अनुभवाकाश में नवीन नक्षत्र जगमगाने होंगे; और हमारी आध्यात्मिकता को सत्यं, शिवं, सुन्दर का साक्षात्कार करा कर उसे पूर्णरूप में जाग्रत रखना होगा; और हमें शक्ति, दृढ़ता, शान्ति, सहिष्णुता के दैवी मार्ग पर अग्रसर करना होगा। साहित्य का यही मूल आदर्श है।

१

प्रकृतिवाद (नैचुरेलिज्म) का प्रसार

बुद्धिवादी विषयों के साथ-साथ प्रकृतिवादी विषयों के प्रति भी अनेक आधुनिक नाटककार आकृष्ट हुए। बुद्धिवाद ही एक प्रकार से प्रकृतिवाद के प्रसार का जिम्मेदार था क्योंकि जो शैली बुद्धिवाद ने अपने विचारों के प्रचार के लिये अपनाई उसके द्वारा प्रकृतिवाद का जन्म तथा प्रचार स्वाभाविक था। प्रकृतिवादी नाटककारों ने साम-

यिक घटनाओं तथा दिन प्रति दिन के अनुभवों विशेषतः निम्न से निम्न वर्ग के व्यक्तियों तथा परिवारों के पाशविक जीवन, लालसाओं, तथा विवेकहीन कार्यों के अनगिनत चित्र खींचे। बर्बर तथा लालसा-युक्त प्रेम, व्यभिचार हत्या, ईर्ष्या—सभी दुर्गुण जो गरीबी और भूख सहज ही जन्म देते हैं नाटकों मे विषय रूप में प्रयुक्त किये गये। श्रमिक वर्ग तथा समाज के भूखे नगे जो केवल रोटी के टुकड़े में ही ईश्वर के दर्शन करने पर बाध्य होते हैं, जो जन्म से ही मृत्यु का आवाहन करते हैं और जिनके जीवन मे दुःख तथा रोग, व्याधि तथा यातनाओ की झड़ी लगी रहती है, नाटकों में पात्र रूप रखे गए।

नाटको में समाज के इस हीन तथा पाशविक जीवन के प्रदर्शन का यह तात्पर्य नहीं था कि इस जीवन को घृणित तथा तिरस्कृत प्रमाणित किया जाय; तात्पर्य यह था कि हमारा समाज अपने गोदी में पले हुए नर्क के कीड़ों की ओर भी देखे; अपनी सहानुभूति उन्हें प्रदान करे और जीवन की पाशविकता से भी परिचित हो जाय; क्योंकि बिना इस परिचय-प्राप्ति के न तो उनके सुधार का कार्य आरम्भ होगा और न सुधारकों में उत्साह ही आयेगा। कुछ रूसी साहित्यकारों[1] ने वातावरण के भार मे दबे हुए व्यक्तियों के नाटकीय जीवन का प्रदर्शन कर उन्हें सुधारने का महत् प्रयत्न कर उनकी आत्म शक्ति को जाग्रत किया और कुछ[2] ने केवल वातावरण के बोझ से मुक्त होने की असमर्थता प्रकट की और उसकी चक्की में पिसती हुई आत्मा की हतभाग्यता दिखलाकर सन्तोष पाया। कुछ कलाकारों[3] ने पुरुष तथा स्त्री की प्रतिस्पर्धा की भावना को नाटकीय रूप दे प्रेम और घृणा की अनेक रूपता प्रदर्शित की। वास्तव में प्रकृतिवाद का उत्थान तीन कारणों द्वारा हुआ। पहला कारण था

---

१. टाल्सटाय

२. स्ट्रान्डबर्ग

३. गोर्की; चेखव

वर्ग-संघर्ष; दूसरा पुरुष तथा स्त्री की प्राणशास्त्रीय प्रतिस्पर्द्धा, तथा मनुष्य पर पैतृक प्रभावों की छाया।

यथार्थवाद से प्रेरणा ग्रहण करनेवाले पहले के नाटककारों ने कल्पना और तर्क को गौण रूप में रखा था और सहज अनुभव को ही सब कुछ समझकर उसे प्रमुख रूप में महत्त्व दिया था। इन साहित्यकारों ने यथार्थ जीवन की कटु अनुभूति देने का ही प्रयत्न किया और इस कार्य में न तो तर्क का हस्तक्षेप सहन किया और न कल्पना की रंगीनियों को ही प्रश्रय दिया क्योंकि तर्क और कल्पना शक्ति दोनों ही इस सहज अनुभूति में रोड़े अटकाते थे। प्रकृतिवादी साहित्यकारों का ध्येय न तो कोई जीवन-सिद्धान्त प्रस्तुत करना है और न जीवन का मार्ग ही प्रशस्त करना है; वे केवल जीवन के यथार्थ प्रदर्शन द्वारा सन्तुष्ट होते हैं। प्रकृतिवाद तथा यथार्थवाद में घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में काफी अंतर प्रतीत होगा। साहित्यिक यथार्थवाद ही प्रकृतिवाद की जननी है और प्रकृतिवादी साहित्यकार यथार्थवाद की पराकाष्ठा प्रस्तुत करते हैं। वे कला का प्रयोग केवल इसीलिये करते हैं कि हमारी प्रकृति प्राणमय हो जाय; वे न तो कला के स्वरूप को सँवारते हैं और न साहित्य की आकर्षक रूप-रेखा बनाने का ही प्रयत्न करते हैं; वे केवल उन्हीं विषयों द्वारा आकर्षित होते हैं जो रूढ़ि-युक्त हैं और हमारी अंतर-प्रकृति में लुके-छिपे रहते हैं। कभी-कभी वे सनसनीपूर्ण वातावरण का भी प्रयुक्त कर जीवन की घटनाएँ प्रस्तुत करते हैं; इसलिये नैसर्गिक रूप में वे कलुष जीवन के चित्रों से ही अधिक आकृष्ट होते हैं और व्यभिचार, अमानुषिक हत्या तथा घृणित वासनायुक्त कार्यों का प्रदर्शन तीव्र रूप में करते हैं। प्रकृतिवादी कलाकार जीवन के घोर से घोर तथा कटु संघर्ष के केन्द्र ढूँढ़ते हैं और ऐसी सनसनी-पूर्ण परिस्थिति का प्रदर्शन करते हैं जो प्रतिदिन दृष्टिगोचर नहीं होती; वे बीभत्स भयावहता का साक्षात्कार करा कर हमें उसे भी जीवन का नैसर्गिक अंग समझने पर बाध्य करते हैं। साधारणतः हम ऐसी

अनुभूतियों से दूर भागते हैं, भय खाते हैं और आँखें बन्द कर लेते हैं। प्रकृतिवादी साहित्यकार इनकी ओर हमारी आँखें खोलना चाहेगा। ऐसे अनेक वीभत्स अनुभव जो हमारी धर्मान्धता तथा सौन्दर्यानुभूति के पर्दे के पीछे छिपे रहते हैं: उनका प्रत्यक्षीकरण प्रकृतिवादी साहित्यकार का सहज कार्य है।

प्रकृतिवादी साहित्यकार रंगमच के लिये भी कुछ विशेष वस्तुएँ नहीं चाहते। उनके नाटक, वस्तु, गति, उत्कर्ष इत्यादि का भी बहुत कम सहारा ढूँढ़ते है। न तो वहाँ स्वगत कथन रहता है और न लम्बी वक्तृताएँ। उनका संवाद भी असबद्ध—टूटा-फूटा, रहेगा; उनकी भाषा नागरिकतापूर्ण न होकर गँवारू होगी, उनके पात्रों की भाव-भंगी अंतरतम का प्रदर्शन करेगी; उसमें स्वाभाविकता होगी और उनके विषय श्रमिक वर्ग के जीवन से संबन्धित होंगे क्योंकि एक तो साम्यवाद के प्रचार के लिये उनका प्रदर्शन आवश्यक है और दूसरे उन्हीं में जीवन में नूतनता मिलेगी जो आकर्षक होगी। प्रकृतिवाद हमारे समाज-संगठन की खिल्ली उड़ाता है, उसके पाखण्ड का प्रदर्शन करता है और वर्ग-संघर्ष की भावना इसलिये और भी तीव्र करना चाहता है कि उसके द्वारा समाज के नव-निर्माण का समय शीघ्र ही आ जाय। साधारणतया प्रकृतिवाद वातावरण में पिसते हुए नायक का ही चित्र खींचता है: वातावरण के शिकंजे में कसा हुआ नायक; दुःख तथा यातनाएँ सहता हुआ निश्चेष्ट हो प्राण त्याग देता है। प्रकृतिवादी कलाकार साधारणतया विषादात्मक विचार वाले ही होते हैं परन्तु उनकी यह इच्छा रहती है कि वे आशावादी[1] कहलाएँ। वे यह प्रदर्शित करने का भरपूर प्रयत्न करते हैं कि समाज की जड़ें कमजोर हो गई हैं और अब समय आ गया है जब इसका नव-निर्माण शीघ्र ही होगा; परन्तु रहते-रहते उन्हें निराशावाद घेर

---

१. देखिये—'काव्य की परख'

लेता है और अनेक नाटकों के पढ़ने के उपरान्त पाठकों में नैराश्य-पूर्ण क्रोध की भावना ही उद्बुद्ध होती है।

प्रकृतिवादी कलाकारों की सबसे बड़ी कमी यह है कि अपने साहित्य द्वारा वे आनन्द का प्रसार नहीं कर पाते और बिना आनन्द-तत्व के साहित्य में अमरता नहीं आती। दुःख, क्लेश तथा यातनाओं के चित्र हमारी आँखों में इतने गड़ जाते हैं कि हम उनकी ओर से विमुख होने का प्रयत्न करते हैं और रोमांचक विषयों से अपना जी बहलाना चाहते हैं। थोड़ी देर तक तो प्रदर्शित दुःख का बहुत गहरा प्रभाव रहता है परन्तु मनुष्य तो आनन्द प्रेमी है और वह शीघ्र ही ऊबकर उससे त्राण पाने के लिये दूसरे प्रकार के साहित्य की ओर आकृष्ट होने लगता है।

प्रकृतिवाद के दुःखपूर्ण तथा निराशाजनक प्रभावों के विरोध के फलस्वरूप रोमांचक रचनाओं की लोकप्रियता भी बढ़ी और अनेक आधुनिक नाटककारों ने रोमांचक वातावरण प्रस्तुत करते हुए अनेक नाटकों की रचना की और कला को यथार्थ की कटुता से बचने का माध्यम बनाया। वास्तव में, मनुष्य के चरित्र में, रोमांचक भावनाओं के प्रति सदा से आकर्षण रहा है। और विश्व-साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है कि समय समय पर यथार्थवाद की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप रोमांचकवाद का जन्म होता रहा है। यही नहीं बहुत से यथार्थवादी लेखकों का यथार्थवाद जब पराकाष्ठा पर पहुँचा तो वे स्वतः रोमांचकवादी बन बैठे।

आधुनिक नाटकों में जो नाटक रोमांचक कहलायेंगे उनमें कहीं तो वीर कार्यों[1] का लेखा होगा, कहीं केवल बाह्य कार्यों का प्रदर्शन होगा, कहीं भावुकता[2] की प्रधानता होगी, कहीं प्रेम के आदर्श का

---

१. रॉसटैंट

२. हाउजमैन; मेटरलिंक

प्रदर्शन होगा और कहीं लोक-गाथाओं[1] के नायक-नायिकाओं को पात्र रूप में रक्खा गया होगा। कुछ दुखान्तकी[2] भी मिलेंगे जिनमें उद्दाम लालसा तथा कल्पना का कलात्मक परिचय मिलेगा।

जिस प्रतीकवाद का प्रचार इब्सेन ने अपने नाटकों में किया, उसी प्रकार का प्रतीकवाद अन्य नाटककारों[3] को भी प्रिय रहा। इन नाटकों में यद्यपि नाटकीय तत्व तो कम है परन्तु भावुक कल्पना के तत्व अधिक हैं। इनमें कहीं सुख की खोज की जायगी और कहीं जीवन को रूपक-रूप में प्रदर्शित किया जायगा। इन नाटकों में, प्रतीक रूप में, नैसर्गिक प्रवृत्तियों तथा सांसारिक कर्तव्य के द्वन्द्व का प्रदर्शन मिलेगा और व्यक्ति को अपनी आत्मसिद्धि करने का आदेश दिया जायगा।

आधुनिक नाटककारों को कथावस्तु की दृष्टि से त्रिवृत्तात्मक कथा वस्तु ही प्रिय रही। इन नाटकों में सतत दो पुरुषों और एक स्त्री अथवा दो स्त्रियाँ और एक पुरुष के द्वन्द्व के फलस्वरूप नाटकीय वस्तु का जन्म होगा और जो भावनायें कार्य में उत्कर्ष लायेंगी उनमें प्रमुख होंगे प्रेम और घृणा, ईर्ष्या और द्वेष तथा प्रतिशोध की भावना जो तीन व्यक्तियों में से किसी एक को मृत्यु का ग्रास बनायेगी तथा दो बचे हुए प्राणियों को स्नेह-सूत्र में बाँधेगी। इस त्रिवृत्तात्मक वस्तु के अनेक उलटफेर आधुनिक नाटकों में मिलेंगे।

अंग्रेजी नाटककारों ने उच्छृंखल स्त्रियों के चरित्र को आधार मानकर अनेक नाटकों की रचना की है। इन नाटकों में चरित्र-विश्लेषण पटुता उच्च कोटि की है और प्रायः सभी में नैतिक आदर्शों की ओर ही संकेत किया गया है। कहीं-कहीं नैतिकता की नवीन

---

१. मेटरलिंक २. मेटरलिंक

३. हाप्टमैन, मेटरलिंक

परिभाषा भी बनाई गई और पुरुष तथा स्त्री दोनों को नैतिकता के मार्ग पर लाने के अनेक साधन बतलाये गये।[1]

पादरी वर्ग के जीवन को भी अनेक नाटककारों ने नायक रूप में रखकर अपने नाटकों की रचना की। साधारणतया अब तक धर्म के ठेकेदारों और पण्डितों-पुरोहितों का साहित्य में व्यंग्य-पूर्ण चित्रण ही रहा है नाटककारों ने सतत उनको तथा उनके पाखंड को हास्यास्पद रूप में प्रदर्शित किया है। आधुनिक नाटककारों ने धर्म के पुजारियों को श्रद्धा तथा विश्वास की दृष्टि से देखा है और उनके चरित्र को सराहा है। यद्यपि अब भी पादरी वर्ग के नाटकीय प्रदर्शन में व्यंग्य और उपहास की कमी नहीं परन्तु फिर भी ऐसे अनेक नाटक प्रस्तुत हैं जिनमें इस वर्ग के व्यक्तियों की प्रतिष्ठा बढ़ाई गई और उन्हें जीवन के जटिल प्रश्नों को सहज रूप में सुलझाते हुए प्रदर्शित किया गया।

वैवाहिक जीवन से सम्बन्धित भी अनेक विषयाधार आधुनिक नाटककारों ने चुने हैं। यों तो अठारहवीं शताब्दी के नाटककारों ने इस विषय पर अनगिनत नाटकों की रचना की परन्तु जिस दृष्टिकोण से आधुनिक नाटककारों ने, इब्सेन से प्रभावित होकर वैवाहिक जीवन के प्रश्नों को सुलझाया वह नितान्त नूतन तथा मौलिक है। इस विषय के नाटकों के दो वर्ग[2] दृष्टिगोचर होते हैं—पहला वर्ग उन नाटकों का है जिनमें वैवाहिक जीवन की घोर विफलता प्रदर्शित हैं, दूसरा वर्ग उन नाटकों का है जिसमें समझौते तथा सहयोग द्वारा सफलता प्राप्त होती है। शायद ही कोई ऐसा आधुनिक नाटक हो जिसमें आदर्श सामंजस्य प्रस्तुत हो और वैवाहिक जीवन के आदर्श आनन्द की महत्ता प्रदर्शित की गई हो। परन्तु ऐसे अनेक नाटक

---

१. सूडरमान, वाइल्ड, पिनेरो

२. पिनरो, शा, चेखव, स्ट्राइन्डबर्ग

मिलेंगे जिनमें विवाह विच्छेद अथवा तलाक की समस्या पर समुचित रूप में विचार किया गया है। कुछ लेखकों ने नैतिक आदर्शों के आधार पर तलाक प्रथा का विरोध किया और इस संबंध में जो कानून बने उनकी कटु आलोचना[1] की। कुछ नाटककारों ने स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता के प्रश्न पर भी व्यापक रूप में विचार किया और रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्थाओं पर व्यंग्य बाण बरसाये[2]।

पारिवारिक समस्याओं पर भी नाटककारों ने विशिष्ठ रूप में (पैतृक-सम्पत्ति के उत्तराधिकार से सम्बन्धित) अनेक प्रश्नों पर तर्क रूप में विचार किया। यहाँ दरिद्रता तथा उच्चाकांक्षा का द्वन्द्व दिखलाते हुए अनेक अभिजात तथा मध्यम वर्गीय के जीवन के चित्र मिलेंगे।

आधुनिक युग में आयरलैंड निवासी[3] नाटककारों को सर्वप्रियता प्रमाणित रही है। इन नाटककारों ने अनेक विषयों पर भावुकतापूर्ण तथा रहस्यवादी एवं रूपक रूप में नाटकों की रचना की। इन नाटकों में कहीं हमें देश-प्रेम की झलक मिलेगी, कहीं कल्पनापूर्ण कृषक वर्ग की लोक-गाथाओं का प्रदर्शन मिलेगा और कहीं तर्क और विश्वास के द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण दिखलाई देगा। प्रायः सभी नाटकों में यथार्थवाद के विरुद्ध उठती आवाज सुनाई देगी और उच्चाभिलाषा तथा आदर्शवादिता को महत्त्व मिलता दिखलाई देगा।

आधुनिक युग के नाटकारों ने जहाँ उच्चाभिलाषा तथा आदर्शवादिता को विषय-रूप में अपनाया वहाँ उन्होंने प्रेम तथा प्रेम की निर्दयता[4] और उसकी निरंकुशता का भी प्रदर्शन किया। यों तो

---

१. गाल्सवर्दी २. इब्सेन, शॉ

३. लेडी ग्रिगरी; सिंज; येट्स

४. शॉ; डी एनन ज़ियो; स्ट्राइण्डबर्ग

आदिकाल से ही प्रेम के विषय को महत्व मिलता आ रहा है परन्तु जिस मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आधुनिक नाटककारों ने इस भाव-विशेष का विवेचन किया वह मौलिक तथा हृदयग्राही है। कहीं-कहीं प्रेम का कुत्सित प्रदर्शन मर्यादा की सीमा लांघ भी गया और प्रकृतिवाद का पूर्णरूपेण प्रयोग किया गया। लालसा तथा लोलुपता और तर्क के भी अनेक द्वन्द्व प्रदर्शित हुए और प्रायः प्रेम की कठोर हृदयहीनता पर, जो मनुष्य को पागल बना देती है, विशेष जोर डाला गया। प्रेम के शासन को मानने के फलस्वरूप जिन व्यक्तियों का भविष्य अन्धकारपूर्ण हो गया; जिनका जीवन विषाद-मय बन गया और जो प्रेम के कठिन मार्ग पर चलते हुए अपनी मर्यादा खो बैठे ऐसे पात्रों को नायकरूप में प्रतिष्ठित किया गया। कुछ नाटककारों ने व्यंग्यात्मक रूप में स्त्री को पुरुष का शिकार करते प्रदर्शित किया, परन्तु इसमें कटुता तथा घृणा की भावना का प्रसार न होने दिया। इस वर्ग के नाटककारों ने प्रेम को जीवन-शक्ति के नाम से संबोधित कर समस्त विश्व उसी के द्वारा परिचालित माना।[1] कुछ नाटककारों ने प्रेम को नियति का कोड़ा समझा जो स्त्री और पुरुष दोनों को मार-मार कर एक दूसरे की गोद में डाल कर कुछ ही दिनों पश्चात् घृणा के प्रसार द्वारा दोनों को एक दूसरे का घोर शत्रु बना देता है।[2] यही नहीं कि इस शक्ति द्वारा पुरुष ही प्रताड़ित होता हो; स्त्रियाँ भी प्रताड़ित होती हैं; मानसिक यातनाएँ भोगती हैं और अन्त में दम तोड़ देती हैं। कुछ उन्नीसवीं शताब्दी के नाटककारों ने इस धारणा के विरोध में यह सत्य भी प्रदर्शित किया था कि नारी का इतिहास, पुरुष पर विजय पाने का इतिहास है; नारी ने जिस क्रूर रूप में पुरुष पर शासनाधिकार जमा लिया है उसकी

---

१. बर्नर्ड शॉ

२. स्ट्राइण्डबर्ग

समता अन्यत्र नहीं : कदाचित् शक्तिपूर्ण पर शक्तिहीन के प्रभुत्व का यही एकाकी उदाहरण है।[1]

प्रेम के द्वन्द्व के फलस्वरूप जो प्रश्न उठे उनमें प्रमुख महत्त्व का प्रश्न था—आत्म-सम्मान। आत्म-सम्मान के विषय पर सत्रहवीं शताब्दी के लेखकों ने अत्यन्त विशद प्रकाश डाला था और उसी को आज के नाटककारों ने भी अपनाया। पुराने युग में सम्मान रक्षा का सरल साधन विवाह माना गया था—जब कोई ऐसी परिस्थिति आ खड़ी होती जहाँ सम्मान को धक्का लगने का भय होता विवाह-संस्कार द्वारा उसका भय दूर कर दिया जाता। कहीं-कहीं मनुष्य को सम्मान रक्षा में द्वन्द युद्ध भी करना पड़ता। इन दोनों विचारों का विरोध आधुनिक नाटककारों ने किया और सम्मान की भावना के अनेक स्तरों का मनोवैज्ञानिक विवेचन दिया। प्रायः सभी नाटककारों ने व्यक्तिगत सम्मान की रक्षा के प्रश्न तर्क की कसौटी पर हल किये।

आधुनिक काल के नाटकों में जिस विषय को सब से अधिक महत्त्व मिला वह विषय है—सामाजिक द्वन्द्व। सामाजिक जीवन में जितने प्रकार के द्वन्द्व संभव हो सकते हैं सभी को साहित्यकारों ने अपनाया। इब्सेन ने तो नाटकों का क्षेत्र सीमित कर केवल आत्म-जगत पर ही प्रकाश डालने का निश्चय किया था परन्तु उनके अनुकर्त्ताओं तथा अन्य नाटककारों ने सामाजिक द्वन्द्वों पर गम्भीर रूप में विचार किया। कहीं पत्रकारों तथा पत्रकारिता पर प्रहार हुये; कहीं एक राज शासन परम्परा की कटु अलोचना हुई; कहीं व्यवसायी पूंजीपतियों की स्वार्थ-परता को घृणित प्रमाणित किया गया; कहीं मद्यपान के विषम प्रभावों का प्रदर्शन हुआ; कहीं न्यायालयों की हृदय-

---

१. आस्कर वाइल्ड

हीनता[1] तथा अक्षरशः न्याय पालन की प्रवृत्ति को हास्यास्पद बनाया गया, जुआड़ियों और राजनीतिक दलबन्दी करने वालों के दुराचरण, तथा राष्ट्रीय जीवन में व्यभिचार फैलाने वालों पर विशेष ध्यान दिया गया और उनकी खूब खबर ली गई। प्रायः अमीर गरीब के सामाजिक संबन्धों के वैषम्य पर गंभीर विचार हुआ। न्याय की दृष्टि में गरीब की महत्वहीनता[2]; व्यवसायी जीवन में गरीब का स्थान;[3] पाखण्डपूर्ण परोपकार और गरीब का हक;[4] जाति-संघर्ष[5] तथा सेक्स-सम्बन्धी प्रश्नों[6] पर तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किया गया।

जब सामाजिक समस्यापूर्ण नाटकों की पराकाष्ठा पहुँची तो उसकी प्रतिक्रिया आरंभ हुई। नाटककार आदर्शवादी तथा कल्पनात्मक विषयों की ओर आकृष्ट होने लगे और काव्यात्मक नाटकों को पुनर्जीवन मिला। समस्यापूर्ण नाटकों में उपयोगितावाद का प्रसार था और कल्पना तथा परिकल्पना[7] दोनों का प्रकाश न था। उनमें आनन्दप्रदान की कदाचित कमी न थी और गंभीरता का आधिक्य था : उनमें सामाजिक दोषों का विवेचन तथा उन दोषों के दूर करने के साधनों का स्पष्टीकरण होता और तर्क का विशेष सहारा लिया जाता। वैज्ञानिक तथा नैतिक विवेचन ही उनके आधार होते और भावात्मकता तथा सौन्दर्यात्मक तत्त्वों की उनमें कमी रहती—कहीं हमें मजदूरों के मैले-कुचैले परिवारों के दर्शन होते और उनके कुत्सित जीवन का परिचय मिलता; और कहीं न्यायालयों में हृदयहीन न्याय-विधान द्वारा निर्दोषों को दण्ड मिलते दिखलाई देता और कहीं पूँजी-

---

१. गाल्सवर्दी—'जस्टिस'
२. गाल्सवर्दी—'सिलवर बाक्स'
३. गाल्सवर्दी—'स्ट्राइफ'
४. शा—'मेजर बारबरा'
५. शेल्डन—'द निगर'
६. शा—'मिसेज वारेन्स प्रोफेशन'
७. देखिये-'काव्य की परख'

पतियों की घोर स्वार्थान्धता में गरीब पिसते प्रतीत होते। ऐसे गंभीर वातावरण-युक्त नाटकों द्वारा आधुनिक पाठकों को भला कैसे आनन्द प्राप्त होता? काव्यात्मक नाटकों का जन्म स्वाभाविक ही था।

काव्यात्मक नाटकों की परम्परा यों तो काफी पुरानी है परन्तु आधुनिक नाटककारों ने इनकी रचना में एक नवीन दृष्टिकोण अपनाया।[1] इन नाटकों की भाषा पद्यबद्ध थी। ये नाटक काव्यात्मक होने के कारण रंगमंच के लिये अनुपयुक्त रहे और इस प्रकार के नाटकों के रचयिता अपने कार्य में सफल भी न हुए। इनमें चरित्र विश्लेषण का क्षेत्र सीमित रहता, कार्य की कमी रहती कहीं-कहीं प्रतीकवाद का आश्रय लिया जाता, और नाटकीय तत्त्व भी कम होते। और फिर आज के गद्य के युग में इनकी सर्वप्रियता होती भी कैसे?

आधुनिक काल में जहाँ काव्यात्मक नाटक अनेक उपर्युक्त कारणों से सर्वप्रिय न हो सके व्यंग्यात्मक नाटकों का बहुत प्रचार बढ़ा। इस कोटि के नाटकों की परम्परा भी अत्यन्त पुरानी है और यूनानी नाटककारों[2] ने ही इनकी परम्परा चलाई। व्यंग्यात्मक शैली में लिखने वाले नाटककार जीवन का यथावत् चित्र न खींच कर अतिशयोक्ति द्वारा पात्रों, विचारों, तथा आदर्शों को हास्यास्पद प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं। वे न तो आदर्शवादी होंगे न यथार्थवादी; उनमें दोनों की छाया प्रस्तुत रहेगी। वे जीवन के यथार्थ को तर्क द्वारा परखते हैं और आदर्शवाद से असन्तुष्ट रहते हैं; वे जान-बूझ कर जीवन का विकृत प्रदर्शन करने में आनन्द प्राप्त करते हैं। जहाँ पर भी उन्हें व्यक्ति या समाज मे कोई दोष अथवा वैषम्य दृष्टिगोचर होता—वे उसे विषयाधार मान कर नाटक रचते और अतिशयोक्ति द्वारा उसे हास्यास्पद बनाते। हास्य ही उनके नाटको का

---

१. स्टीफेन फिलिप्स

२. एरिस्टाफेनीज

प्रमुख तत्त्व रहता और सहानुभूति की नितान्त कमी रहती। वे दूसरों की हीनता तथा अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित कर हास्य का प्रसार करते हैं। व्यंग्यात्मक नाटककार में अहंभाव बहुत अधिक मात्रा में रहता है और जहाँ कहीं कोई व्यवस्था अथवा विचार उसके आदर्श विचारों की तुलना में हीन अथवा निकृष्ट हुये कि उसकी त्यौरी चढ़ जायगी और उसकी व्यंग्यात्मक शक्ति जाग्रत होगी। व्यंग्यात्मक नाटककार का दृष्टिकोण और उसके जीवन-सिद्धान्त को समझे बिना उसके हास्य और उपहास का अर्थ सरलतापूर्वक स्पष्ट नहीं होगा। उसका जीवन-सिद्धान्त ही उसके हास्य का जनक है। जिस प्रकार अथवा जिस कोटि का हास्य उसमें होगा उसी कोटि अथवा उसी प्रकार की उसकी रचना होगी। उसमें बौद्धिक तथा भावात्मक अनुभूति दोनों की ही अपार क्षमता होगी : बौद्धिक शक्ति उसे जीवन के वैषम्य से परिचित करायेगी और भावात्मक शक्ति उसे कौतुकपूर्ण प्रदर्शन पर बाध्य करेगी।

व्यंग्यात्मक नाटककारों ने हमारी विकृत सामाजिक व्यवस्था को ही साधारणतया अपने व्यंग्य का शिकार बनाया। उन्होंने कभी जाति विशेष के चरित्र में निहित अवगुणों को हास्यास्पद बनाया और कभी हमारे व्यवसायी आदर्शों की तर्क हीनता दिखलाई; चिकित्सक,[1] पादरी,[2] सैन्य-सचालक[3] सभी उसके व्यंग्य की लपेट में आये और इन व्यवसायों के प्रति जो हमारी रोमांचक श्रद्धा बनी हुई है उसको निरर्थक तथा घृणास्पद घोषित किया गया। जिन-जिन रूढ़िवादी विचारों तथा आदर्शों के गुण गाते हुए हम अपना जीवन व्यतीत करते हैं और जिन-जिन आदर्शों की हम नित्यप्रति अपने कार्यों में अवहेलना करते हैं उनको व्यंग्यात्मक नाटककारों ने उपहासपूर्ण बना

---

१. शॉ—'डाक्टर्स डिलेमा' २. 'कैन्डिडा'

३. 'मेजर बारबरा'

कर हमें अपने सत्यरूप को पहचानने का आदेश दिया। मनुष्य के झूठे आदर्श जिनकी वह माला जपता है और अवसर आते ही उनको ताक पर उठा कर रख देता है, जीवन के घोर शत्रु हैं। इसी दृष्टि-कोण को लेकर उसने हमारे आदर्श वीरों के चरित्र का विश्लेषण किया; हमारी प्रतिशोध की भावना तथा युद्ध-शैली को तर्कहीन प्रमाणित किया; हमारी आदर्श कर्त्तव्य-निष्ठा तथा वैवाहिक व्यवस्था को उपहासपूर्ण दृष्टि से देखा।[1]

व्यंग्यात्मक नाटककारों ने प्रायः नैसर्गिक प्रवृत्ति तथा व्यक्तित्व की समुचित रक्षा का आदेश दिया और इसी के द्वारा जीवन की सफलता देखी। परन्तु इस स्थान पर यह निर्देश करना अत्यावश्यक है कि जब तक नैसर्गिक प्रवृत्ति और बुद्धि; व्यक्तिवाद तथा परोपकारिता; यथार्थ तथा कल्पना का सन्तुलन तथा सामंजस्य हमारे जीवन में प्रस्तुत नहीं होगा हमारा जीवन विफल ही रहेगा; हमारा अनुभव यही कहता है। युगों का यही अनुभव है।

१

भारतीय नाट्यकला का उद्गम

जिस प्रकार भारतीय साहित्य के सभी अंगों का उद्गम ऋषि-मुनियों की कृपा द्वारा विरचित वेदों में मिलता है उसी प्रकार नाट्य-कला, मूल रूप में ब्रह्मा की कृपा द्वारा उद्भूत हुई। विश्व संचालन कार्य में सहयोग देने वाले देवी-देवता प्रायः अपने दैनिक जीवन की एकरूपता से ऊब उठते और मनोरंजन की आवश्यकता, उन्हें भी स्वभावतः ज्ञात होती। ब्रह्मा ही सब कलाओं के आदि गुरु माने जाते थे और उन्होंने देवताओं के मनोरंजन के लिये वेद-वेदांगों से नाटक

---

१. बर्नर्ड शा—'मैन आव डेस्टिनी'; 'सीजर ऐण्ड क्लियोपाट्रा'; 'आर्म्स ऐण्ड द मैन'।

के अनेक तत्व संग्रहीत कर दिये। संवाद, संगीत, रस तथा अभिनय, ऋग्वेद, सामवेद, अथर्वण एवं यजुर्वेद से क्रमशः प्राप्त हुए। शिव तथा पार्वती के कृपा से ताण्डव तथा लास्य नृत्यों की अवतारणा हुई और नाटक के सभी महत्वपूर्ण तत्व एकत्र हो गये। कमी केवल रही रंग-मच की; उसका निर्माण विश्वकर्मा ने किया। नाट्यकला के इस रहस्यपूर्ण पौराणिक गाथा से कदाचित् तात्पर्य यही निकलेगा कि वैदिक युग में नाट्यकला बीज रूप में प्रस्तुत थी और उसके अनेक महत्त्वपूर्ण तत्वों का समन्वय केवल नहीं हो पाया था। इस समन्वय का कार्य भरत मुनि ने सम्पन्न किया और नाट्य-शास्त्र की रचना की।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अध्ययन से स्पष्ट होगा कि जो विस्तृत विश्लेषण तथा नियमों का निर्माण उन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में किया उसका आधार केवल उनकी कल्पना न रहा होगा। रचना-संबंधी नियमों का निर्माण तभी संभव होगा जब दो, चार, दस, रचनाएँ भी प्रस्तुत हों क्योंकि पहले पहल नियम ही साहित्य का पदानुसरण करते हैं। मानव-प्रकृति के ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि यूनान के प्राचीन गरोहों[1] की भाँति भारतीय गरोहों ने भी प्रकृति के अपार तथा विशाल एवं रहस्यमय-शक्ति का अनुभव किया होगा। उसके परिवर्त्तनशील दृश्यों को देख कर भय तथा श्रद्धा के वशीभूत हो उन्होंने एक दैवी-शक्ति की कल्पना भी की होगी और कालान्तर में उनकी रूप-रेखा निर्माण कर उनकी पूजा अर्चना प्रारंभ की होगी। हरे भरे खेतों में जब फसलें तैयार होतीं, ऋतु परिवर्त्तन होते अथवा किसी धार्मिक पर्व और उत्सवों का आयोजन होता तब गीत गाये जाते; नृत्य होते और जनता की मनोरंजन-प्रियता अनेक रूप में

---

१. देखिये पृष्ठ—६

नृत्य तथा भाव-भंगी द्वारा प्रदर्शित होती। इन्हीं में नाट्यकला के तत्व बीज-रूप में प्रस्तुत दिखाई देंगे जो भविष्य में पल्लवित-पुष्पित हुए।

उत्कर्ष तथा ह्रास—भारतीय साहित्य के आदि ग्रन्थों, पुराणों तथा महाकाव्यों आदि और बौद्ध-कालीन धर्म-ग्रंथों में यथास्थान नट, नटियों, रगशाला, अभिनय इत्यादि का उल्लेख मिलेगा जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कदाचित् नाट्यकला किसी न किसी रूप मे प्राचीन काल में अवश्य प्रयुक्त होती होगी जिसका विकास तथा साहित्यिक निर्माण भारत के श्रेष्ठ नाटकारों—कालीदास, हर्ष भवभूति इत्यादि ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा द्वारा किया। उन्होंने ही श्रेष्ठ तथा विश्व-विख्यात नाटकों की रचना की।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि ईसा के बहुत पहले भारत में नाट्यकला अपने उत्कर्ष पर थी और अनेक लक्षण-ग्रन्थ भी रचे जा चुके थे। भारतीय आलोचक, भरत मुनि के समय से ही नाट्यकला का ऐतिहासिक तथा साहित्यिक विकास मानते हैं और यह विकास आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व पूर्णत: हो चुका था। ईसा की शताब्दियों के आरंभ से ही बौद्धधर्म का प्रचार कम हो चला था, और सातवीं शताब्दी से भारत का राजनीतिक जीवन अराजकता-पूर्ण होने लगा था। हर्ष ने अपनी राजनीतिक सत्ता बहुत काल तक बना रखी परन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् अराजकता और भी फैली; क्योंकि कोई केन्द्रीय शक्ति ऐसी न रह गई जो देश के छोटे-छोटे राज्यों को एक सूत्र में बाँधे रहती और फल यह हुआ कि निकटवर्ती मुसलमान देशों के बादशाहों को भारत पर आक्रमण करने का सुनहरा अवसर हाथ आया। ये आक्रमण पहले पहल केवल लूट-मार के लिये हुए, धीरे-धीरे साम्राज्य निर्माण के आधार बन गये; और कालान्तर में अफगान, गुलामवशीय तथा मुगलवशीय राजाओं का क्रमशः राज्य-स्थापन भारत में हो गया जिसके कारण नाट्यकला

का ह्रास ही नहीं वरन् लोप भी हो गया। इस्लाम धर्म की कट्टरता ने, जो किसी भी नाटकीय प्रदर्शन द्वारा मनोरंजन धर्म-विरुद्ध समझती थी, नाट्यकला प्रचार तथा नाटक रचना पर प्रतिबन्ध लगा दिये और नाटक का भारतीय समाज से निष्क्रमण हो गया। हाँ यह सही है कि दो चार मुगल बादशाहों ने ललित कलाओं को प्रश्रय दे अनेक कलाओं के प्रसार में सहयोग दिया, परन्तु प्रश्रय चित्रकला, संगीत तथा नृत्य को ही मिला—नाटक आश्रयविहीन रहे। वे न तो लिखे गये और न खेले गये। पन्द्रहवीं शती उत्तरी भारत में मुगलों के एक-छत्र राज्यस्थापना के पश्चात् भारतीय समाज में जो मानसिक हलचल फैली और उसके फलस्वरूप जो सन्तवानी तथा सन्तकार्य आविर्भूत हुआ उसके द्वारा नाट्यकला को प्रोत्साहन मिलना चाहिये था और उसकी आशा भी बंधी क्योंकि यह मानसिक आन्दोलन अत्यन्त प्रभावशाली भी था। परन्तु सन्त कवियों ने केवल दुःख की ही अवतारणा देखी और भाग्यवाद की दुहाई दी। फल यह हुआ कि समाज निष्क्रिय हो भाग्यवादी बन बैठा। ऐसी सामाजिक तथा मानसिक परिस्थितियों में नाट्यकला को प्रोत्साहन मिलना असंभव था। जब जनता में ही उत्साह नहीं तो नाट्यकला को भला उत्तेजना कहाँ से मिलती। इतना होते हुए भी रीतिकाल में विरचित कुछ नाटकों[1] का पता अनुसन्धान-कर्त्ताओं ने चलाया है। रीतिकाल के कवियों के रसनिरूपण तथा नायिका-भेद विश्लेषण का संबंध नाटकों से किसी हद तक जोड़ा जा सकता है। उस काल के धार्मिक शास्त्रार्थ तथा पुण्यपर्वों के उत्सवों के स्वांग इत्यादि की योजना में नाट्यकला साँस भरती रही। कुछ आलोचकों का मत है कि इस मध्ययुग में भी दूर दक्षिण के देशों में जो समय-समय पर मुसलमानी शासनाधिकार से मुक्त होते रहे संस्कृत

---

१. ये नाटक अप्राप्त हैं, उनकी रचना का संकेत मात्र मिलता है।

नाटकों के खेलने की रुचि बनी रही और दक्षिण के विशाल देवालय ही उनके रंगमंच रहे; और उत्तर, मध्य तथा पूर्व भारत में जहाँ उनका एक-छत्र शासनाधिकार बहुत काल तक रहा नाट्यकला का प्रायः लोप हो गया। मुगलों की अपेक्षा, अंग्रेजी शासन काल में अंग्रेजी भाषा के पठन-पाठन द्वारा नाट्य-साहित्य को पुनर्जीवन मिला और उन्नीसवीं शताब्दी के [1] मध्य में नाटक-रचना का पहला प्रयत्न दृष्टिगोचर हुआ।

२

नाट्यकला का पुनर्जन्म

कुछ विचारकों के मतानुसार हिन्द तथा मध्यप्रदेश में नाटकों का अविकसित रूप रामलीला, रासलीला, रामनवमी तथा गंगा दशहरा के धार्मिक महोत्सव, तथा वीर ऊदल के यशगान, होलि-

---

१. चौदहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शती तक के अनेक नाटकों का उल्लेख सप्तम हिंदी साहित्य सम्मेलन की कार्य-विवरण-पत्रिका तथा भारतेन्दु कृत 'नाटक' पुस्तक में मिलता है जिनमें 'रुक्मिणीहरण' तथा 'पारिजात हरण' विद्यापति द्वारा लिखे गये थे, केशवदास तथा कृष्ण-जीवन ने क्रमशः विज्ञानगीता तथा करुणाभरण की रचना की थी, 'हनुमान नाटक' हृदयराम पंजाबी ने लिखा और 'प्रबोधचन्द्रोदय' यशवन्तसिंह द्वारा लिखा गया। 'शकुन्तला' 'देवमाया प्रपंच' 'माधवा-नल' कामकन्दला', 'आनन्द रघुनन्दन' 'रामलीला विहार, इत्यादि के नाम के नाटकों का लेखा मिलता है। परन्तु वे रचनायें नाटक नाम की ही हैं; और जैसा इनके नाम से ही स्पष्ट है ये रामायण तथा महाभारत में वर्णित कथाओं के पद्यरूप हैं और उनमें नाटकीय तत्वों का एकान्त अभाव है।

वासना पोषक गीतों, दोहो तथा गजलों की भरमार है जिसके कारण इसकी सर्वप्रियता १६०० तक बराबर बनी रही और इसका फल यह हुआ कि इसके अनुकरण में 'मुछन्दर सभा', 'बन्दर सभा' इत्यादि प्रहसनात्मक नाटक जो नाम ही नाम के नाटक थे, लिखे गये परन्तु उनमें इन्दर-सभा वाली बात कर हाँ ?

१८५७ के बाद से जब अंग्रेजी शासन को स्थायित्व प्राप्त हुआ, अंग्रेज़ों को अपने मनोरंजन के साधन जुटाने पड़े और उन्होंने कलकत्ते[1] में अंग्रेज़ी रंगमच स्थापित किया जिसे देखकर बंगाली साहित्यकारों को बंगाली भाषा के नाटकों के खेलने का प्रोत्साहन मिला। यद्यपि बंगला के साहित्यकारों ने रंगमच कुछ वर्ष पहले बना रखे थे और १८४२ में कुछ निर्जी[2] रंगस्थल भी निर्मित हो चुके थे परन्तु इन रंगमचों को अंग्रेज़ी रंगमच व्यवस्था मे बहुत कुछ सीखना पड़ा जिसके फलस्वरूप उनकी उन्नति होती गई। इसी समय से पश्चिमी प्रभावों का प्रसार तीव्रगति से होने लगा और पश्चिमी साहित्यकार अन्वेषक तथा अनुसधानकर्त्ता भारतीय संस्कृत साहित्य की ओर भी आकृष्ट हुए। संस्कृत के काव्य तथा नाटक, इतिहास तथा धर्मशास्त्र का अनुशीलन आरभ हुआ और अंग्रेज़ी, फ्रेंच, तथा जर्मन भाषाओं की कुछ पुस्तकें अनूदित[3] भी होने लगीं। इसी बीच १८७५ मे आर्य

---

१. अठारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध तथा उन्नीसवीं शताब्दी, पूर्वार्द्ध में बम्बई, मद्रास, पटना शहरों में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित रंग शालाओं का उल्लेख मिलता है।

२. जगन्नाथ शंकरनाथ ने इस वर्ष जो रंगस्थल बनाया वही मराठी रंग-मंच में विकसित हुआ।

३. पश्चिमी लेखकों में सर विलियम जोन्स, राथ, मैक्समूलर, प्रिंसेप, कनिंघम तथा शकुन्तला के अनुवादकर्त्ता मोनियर विलियम्स उल्लेखनीय हैं।

समाज की स्थापना भी हुई और देश की प्राचीन गौरवपूर्ण सभ्यता और साहित्य की ओर देश की शिक्षित जनता आकृष्ट हुई। वैदिक सभ्यता की पूजा होने लगी; उस काल का साहित्य स्तुत्य समझा जाने लगा और संस्कृत की पुस्तकों का अध्ययन तथा बंगाली लेखकों द्वारा अनुवाद[1] अविरल गति से होने लगा। संस्कृत का नाटक जो पहले पहल अभिनीत हुआ वह 'शकुन्तला' था।

जहाँ एक ओर हिन्दी के साहित्यकार संस्कृत नाटकों के अनुवाद द्वारा हिन्दी नाटककारों का पथ प्रदर्शन करना चाहते थे, दूसरी ओर सेठ पेस्टनजी फ्रेमजी, कावसजी तथा बाटलीवाला समान व्यक्ति, वणिक वृत्ति से प्रेरित हो पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों[2] द्वारा भारतीय जनता की रुचि दूषित करने लगे। पारसी कम्पनियों के नाटकों में उर्दू का गहरा रंग चढ़ा रहता था। इसी पारसी रंगमंच पर उर्दू के प्रसिद्ध कवि नासिख के शिष्य अमानत खाँ का लिखा हुआ 'इन्दर सभा' खेला गया जिसमें स्वयं नवाब वाजिदअलीशाह ने भाग लिया था; और जिसकी सर्वप्रियता[3] बहुत दिनों तक बनी रही जिसके फल-

१. निम्नांकित अनुवादों में नाट्यधर्म नहीं निर्धारित हुआ; ये संस्कृत साहित्य की श्रेष्ठता का परिचय मात्र देते हैं :—

राजा लक्ष्मण सिंह : 'शकुन्तला', भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : 'विद्यासुन्दर', 'पाखण्ड विडम्बन', 'धनंजय विजय', 'कर्पूरमंजरी', 'मुद्राराक्षस'। ला० सीताराम : 'महावीर चरित', 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव', 'मृच्छकटिक', 'नागानन्द'।

२. ओरजीनल थियेट्रिकल कम्पनी, अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी, विक्टोरिया नाटक कम्पनी।

३. पारसी कम्पनियों की देखादेखी कुछ उर्दूदाँ नाटककार जो अभिनेता भी थे, अनेक नाटक कम्पनियाँ खोल बैठे और पारसी कम्पनियों के समान कुरुचि का प्रसार करने लगे। इनका संवाद पद्यबद्ध, दृश्य रोमांचकारी तथा उत्तेजनापूर्ण और वातावरण भ्रष्ट था।

स्वरूप अन्य सुरुचिपूर्ण नाटक जनता द्वारा त्याज्य रहे और केवल कुछ शिक्षित जनों को ही प्रिय हुए। इतना होते हुए भी पारसी कम्पनियों ने हिंदी नाटकों का एक हित अवश्य किया। उन्होंने एक व्यवस्था-पूर्ण रंगमंच[1] की भेंट हिंदी साहित्य को दी जो भविष्य में परिष्कृत होता गया।

पारसी नाटकों की उत्तेजक कथावस्तु, लालसा-युक्त संवाद, तथा कुरुचि के विरुद्ध शीघ्र ही भारतेन्दु बाबू ने आन्दोलन आरम्भ किया। बंगला के श्रेष्ठ नाटककार द्विजेन्द्रलाल राय तथा गिरीष घोष के हिंदी में अनूदित नाटकों ने भी इस ओर अपना सहयोग प्रदान किया और रंगमंचीय आवश्यकताओं की पूर्ति साहित्यिक सुरुचि द्वारा की। भारतेन्दु ने सुरुचि फैलाने के उद्देश्य से अनेक संस्कृत नाटकों का अनुवाद किया और उनके सफल अभिनय की व्यवस्था भी की। उनके नाटकों में कहीं सुन्दर कथानक[2] है, कहीं सुन्दर चरित्र-चित्रण[3] है, कहीं हास्य[4] की छटा है और कहीं आकर्षक रस[5] परिपाक है। परन्तु भारतेन्दु के नाटकों के सभी आकर्षक तत्वों का समन्वय १९१२ ई० में बद्रीनाथ भट्ट की प्रतिभा द्वारा "कुरु-वन-दहन" नामक नाटक में हुआ। यह नाटक संस्कृत के "वेणीसंहार" नामक नाटक का रूपान्तर मात्र है और उसमें अंग्रेजी तथा संस्कृत नाटकीय विधानों का यथेष्ट सामंजस्य है।

भारतेन्दु बाबू के नाटकों ने हिंदी नाट्य साहित्य की अपूर्व उन्नति की और नाटककारों का पथ विशद रूप में प्रशस्त किया। उनके अनुवादों ने भारतीय दर्शकों को अनेक वर्ग के नाटकों का

---

१. यह रंगमंच शेक्सपियर के समय के रंगमंच का संक्षिप्त अनुकरण था।

२. नीलदेवी। ३. सत्य हरिश्चन्द्र।

४. अंधेर नगरी। ५. चंद्रावली

परिचय दिया। शिष्ट हास्य की अवतारणा भी उन्हीं के द्वारा हुई। उन्होंने यद्यपि कहीं-कहीं संस्कृत नाटकों का अनुकरण करते हुए सूत्रधार, नान्दी, स्वगत तथा पृथक भाषण का आश्रय तो अवश्य लिया परन्तु उनमें अस्वाभाविकता न आने दी। भाषा शैली से उन्होंने पद्यबद्ध सम्वाद निकाल फेंके, अलंकारों तथा कवित्त का बहिष्कार किया और सुन्दर गीतों के प्रयोग द्वारा आकर्षक वातावरण बनाने की परम्परा चलाई। उन्होंने नाटको की निर्देशन शैली में बहुत कुछ सुधार किया।

भारतेन्दु बाबू के पश्चात् कुछ ऐसे नाटककारों ने नाटक रचना-क्षेत्र में प्रवेश किया जो अपने को पारसी नाटकों के प्रभाव से मुक्त न रख सके। नारायण प्रसाद बेताब तथा राधेश्याम कथावाचक, तुलसीदत्त "शैदा" और श्रीकृष्ण हसरत ने जितने भी पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटक लिखे सब पर कुछ न कुछ मात्रा में पारसी कम्पनियो का गहरा रग है। वे चाहते तो थे भारत के गौरवपूर्ण अतीत का चित्र खींचना परन्तु प्रतिभाहीन तथा प्राचीन युग की सांस्कृतिक चेतना तथा नैतिकता से अनभिज्ञ होने के कारण वे आधुनिक जीवन के भद्दे तथा विकृत चित्र ही खींच सके। ये नाटककार रोमांचक घटनाओ तथा अस्वाभाविक प्रसंगो की खोज में बेतरह पागल रहते क्योंकि जनता की यही रुचि थी और ये नाटककार जनता की इस रुचि के पोषण को ही श्रेष्ठ नाट्य कला समझ बैठे। इस वर्ग के नाटककार पौराणिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियो के चित्रण में नितांत असफल रहे। उनके देवी-देवता वेश्या परिवार समान ज्ञात होते हैं और उनका संवाद भद्दा, कुत्सित तथा नैतिकता से विहीन रहता है।[1] हिंदी नाट्य साहित्य के सौभाग्य से इस वर्ग के

---

१. जो नाटककार इन कुत्सित प्रभावों से मुक्त रहे उनमें माखन-लाल चतुर्वेदी, माधव शुक्ल तथा सुदर्शन और उग्र उल्लेखनीय हैं।

नाटककार बहुत दिन न चल सके और शीघ्र ही भारतेन्दु तथा बदरीनाथ भट्ट द्वारा चलाई हुई साहित्यिक परम्परा को जयशंकर प्रसाद जैसे प्रतिभाशाली नाटककार ने अपनाकर ऐतिहासिक तथा पौराणिक नाटकों की महत्वपूर्ण रचनायें कीं।

ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उनके ऐतिहासिक नाटक 'राज्यश्री', 'विशाख', 'अजातशत्रु' 'स्कंदगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' यद्यपि अनेक कारणों—विशेषतः भाषा—से अभिनय योग्य नहीं फिर भी उनमें इतिहास का हृदयग्राही पुनर्निर्माण हुआ है और बौद्धकालीन भारत की श्रेष्ठ अवतारणा हुई है। उनका पौराणिक नाटक 'जनमेजय का नागयज्ञ' उन्नत भाव तथा दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण है। इन ऐतिहासिक नाटकों में यथेष्ट नाटकीय अन्तर्द्वन्द प्रदर्शित है और कथानक मिश्रित है जिनका विकास पूर्णतयः निर्दोष नहीं है। प्रसाद की निर्देशक-कला प्रशंसनीय है जिसके दर्शन हमें उनके प्रत्येक नाटक में होंगे। उनके आदर्शवादी पात्र हमें जीवन की नूतन अनुभूति देते हैं और बौद्ध-धर्म के उन्नत तथा आध्यात्मिक आदर्शों के प्रतीक हैं।

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भी पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमांचक तथा सामाजिक नाटक लिखे गये, अनुवाद भी हुए; परंतु इस युग की श्रेष्ठता इसी में है कि नाटक यथार्थ जीवन के समीप आ गया और यथार्थवादी तथा बुद्धिवादी[1] नाटककारों की लोकप्रियता बढ़ने लगी। द्विवेदी-युग में पश्चिमी आदर्शों से प्रभावित अनेक नाटककारों के दर्शन होते हैं जिन पर इब्सेन जैसे युगप्रवर्त्तक नाटककारों तथा बर्नर्ड शा जैसे व्यंग्यात्मक, यथार्थवादी नाटककारों का व्यापक प्रभाव पड़ा। इन्हीं के अनुकरण के फलस्वरूप हिंदी नाटकों में

---

१. लक्ष्मीनारायण मिश्र; सेठ गोविन्ददास

भूमिकाओं की प्रथा चली और रंगमंच निर्देशन के संकेत विस्तार-पूर्वक दिये जाने लगे।

भारतेंदु की चलाई हुई हास्य प्रधान अथवा प्रहसनात्मक रचना शैली बद्रीनाथ भट्ट[1], पांडेय बेचन शर्मा उग्र[2], सुदर्शन[3], जी० पी० श्रीवास्तव तथा रामनरेश त्रिपाठी ने अपनायी।[4] बद्रीनाथ भट्ट तथा उग्र जिन्होंने दो ही चार ऐसे नाटक लिखे—अपने नाटकों में जहाँ तक हो सका हास्य को शिष्ट स्वस्तर पर रखने का प्रयत्न किया। जी० पी० श्रीवास्तव लिखित प्रहसनों तथा व्यंग्यपूर्ण नाटकों का प्रचार यद्यपि बहुत जोर शोर से हुआ फिर भी न तो उनमें श्रेष्ट हास्य-रस[5] है और न लेखक में उस रस के परिपाक की कला ही है।

आधुनिक नाटक रचना तथा नाट्य कला पर पिछले पचीस वर्षों के पश्चिमी नाटककारों की विचारधारा का अत्यंत गम्भीर, विस्तृत तथा व्यापक प्रभाव पड़ा है। उन्हीं की विचारधारा से प्रभावित होकर हिंदी नाटकों की आत्मा तथा उनकी रूपरेखा और निर्देशन कला में विशाल परिवर्तन हुआ है। बुद्धिवाद, प्रकृतिवाद, यथार्थवाद तथा प्रतीकवाद की शैली जो पश्चिमी नाटककारों ने चलाई उसे हिंदी के अनेक नाटककारों ने प्रसन्नता-पूर्वक अपनाया है परंतु यह कहना कठिन है कि उन्हें सफलता कहाँ तक मिली। इब्सेन द्वारा प्रसारित बुद्धिवाद के आकर्षण से कदाचित ही कोई नाटककार मुक्त रह सका हो। स्ट्राइण्डबर्ग के प्रकृतिवाद ने हमारा समस्त सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त

---

१. 'विवाह विज्ञापन'; 'लबड़ धों धों'; 'चुंगी की उम्मेदवारी

२. 'उजबक'; 'चार बेचारे'। ३. 'आनरेरी मजिस्ट्रेट'

४. रूपांतरित 'साहब बहादुर उर्फ चड्ढा गुलखैरू, 'मार मार कर हकीम; 'मर्दानी औरत'; 'नोक झोंक'; 'उलट फेर'

५ चार्ल्स चैपलिन की हास्यपूर्ण नाट्यकला का हिंदी पर बहुत अधिक प्रभाव है।

करने का प्रयत्न किया है। हमारे अनेक राजनीतिक; व्यवसायिक, सामाजिक, तथा आर्थिक सम्बन्धों के पाखंडों का जिस तीव्र बुद्धिवादी रूप में पश्चिमी नाटककारों ने विश्लेषण किया है उससे भी हम विलग नहीं रह सके हैं। जिन मनोवैज्ञानिक अन्तर्द्वन्द्वों का अवगाहन; जिन जीवन तत्वों का विश्लेषण पश्चिमी नाटककारों ने किया वह आधुनिक नाटक साहित्य की अमूल्य निधि है। उनकी विचार-धारा तथा उनकी शैली का सफल अनुकरण तभी हो सकेगा जब हमारे नाटककारों का अध्ययन-क्षेत्र अत्यंत विशाल हो और उनमें वही बौद्धिक शक्ति हो जो आज के पश्चिमी नाटककारों में प्रस्तुत है। यह निर्विवाद है कि बुद्धिवाद, प्रकृतिवाद तथा यथार्थवाद को अपनाने में हमारे अनेक नाटककार असफल रहे हैं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि हमारे नाटककारों के सम्मुख हमारे सामाजिक अंगों से सम्बद्ध वे प्रश्न हैं ही नहीं जो पश्चिमी जीवन में हर समय मिलेंगे। परन्तु जब आज का मनुष्य केवल राष्ट्रीय भावना से प्रेरित न होकर अन्तर्राष्ट्रीय भावना से प्रेरित है; एक ही आशा और निराशा के द्वन्द्व से व्यथित है; एक ही भय से भयाकुल है तथा एक ही आदर्श से परिचालित है तो उसे संसार की सभी विचारधाराओं से परिचित होना पड़ेगा। इसी में विश्व का कल्याण है।

३

हिन्दी नाटकों के विषय

हिन्दी नाटकों के विषयों का विवेचन सरल है क्योंकि हिन्दी भाषा में नाटकीय परम्परा न तो बहुत पुरानी है और न बहुत मौलिक। जैसा कि संस्कृत नाटकों के अनुवादों से स्पष्ट है (क्योंकि पहले पहल उन्हीं के अनुकरण रूप में और अनुवाद द्वारा नाटकों का अविर्भाव हुआ) इनके विषय पौराणिक ही रहे। और यह स्वाभा

विक भी था। क्योंकि जिन-जिन कारणों से नाटकीय आत्मा का विकास हुआ; जिन-जिन तत्वों से उसकी रूप-रेखा का निर्माण हुआ उनमें (जैसा हम संकेत कर चुके हैं) नृत्य, संगीत तथा देवपूजा और वीरपूजा की भावना ही मूल रूप में प्रस्तुत थी। और नाटककारों का पौराणिक वीरो की ओर ध्यान आकृष्ट होना स्वाभाविक था।

चौदहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के जिन नाटको का अनुसधान हुआ उनके नाम से ही उनके पौराणिक कथानको का आभास मिल जायगा। यदि श्रेष्ठ नाटकीय तत्वों की कसौटी पर उन्हें कसा जायगा तो वे कदापि भी खरे नहीं उतरेंगे क्योंकि उनका अधिकाश तो अनुवाद मात्र है और उससे भी अधिक वे रामायण तथा महाभारत की कथाओं के पद्यात्मक वर्णन मात्र हैं। न तो उनमें कहीं पात्रो का प्रवेश और और प्रस्थान है; न चरित्र चित्रण; न घटनाओ का सगठन; और न भावनाओं का उत्कर्ष। उनमें काव्य-तत्व ही अधिक मिलेंगे। रामलीला तथा रासलीला के अन्तर्गत अनेक धार्मिक कथाओं के वे पद्यबद्ध निरूपण मात्र हैं : इनकी धार्मिक कथाओं[1] के कारण इनका क्षेत्र संकुचित ही नहीं वरन् अनाटकीय भी है।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना तथा पश्चिमी विचारो के प्रचार के कारण और साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीय भावनाओं के आविर्भूत होने के फलस्वरूप एवं नवीन आन्दोलनों द्वारा लेखकों को नवीन विचार तथा नवीन उपादान मिले। उन नवीन विचारों तथा उपादानों का प्रयोग पहले-पहल साहित्य रूप में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने ही किया और उन्हीं के ध्रुव-प्रयत्नों द्वारा हिन्दी साहित्य की नाटकीय

[1] ऐतिहासिक दृष्टि से भारतेन्दु बाबू के कथनानुसार हिन्दी की विशुद्ध संस्कृत रीति पर लिखे हुए नाटक के रचयिता उनके पिता श्री गोपालचन्द्र थे जिनका उपनाम गिरिधरदास था। इस पौराणिक कथानकयुक्त नाटक के कुछ ही अंश प्राप्त हैं।

परम्परा का पुनर्निर्माण साहित्यिक रूप में हुआ। भारतेन्दु बाबू अपने युग के शोचनीय राष्ट्रीय जीवन से बहुत व्यथित हुए: उनके समय का भारतीय समाज अपनी पूर्ण अधोगति को प्राप्त था। भारतीयों का राजनीतिक तथा सामाजिक एवं धार्मिक तथा आर्थिक जीवन इतना हेय तथा निकृष्ट हो चुका था कि किसी भी सुधार की भावना का प्रसार असम्भव था। समृद्धिशाली पश्चिमी जीवन की तुलना में तो उस काल का सम्पूर्ण जीवन कुछ भी न था। भारतेन्दु जैसे प्रतिभापूर्ण साहित्यकार के लिये ऐसी परिस्थिति उनकी साहित्यिक प्रेरणा को जाग्रत करने की कारणस्वरूप हुई; और उन्हीं से प्रेरित होकर उन्होंने समकालीन भारतीय जीवन से संबंधित विषय-वस्तु को अपनाया। पौराणिक[1] प्रेरणा द्वारा भी भारतेन्दु ने नाटक लिखे परन्तु विशेषतः समाज तथा राजनीति संबधी विषय ही उनके नाटकों में सफलतापूर्वक प्रयुक्त हुए। समाज में प्रचलित अविद्या, अंधविश्वास, छुआछूत, पारिवारिक तथा पारस्परिक फूट और पाखंड, गरीबी और भूख और समाज के सर्वांगीण अधःपतन इत्यादि उनके समाज संबधी[2] नाटकों में विषय रूप में प्रयुक्त हुए।

---

१ सती प्रताप

२'भारत दुर्दशा', 'नीलदेवी'। इस संबध में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय का कथन स्पष्ट तथा मान्य है—' देश की अधोगति पर विचार करते समय उनका ध्यान बरबस विदेशी आक्रमणकारियों के घातक प्रभाव और भारत के प्राचीन आर्य-गौरव तथा पृथ्वीराज, पोरस, राणा प्रताप, शिवाजी आदि वीरों की ओर आकृष्ट हो जाता और वीरतापूर्ण भीषण युद्धों के ज्वलंत उदाहरणों में उनका नीरव राष्ट्रीय गान जग उठता। भारत की दुर्व्यवस्था पर वे आँसू बहाते। रोग, महर्घ, कर, मद्य, आलस्य, धनहीनता, बलहीनता, अविद्या, यवनों के कारण दुःख, पाश्चात्य सभ्यता का अंधानुकरण, धार्मिक अंधविश्वास, छुआछूत,

कुछ अन्य नाटककारों ने बालविवाह[1] तथा विधवा विवाह के अशुभ परिणाम कुछ नाटकों में वर्णन किये तथा कुछ अन्य नाटककारों ने धर्मों की एकता और ईश्वर[2] सभी धर्मों का प्राण है, सिद्धांत रूप में रक्खा। कुछ अन्य नाटककारों ने वीररस प्रधान नाटकों में धार्मिक सुधार[3], विवाहोत्सव में अपव्यय का कुपरिणाम दिखलाया[4]; कुछ एक ने एकता तथा स्त्री-स्वतन्त्रता का प्रचार किया। इन विषयों के बहुत से अंग प्रहसनों[5] में अनेक रूप में प्रयुक्त हुए।

हिन्दी नाटककारों के विषयाधारों के विवेचन द्वारा यह स्पष्ट होगा कि हिन्दी नाटकों के पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमांचक तथा सामाजिक-चार वर्ग हुए। रामलीला तथा रासलीला से संबंधित जो नाटकीय परम्परा चली उनमें अधिकतर कथानक पौराणिक थे जिनका उद्देश्य जनता को शिक्षा देना, देशभक्ति धर्मभक्ति इत्यादि उपदेश रूप में रखना था। रोमांचक नाटक, पारसी कम्पनियों ने, उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से लेकर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक अभिनीत किये जिनमें रीतिकाल के नायक नायिकाओं का इस्लामी अथवा उर्दू रूपान्तर प्रदर्शित था। ऐतिहासिक नाटकों में जितनी परिपक्वता

दम्भ, पाखंड, भूत-प्रेत, अनेक देवी देवताओं की पूजा, दुर्भिक्ष, निज भाषा के प्रति उदासीनता और फलतः अधपतन, स्वदेशी के प्रचार का प्रभाव, देश के उद्योग धंधों का अधःपतन, आर्थिक शोषण, मतों का बाहुल्य, अन्याय, असंगठन, अंध परम्परा आदि का उल्लेख क्षोभपूर्ण शब्दों में वर्णित है······राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों के अन्य नाटककारों की विचारधारा भी भारतेन्दु की विचारधारा के लगभग समान समझनी चाहिये।"

१ 'दुःखिनी बाला' २ 'धर्मालाप'

३ 'मयंक मंजरी महानाटक' ४ 'विवाह विडम्बन'

५ देखिये—'प्रहसन खंड'

हमें 'प्रसाद' में मिलेगी वह और कहीं प्रस्तुत नहीं। वे भारतीय सांस्कृतिक चेतना के प्रतीक भी हैं और हम पहले कह चुके हैं बौद्ध-कालीन आदर्शों का पुनर्निर्माण करते हैं।

उपर्युक्त चारों वर्गों की नाटकीय शैली के विषय में बहुत कुछ कहने की गुंजायश नहीं। कहीं कथानक महत्वपूर्ण है तो चरित्र-चित्रण नहीं, कहीं चरित्र चित्रण है तो अभिनयात्मकता नहीं, भाषा नहीं और रंगमंचीय उपयुक्तता नहीं; कहीं क्लिष्ट रहस्यवादी कविता की छटा है तो कहीं काव्यहीनता। जहाँ कहीं कथोपकथन स्वाभाविक और यथार्थ है वहाँ श्रेष्ठ कथानक नहीं। आजकल पश्चिम के यथार्थवादी, बुद्धि-वादी तथा प्रतीकवादी नाटकों का अनुवाद और अनुकरण[1] जो हो रहा है उससे आशा की जाती है कि हमारी नाटकीय शैली परिष्कृत होती जायेगी और कालान्तर में हमारे साहित्यकार श्रेष्ठ नाट्य साहित्य का निर्माण करेंगे। पश्चिमी नाटककारों की दृष्टि जिस सूक्ष्म में हमारी आत्मा का विश्लेषण करती है; हमारे मनोवैज्ञानिक जीवन का जिस गूढ़रूप में विवेचन करती है, वह हमारे नाटकों में प्रस्तुत नहीं। हमारे नाटककारों के विषय बाह्य सामाजिक विषय हैं : हमें उन नाटककारों की आवश्यकता है जो हमारे जीवन के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करें : बाह्य जगत से दृष्टि अन्तर्जगत की ओर फेरें।

यदि वास्तव में देखा जाय तो अनेक नाटककारों के होते हुए भी हिंदी का नाट्य-साहित्य न तो महत्वपूर्ण है और न उन्नत। हमें चारों वर्गों के नाटकों में नाटकीय तत्व यदा-कदा मिल तो जायेंगे परन्तु अभिनय के उपयुक्त समुन्नत नाटक कदाचित् ही मिलें। यह आश्चर्य का विषय है कि जहाँ हिंदी का काव्य तथा उपन्यास प्रगति पथ पर काफी दूर पहुँच गया वहाँ नाट्य-साहित्य हीन ही रहा और अनेक उपादानों के होते हुए भी, जो किसी भी प्रतिभाशाली नाटककार को

---

१ सेठ गोविंददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र

विशाल प्रेरणा दे सकते थे, श्रेष्ठ नाटक नहीं लिखे गये। इस न्यूनता के प्रमुख कारण हैं—राष्ट्रीय रंगमंच का अभाव, मनोवैज्ञानिक अध्ययन की उपेक्षा, अभिनय के प्रति समाज की अन्यमनस्कता, स्त्री वर्ग का असहयोग तथा सिनेमा का व्यापक प्रचार। समाज की गरीबी भी अनेक रूप में इसका कारण हुई और भारतवर्ष के जिस प्रांत में इन अनेक कठिनाइयों पर विजय पाई गई वहाँ का नाट्य साहित्य हिंदी की अपेक्षा कहीं उन्नत है। बंगाल, गुजरात महाराष्ट्रीय प्रदेशों का नाट्य साहित्य, हिन्दी की अपेक्षा कहीं उन्नत है परन्तु जिस गति से आधुनिक शिक्षित वर्ग का ध्यान नाटक की ओर आकृष्ट हो रहा है उससे नाट्य रचना का भविष्य उज्वल प्रतीत होगा।

३

अंग्रेजी दुःखान्तक शैली

पूर्व शेक्सपियर नाटककारों ने कोई विशेष नाट्य सिद्धान्त नहीं प्रस्तुत किया। ये नाटककार केवल कवि और कलाकार थे और उनमें सिद्धान्त निर्माण की क्षमता न थी। अंग्रेज़ी साहित्यकारों में किड, नैश तथा मार्लो सबने नाटक लिखे, जिनमें केवल मार्लो ही मौलिक रहे और उन्हीं के नाटकों से कुछ दुःखान्तकी के सिद्धान्त निकाले जा सकते हैं। मार्लो के नाटकों में न तो सहानुभूति, करुणा तथा भय का आवेग है और न दुःखान्तकी की प्रबल भावना ही दिखलाई देती है। उनमें केवल एक ही मुख्य तत्व है; और वह है मानव की अजेय इच्छा शक्ति। इस अजेय शक्ति के सम्मुख साधारण मनुष्य क्या देवता भी नहीं ठहर सकते, परन्तु मृत्यु ही एक ऐसी शक्ति है जो उसे नीचा दिखलाती है। दुःखान्तकी की आत्मा का स्वर्गीय प्रस्फुटन तथा दुःखान्तक शैली की महत् प्रतिष्ठा शेक्सपियर लिखित नाटकों में ही प्रस्तुत है।

शेक्सपियर के नाट्य सिद्धान्तो मे दो प्रमुख तत्व मिलते है—

पहला—दुःखान्तकी हमारे हृदय मे करुणा, भय तथा रहस्य का सचार करती है।

दूसरा—इसके प्रभाव से हममे द्रोह, नैराश्य तथा पराजय की भावना नहीं आती बल्कि हममें विश्वास नैतिकता तथा ईश्वरीय न्याय-विधान के प्रति श्रद्धा तथा सन्तोष की भावना जाग्रत होती है।

हम शेक्सपियर के नाटकीय तत्वो का विस्तृत विवेचन आगे चल कर करेंगे, परन्तु यहाँ यह देख लेना उचित है कि शेक्सपियर के मुख्य सिद्धान्त, प्राचीन युग के सिद्धान्तों से कहाँ तक भिन्न अथवा श्रेष्ठ हैं। इसका निश्चय केवल दुःखान्तकी के प्रभाव के विश्लेषण से ही हो सकता है क्योंकि यही नियम हमने अन्य शताब्दियों के कलाकारों के लिए भी लागू किये हैं।

अच्छा तो मनुष्य की भाग्य विधायक शक्ति का क्या रूप है? शेक्सपियर ने इस प्रश्न का कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दिया है, मगर अपने नाटकों में इस शक्ति का प्रयोग ऐसे ढङ्ग से किया है कि हम उसके मुख्य तत्व सरलता से समझ सकते हैं। उनके नाटकों के अध्ययन से पता चलता है कि यह शक्ति न तो एक अन्धी, विचारहीन, कठोर लोहे की मशीन के समान है जो अपने सामने की हर वस्तु को पीसती चली जाती है; और न यह एक ऐसी शक्ति है जो मनुष्य को उसके सुकर्मों का अच्छा फल और कुकर्मों का दण्ड बराबर-बराबर देती चलती है। वस्तुतः यह शक्ति नैतिक है; परन्तु इसमे कुछ ऐसे अश रहते हैं जो समय पाकर, भीषण रूप धारण कर, मनुष्य को अपने चपेट में ले लेते हैं और उसके जीवन मरण के निर्णायक भी बन जाते हैं।

ये छोटे अश अपने से तो कोई हानि नहीं पहुँचाते परन्तु ये सदा इस बात की चेष्टा मे रहते हैं कि उनके क्षेत्र में कोई अनैतिकता न फैलने पावे; और इसी उद्योग मे वे कभी-कभी दोष और अवगुण के

कीटाणु फैला कर अपनी शक्ति की जाँच किया करते है। जब अव-गुणों के कीटाणु स्वय फूलने फलने लगते है तो नैतिक शक्ति अपनी पूरी ताकत लगा कर उनको निकाल फेंकना चाहती है और इस प्रयत्न में केवल अवगुणों का ही नाश नहीं होता वरन् कुछ विशेष मात्रा में गुणों का भी नाश हो जाता है। यद्यपि गुणों का नाश उसे वाञ्छनीय नहीं परन्तु अवगुणों के लपेट में आकर उनकी भी काफी हानि हो जाती है। जिस प्रकार लोहे की कोई चीज वर्षा में बाहर रख दी जाय तो उस पर जंग लग जाता है और जब हम उस जंग को छुड़ाते है तो लोहे को घिसना पड़ता है, उस पर स्वच्छ करने वाले तरल पदार्थ डालने पड़ते है और इस प्रयोग में लोहा काफी घिस जाता है और हलका भी हो जाता है परन्तु उसमें दूनी चमक आ जाती है। उसी प्रकार जीवन के दोषों को हटाने के प्रयत्न में जीवन के कुछ सद्गुणों का भी नाश होना अनिवार्य है। परन्तु इसके बाद जीवन में शुद्धता तथा शुभ्रता निश्चय रूप से आ जाती है। अथवा गुलाब के रूप रंग को सँवारने के लिए माली को पौधे काट छाँट कर छोटे और हीन करने पड़ते है तभी उसमें नई कलम लगती है उसी प्रकार यह नैतिक शक्ति हमारे जीवन को परिमार्जित तथा प्रस्फुटित करती रहती है।

शेक्सपियर का नाटकीय उद्देश्य न तो ईश्वरीय विधान को मनुष्य से सम्मानित करवाना था और न दैवी विधान की ही श्रेष्ठता को प्रतिपादित करना था। इसी कारण उनके दुःखान्तकों में उसकी वास्तविक आत्मा का प्रस्फुटन हुआ है। वास्तव में उन्होंने इस रहस्य को रहस्य ही रहने दिया; और यह भी सच कि बिना इस रहस्यपूर्ण भावना के दुःखान्तकी, दुःखान्तकी हो ही नहीं सकती।

४

शेक्सपियर की दुःखान्तक-शैली

शेक्सपियर के नाटकों में चार प्रधान तत्व हैं—

(क) पात्र

(ख) विषयः वस्तु-निरूपण

(ग) कार्य

(घ) प्रभाव

इन चारो प्रधान तत्वों का हम विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

(क) पात्र

शेक्सपियर के मुख्य पात्र विशेषतः श्रेष्ठ वर्गों के हैं। वे राजवंश अथवा समाज में अत्यन्त सम्मानित वर्ग के प्रतिभाशाली व्यक्ति हैं। अथवा हम यह कह सकते हैं कि ये मुख्य पात्र साधारण जन समुदाय से नहीं चुने गए हैं और उनको नाटककार ने दुःखान्तकी के उपयुक्त नहीं समझा है। उदाहरण के लिए उनकी प्रमुख रचनाओं में ('किंग लियर' में लियर, 'हैमलेट' में हैमलेट', 'ओथेलो' में ओथेलो, 'मेकबेथ' में मेकबेथ 'जूलियस सीज़र' में ब्रूटस, और 'रोमियो ऐण्ड जूलियेट' में रोमियो और जूलियेट) मुख्य पात्र राजा हैं, राजकुमार हैं, सेनापति हैं, राज्य सभासद हैं तथा श्रेष्ठ वंश के प्रेमी हैं।

देशकाल की अन्धविश्वासपूर्ण रुचि, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, और नाटकीय रोचकता के लिए शेक्सपियर ने प्रेतात्माओं तथा जादूगरनियों को भी पात्र रूप में रखा है। जैसे हैमलेट के पिता की प्रेतात्मा, बाँकों की प्रेतात्मा, सीजर की प्रेतात्मा तथा मेकबेथ के साथ संवाद करने वाली जादूगरनियाँ पात्र रूप में प्रयुक्त हुई हैं।

इन समस्त नाटकों में यद्यपि अनेक पात्र तथा पात्रियाँ हैं फिर भी केवल एक ही प्रमुख व्यक्ति पर दुःखान्तकी आधारित है। इस

मुख्य पात्र को हम नायक कहेंगे और इसी नायक के उत्थान और पतन में दुःखान्तकी की पूर्णता है।

दुःखान्तकीयों की नायिकाएँ तथा अन्य पात्रियाँ मुख्य पात्र अथवा नायक से कम महत्वपूर्ण रहती हैं। यद्यपि इन नायिकाओं का वस्तु में बहुत बड़ा दायित्व रहता है फिर भी उनका महत्व गौण ही है। 'हैमलेट' की ओफ़ीलिया हैमलेट को हताश करती है; 'मेकबेथ' की लेडी मेकबेथ को उत्तेजित करती है; 'ओथलो' की डेस्डे-मोना अपनी दैवी सरलता तथा विश्वास से ओथेलो को ईर्ष्यालु बनाती है और 'लियर' में पुत्रियाँ लियर को पागल कर देती हैं, परन्तु कथानक की दृष्टि से हम हैमलेट, मेकबेथ, ओथेलो तथा लियर समान नायकों में ही लिप्त रहते हैं, नायिकाओं में नहीं।

नायक—शेक्सपियर के नायकों में कुछ विशेष गुण होते हैं। श्रेष्ठ वंश के व्यक्ति होने के अतिरिक्त वे असाधारण श्रेणी के व्यक्ति हैं तथा उनमें असाधारण सहन शक्ति रहती है। इससे यह मतलब नहीं कि वे महान पुण्यात्मा अथवा पापात्मा हैं, परन्तु साधारण मनुष्यों के सभी गुण रखते हुए भी वे उनसे कुछ ही पृथक् होते हैं। उनमें वे ही साधारण गुण रहते हैं जो हम सब में स्वभावतः होते हैं परन्तु कलाकार की कल्पना शक्ति के कारण वे सदैव एक उच्च स्तर पर रहते हैं। यद्यपि हममें और उनमें काफ़ी समानता रहती है फिर भी हम अपने को उनसे कुछ अंशों में अलग देखते हैं। हम यह भी जानते हैं कि जो जो कार्य वे करते हैं, वैसा ही कदाचित् हम भी यदि उसी परिस्थिति में होते तो अवश्य करते; परन्तु हम यह भी जानते हैं कि शायद जीवन में उनके समान विरला ही कोई व्यक्ति हो।

नायकों के स्वभाव में एकांगी दोष रहता है। उनके विचार स्वभावतः एक ऐसी दिशा और ऐसे पक्ष की ओर खिंचते चले जाते हैं कि वे उसके विपरीत कुछ सोच ही नहीं सकते। विशेषतः वे किसी

एक विचार, किसी एक भावना अथवा किसी एक ही वस्तु की ओर इतना झुक जाते हैं कि वे उससे उभर नहीं पाते। उनके मस्तिष्क अथवा हृदय अथवा स्वभाव के इस एकांगी दोष के कारण ही उनकी विफलता रहती है। इस घातक त्रुटि के कारण ही अन्य पात्र भी जो उनके सम्पर्क में आते हैं दुःखी होते हैं और वे अपनी भी जान अन्त में खो बैठते है। परन्तु इस एकांगी दोष के कारण हम उनसे न तो घृणा करते हैं और उनको हास्यास्पद समझते हैं; वरन् इतने पर भी हम उनको श्रेष्ठ, प्रतिभाशाली तथा महान व्यक्ति मानत हैं। उनकी विफलता और उनके पतन को देख कर हममें भय, सहानुभूति और करुणा का संचार होता है। यद्यपि उनका शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है फिर भी हम उनको आत्मिक और आध्यात्मिक शक्ति से बिना प्रभावित हुए नहीं रहते। उनकी श्रेष्ठता, उनकी प्रतिभा, उनकी आत्मा किसी तरह भी हमारे सम्मुख हीन नहीं हो पाती।

नायकों का यह घातक अवगुण केवल दो ही रूप ले सकता है। या तो नायक अकर्मण्य होकर निश्चित अथवा वाञ्छित कार्य न करे; अथवा वह कार्यशील हो और जानबूझ कर वाञ्छित कर्म करते करने एक अत्यन्त अवाञ्छित कर्म कर डाले। उदाहरण के लिए हैमलेट अकर्मण्य होकर वाञ्छित काम अनुकूल समय आने पर भी नहीं करते और मैकबेथ कर्मशील हो, जानबूझ कर अत्यन्त अवाञ्छित कर्म कर डालते हैं। इसी घातक अवगुण के फलस्वरूप दुःखान्तकी के नायक को दो तरह की यातना भुगतनी पड़ती है। एक आन्तरिक और दूसरी वाह्य। आन्तरिक यातना उसे अपने निजी विचारों के द्वन्द्व और संघर्ष से मिलती है और वाह्य यातना उसे—सामाजिक, राजनीतिक अथवा पारिवारिक—विरोधी दलों द्वारा मिलती है। आन्तरिक्त रूप से, हैमलेट के हृदय में कर्त्तव्य और संशय में घोर द्वन्द्व होता है, ओथैलो में प्रेम और ईर्ष्या में; लियर

में पितृ प्रेम तथा सन्तान द्रोह की भावना में; और मेकबेथ में महात्वाकाक्षा तथा राज्यभक्ति में। वाह्य रूप से हैमलेट को अपने चाचा का; लियर को अपनी पुत्रियों और अपने जामाताओं का मेकबेथ को राजनीतिक शक्तियों का विरोध देखना पड़ता है। इन्हीं दोनों सघर्षों के द्वारा ही श्रेष्ठ दुःखान्तकी सम्पूर्ण होती है।

दुःखान्तकी के सम्पूर्ण होते होते जब नायक स्वयं अपनी हत्या करता है अथवा दूसरों के द्वारा अपनी जान खोता है तो उसके कुछ ही क्षण पहले वह अपनी एकांगी त्रुटि और घातक दोष को जान लेता है। एक तरह से वह अपनी घातक त्रुटि का प्रतिशोध, स्वयं अपने से, प्राण दण्ड ग्रहण कर के लेता है। इसी अन्तिम अनुभव में वह अपना आत्मिक अथवा आध्यात्मिक विश्लेषण देकर दुःखान्तकी का सम्पूर्ण भार ओढ़ लेने का प्रयत्न करता है। इसी क्षण वह दर्शकों में करुणा, सहानुभूति तथा भय का सचार करता है। हैमलेट आत्महत्या के पहले अपनी कमज़ोरी और अपने चाचा के छल को भलीभाँति समझ लेते हैं; ओथेलो अपनी मृत्यु के पहले अपनी राक्षसी ईर्ष्या और डेस्डेमोना की दैवी पवित्रता घोषित करते हैं; मेकबेथ अपनी घृणित महात्वाकांक्षा के लिए रक्तपात करके जीवन की निस्सारता बतलाते हैं और ब्रूटस अपने आदर्शवाद की भूल में अपने मित्र सीजर की हत्या कर, अन्त में मित्र की लोकप्रियता की बलिवेदी पर बलिदान हो जाते हैं।

(ख) विषय

शेक्सपियर ने अपने नाटकों के समस्त कथानक प्राचीन इतिहासों, जीवन चरित्रों, लोकगाथाओं तथा कहानियों से लिए परन्तु उन्होंने अपनी नाट्य प्रतिभा द्वारा नाटक की वस्तु का निर्माण मौलिक रूप से किया उनकी दुःखान्तकीयों में ऐतिहासिक पात्रों की जीवन गाथा की विशेष घटनाएँ ही नाटकीय रूप में प्रदर्शित हैं।

हैमलेट का प्रतिशोध, मेकबेथ का उत्थान और पतन, ओथेलो का प्रतिशोध, लियर का प्रमाद, रोमियो और जूलियट का अटूट प्रेम, ब्रूटस की अदूरदर्शिता तथा आदर्शवादिता—इन ऐतिहासिक विषयों की आत्मा है जो वस्तु का आधार बन जाती है। इन वस्तुओं की कम से कम दो और कभी कभी चार धाराएँ तक नाटकों में प्रवाहित होती रहती है। उदाहरण के लिए हैमलेट में मुख्यतः दो धाराएँ हैं—हैमलेट की अकर्मण्यता तथा उनकी माता, चाचा, और दर्बारियों का छलपूर्ण व्यवहार; मेकबेथ में तीन धाराएँ हैं—मेकबेथ की महत्वाकांक्षा लेडी मेकबेथ की कार्य क्षमता, जादूगरनियों की भविष्यवाणी तथा राज्य के असली वारिसों का शक्ति संचय, जूलियस सीजर में तीन ही हैं—सीजर की लोकप्रियता; ब्रूटस का आदर्शवाद तथा कासियस का प्रपच।

प्रत्येक वस्तु में ऐसे नायक और नायिका तथा अन्य विरोधी अथवा सहायक पात्रों का सम्मेलन रहता है जिसके आधार पर आन्तरिक तथा वाह्य-द्वन्द्व सफलता पूर्वक प्रदर्शित हो सके। फलतः ब्रूटस तथा कासियस; हैमलेट ओफोलिया, पोलोनियस, क्लाडियस तथा जर्ट्रूड; ओथेलो, इयागो तथा कासिओ; लियर, विदूषक तथा पुत्रियाँ—भिन्न-भिन्न नाटकों में यही सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। कथानक तथा वस्तु को रोचक बनाने के लिए नाटककार कुछ विशेष स्थलों; पात्रों अथवा आदर्शों का निर्माण केवल अपनी कल्पना शक्ति से स्वयं ही कर लेता है। इन दृश्यों अथवा पात्रों का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता; ये केवल कपोल-कल्पित हैं। इन कल्पित स्थलों में प्रेत आत्माएँ, जादूगरनियाँ तथा अन्य मानसिक प्रलापों का समावेश है। प्रायः सभी श्रेष्ठ दुःखान्तकीयों की वस्तु में प्रेतात्माएँ तथा जादूगरनियाँ पात्र रूप में आकर कथानक को देशकाल के विश्वास के अनुकूल, मनोवैज्ञानिक तथा रोचक बनाने में सहयोग देती हैं। मेकबेथ, बाँकों की प्रेतात्मा; हैमलेट, अपने पिता की

प्रेतात्मा तथा ब्रूटस, सीज़र की प्रेतात्मा देखते हैं; और मेकबेथ तो जादूगरनियों से संवाद तक भी कर लेते हैं और उनको प्रत्यक्ष देखते हैं।

शेक्सपियर ने प्रत्येक दुःखान्तकी के कथानक में आकस्मिक कुयोग अथवा सयोग को भी स्थान केवल इस उद्देश्य से दिया है कि दुःखान्तकी के प्रभाव में और भी रहस्य आजाय और पाठकों और दर्शकों का कुतूहल और भी बढ़ जाय। इसी सिद्धान्त के अनुसार 'ओथेलो' मे डेस्डेमोना का रूमाल कासिओ को अकस्मात मिल जाता है; और 'हैमलेट' में जब हैमलेट प्रतिशोध लेने पर कमर कस लेते है तो उनका शत्रु प्रार्थना करता रहता है; अकस्मात ही राजा डन्कन मेकबेथ के यहाँ मेहमान बनते है और अकस्मात ही जादूगरनियाँ सत्य भविष्यवाणी कर बैठती हैं।

एलिजबेथ के युग की लोकरुचि के अनुसार अपने नाटकों को लोकप्रिय बनाने, युग का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने और अधिक से अधिक द्रव्य पाने के लिए, शेक्सपियर ने श्रेष्ठ नाट्यकला के सिद्धांतों की रक्षा करते हुए भी हलचल तथा खलबली-पूर्ण दृश्य, उन्माद तथा प्रमाद, कब्रिस्तान, जादूगरनियाँ, प्रेतात्माएँ, हत्याएँ, बीहड़ मैदानो मदान्ध मनुष्यों, तूफानों, युद्धों, लड़ाई, दंगे, त्योहारो के जलूसो तथा अश्लील हास्य, सभी लोकप्रिय स्थलों को अपने कथानकों में यथोचित स्थान दिया है।

नाटककार प्रायः सभी दुखान्तकीयों में एक न एक विनोदांक अवश्य रखता है जो वस्तु को अधिक प्रभावपूर्ण बना देता है; जैसे मेकबेथ में, मेकडफ़ के बालक और माता का संवाद तथा द्वारपाल का दृश्य; हैमलेट में कब्र खोदने वालों का संवाद तथा लियर बिदूषक के सम्वाद इसके प्रमाण स्वरूप है। इस शैली का विस्तृत विवेचन हम मिश्रितांकी खण्ड में करेंगे।

वस्तु-निरूपण

शेक्सपियर की नाट्य-कला में वस्तु-निरूपण के तीन खण्ड हैं।

(१) पहले खण्ड में किसी ऐसी स्थिति विशेष का प्रदर्शन अथवा वातावरण का परिचय रहता है। जिसमें द्वन्द्व अथवा संघर्ष के बीज निहित रहते हैं। इस खण्ड में हम कुछ मुख्य पात्रों का परिचय पाते हैं और उनके सम्मुख जो प्रश्न उपस्थित होने वाले रहते है उनका आभास मिलना शुरू हो जाता है। समस्त दुःखान्तकीयों के प्रथम खण्ड में नाटक की पृष्ठ-भूमि जान कर हम मुख्य पात्र से परिचय प्राप्त कर लेते हैं और जिस स्थिति विशेष में वह है उसे भी पूरी तरह समझ लेते हैं। उदाहरण के लिए 'रोमियो ऐण्ड जूलियट' के प्रथम खण्ड में ही हम जान लेते हैं कि दोनों वंशों में कितनी घोर शत्रुता है और इन्हीं दोनों विरोधी वंशों के रोमियो और जूलियट प्रेम-पाश में कितने जकड़े हुए हैं। 'हैमलेट' के प्रथम खण्ड में ही प्रेतात्मा आकर हैमलेट को प्रतिशोध लेने का आदेश देती है और हैमलेट के सामने एक नैतिक परन्तु संशयपूर्ण प्रश्न उठ खड़ा होता है। 'मेकबेथ' में तो भयावह पृष्ठ भूमि के साथ साथ मेकबेथ की महात्वाकांक्षा और राज्य-भक्ति में संघर्ष का आभास मिलने लगता है। इस खण्ड को हम एक तरह की तैयारी कह सकते हैं जो आगे चल कर गुल खिलायेगी। इसके साथ साथ हमसे कुछ अन्य पात्र भी परिचित हो जाते हैं जो आगे चलकर महत्वपूर्ण हो जायेंगे जैसे 'हैमलेट' में होरेशियो; मेकबेथ में जादूगरनियाँ तथा लेडी मेकबेथ; 'सीजर' में ब्रूटस, कासियस तथा अन्य दर्बारी।

नाटक के इस प्रथम खण्ड को सफलतापूर्वक निर्मित करने मे शेक्सपियर को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु अंत में उनकी अद्भुत नाट्यकला काम आई। पहली कठिनाई थी दर्शकों को स्थिति का कलापूर्ण ढङ्ग से परिचय कराना क्योंकि दर्शक न तो कथानक से और न वस्तु से ही पूरी तरह परिचित थे। यदि वह

परिचय प्राक्कथन रूप में होता और स्पष्टता से दर्शकों को बतलाया जाता कि कौन सा पात्र कितने महत्व का है तो यह शैली केवल नाटकीय तत्वों की अवहेलना ही न होकर अरुचिकर भी होती। लेखक पर कला का भी दायित्व था इसी लिए उसने कुछ सरल साधन ढूँढ निकाले। पहला साधन जो उन्होंने व्यवहृत किया वह संवाद, परिस्थिति अथवा कार्य का कलापूर्ण उपयोग था। संवाद द्वारा पात्रों के मन की दशा, परिस्थिति से वातावरण तथा द्वन्द्व का आभास और कार्य द्वारा उसकी प्रतिक्रिया का आभास दर्शकों को स्पष्ट रूप से मिलता है। एक छोटा परन्तु आकर्षक दृश्य जो सबसे पहले हमारे सामने आता है हमें मुख्य पात्र अथवा पात्रों और परिस्थिति के विषय में पूर्णतया सज्ञान कर देता है; हमारी उत्सुकता बढ़ने लगती है और हम संशय के उतार चढ़ाव में लीन होकर नाटक देखने अथवा पढ़ने में व्यस्त हो जाते हैं। कुछ एक ही दृश्यों के देखने के पश्चात् हम परिस्थिति भलीभाँति जान लेते हैं। हैमलेट की मानसिक अवस्था तथा प्रेतात्मा का संवाद; मेकबेथ का जादूगरनियों से संवाद और अपनी स्त्री को उसकी सूचना; 'जूलियस सीज़र' तथा 'कोरियोलानस' में भीड़ भाड़ और दंगा 'ओथेलो' में रात्रि के समय की गड़बड़ी, हमें शीघ्र ही सम्पूर्ण वातावरण से परिचित कर देती है।

शेक्सपियर के नाटकों में संवाद साधारणतया दो अथवा तीन व्यक्तियों में रहता है। कभी यह कथोपकथन का रूप लेता है कभी स्वागत का और कभी व्याख्यात्मक वर्णन का। हैमलेट तथा प्रेतात्मा, ब्रूटस तथा कासियस, ओथेलो और इयागो का संवाद, हैमलेट का स्वागत; ओथेलो का स्वागत; मेकबेथ का स्वागत; और मेकबेथ तथा जादूगरनियों का कथोपकथन; में सब संवाद, कथोपकथन तथा स्वगत के नाटकीय उपयोग के उदाहरण हैं। कभी-कभी व्याख्यात्मक वर्णन से पात्र के चरित्र के विषय में बहुत कुछ जानकारी हो जाती है। जैसे मेकबेथ की क्रूरता को प्रमाणित करने के लिए यदि लेखक

अनेक हत्याएँ रंगमंच पर प्रस्तुत करता तो सम्भवतः रंगमंच पर जीवित मनुष्यों के लिए स्थान ही न रह जाता परन्तु इसके विपरीत एक दूसरे पात्र द्वारा उसकी क्रूरता का वर्णन किया जाता है। हैमलेट भी व्याख्यात्मक वर्णन के ही द्वारा अपने देश निर्वासन की कहानी स्वाभाविक रूप से कहते हैं और मेकबेथ अपनी महात्वाकांक्षा का वर्णन पत्र द्वारा करते हैं।

साधारणतः नाटककार मुख्य वस्तु के निरूपण के साथ ही साथ गौण वस्तु अथवा उपवस्तुओं का निरूपण करता चलता है; परन्तु कभी यह मुख्य वस्तु से पृथक भी रहता है और आगे चलकर ही उसका समन्वय होता है। 'लियर' में ग्लॉस्टर की, मेकबेथ में मेकडफ की उपवस्तु, हैमलेट में पोलोनियस के परिवार की उपवस्तु का प्रदर्शन पृथक रूप से होता है।

प्रायः सभी नाटकों में पहले से ही एक ऐसे तत्व का हमें अनुभव होने लगता है जिसके द्वारा कदाचित नायक की असफलता प्रतिपादित होगी। इस तत्व का प्रभाव सम्पूर्ण वस्तु पर भी पड़ता है। 'मेकबेथ' की जादूगरनियाँ, 'हैमलेट' की प्रेतात्मा, सीज़र और कोरियोलानस का उदण्ड जनसमूह, ऐन्टनी की लिप्सा, सभी इसी तत्व के उदाहरण स्वरूप हैं। इसी तत्व के आधार पर कुछ मुख्य पात्रों के वक्तव्य भी भावी असफलता, दुःख तथा क्लेश के परिचायक हो जाते हैं। कभी-कभी तो ये भविष्यवाणी का रूप ग्रहण कर लेते हैं। 'मेकबेथ' नाटक की जादूगरनियाँ समय के दो विरोधी भावों पर टिप्पणी करके वही शब्द कहती हैं जो कि मेकबेथ स्वयं कहते हैं। रोमियो भी पहले ही से कुछ हतोत्साह होकर जीवन के विषय में संशय रखते हैं; ऐन्टनी अपनी लालसा पर जो टिप्पणी करते हैं उसमें भावी क्लेश के बीज हैं और हैमलेट अपनी भावी असफलता का स्पष्ट लक्षण अपनी शक्तिहीनता स्वीकार करने में प्रकट करते हैं। इन्हीं वक्तव्यों द्वारा वस्तु के प्रति हमारी उत्सुकता बहुत बढ़ती जाती है।

'रोमियो जूलियेट' नाटक में हम देखते हैं कि नायक तथा नायिका प्रेमपाश में जकड़े हुए हैं मगर दोनों के परिवार एक दूसरे के खून के प्यासे हैं; ओथेलो को जब सब आकांक्षाएँ पूरी हो गई तभी वह हत्या की बात सोचते हैं, बूढ़े लियर अपनी प्रेममयी पुत्री को तिरस्कृत कर प्रपंच-पूर्ण तथा क्रूर पुत्रियों को अपना राज्य बाटते हैं; हैमलेट प्रतिशोध की आवश्यकता तथा उसकी नैतिकता समझ कर भी ठीक समय पर हाथ नहीं उठाते, ऐसे विचारो और कार्यो के फलस्वरूप क्या होगा इसी रहस्य को समझने में हमें लग जाते हैं। सभी नाटकों में, कुछ न कुछ दुःखान्तकी की छाया हमें पहले से ही देख पड़ने लगती है।

(२) दुःखान्तक की वस्तु के दूसरे खण्ड में संघर्ष तथा उसकी प्रगति होती है और इस संघर्ष के आन्तरिक तथा बाह्य दो भाग होते हैं। दोनो कभी-कभी पृथक रहते हैं और कभी-कभी एक ही में मिल जाते हैं, परन्तु आन्तरिक संघर्ष ही में हमें आनन्द आता है और उसी में नाट्यकार की कला प्रस्फुटित होती है। हर एक नायक के अन्तःकरण का आन्तरिक द्वन्द्व ही दुःखान्तकी का आधार अन्त में बन जाता है। हैमलेट के अन्तःकरण में प्रतिशोध के विचार तथा नैतिकता में घोर संघर्ष के बाद अकर्मण्यता के कारण दुःखान्तकी सम्पूर्ण होती है, ओथेलो के हृदय में स्निग्ध प्रेम तथा ईर्ष्या में गहरा द्वन्द्व चलकर कर्मशीलता द्वारा दुःखान्तकी समाप्त होती है, मेकबेथ के मन में महत्वाकांक्षा तथा राजभक्ति में संघर्ष होकर दुःखान्तकी का अन्त होता है, ब्रूटस के हृदय में मैत्री तथा प्रजातन्त्र के आदर्शो में घोर द्वन्द्व के पश्चात् ही उनकी विफलता प्रमाणित होती है, लियर के हृदय में सन्तान प्रेम तथा पितृ-द्रोह के भावो के बीच संघर्ष होकर नाटक की समाप्ति तथा उसके साथ ही साथ उनके जीवन की भी समाप्ति हो जाती है। वाह्य संघर्ष व्यक्तियों, वर्गों तथा परिस्थितियो के बीच में हमारे सामने आता है। यदि आन्तरिक संघर्ष से उत्तेजित

होकर नायक आत्महत्या नहीं कर लेता तो उसके विरोधी दल उसे मौत के घाट उतार देते हैं। परन्तु अधिकतर नायक आत्महत्या से ही छुटकारा पाते हैं। ओथेलो, ब्रूटस, रोमियो, आत्महत्या ही करते हैं, केवल हैमलेट और मेकबेथ ही विरोधी शक्तियो के शिकार बनते हैं।

नाटको के अन्तरिक संघर्ष में एक प्रकार का उतार चढ़ाव रहता है जिसके द्वारा हम नायक के सम्पूर्ण चरित्र को भलीभाँति समझ सकते हैं। इसके द्वारा हम उसकी नैतिकता और अनैतिकना की जाँच करते चलते हैं। जब कभी संघर्ष बहुत आगे बढ़ जाता है तो नाट्यकार विभिन्नता लाने के लिए वाह्य द्वन्द्व के दृश्यों को उपस्थित करता है। उदाहरण के लिए जब जब मेकवेथ, ओथेलो, हैमलेट, लियर तथा ब्रूटस अपने आन्तरिक द्वन्द्व से विकल होते हैं त्योंही दृश्य बदलता है और वाह्य द्वन्द्व की शक्तियो अथवा उपवस्तु की प्रगति शुरू हो जाती है। दोनों प्रकार के संघर्ष कदम में कदम मिला कर चलते हैं और जब कभी एक तेज़ी से आगे बढ़ता है तो दूसरा भी उसी तेजी से क़दम उठाता है। कभी-कभी तो दृश्य बहुत ही जल्द बदलने लगते हैं जिससे दोनो प्रकार के संघर्षो का बराबर मात्रा में परिचय मिलता रहता है। इस दृश्य परिर्तवन का एक मनोवैज्ञानिक कारण भी है। यह देखा गया है कि एक ही प्रकार की भावना का प्रदर्शन अथवा दृश्य देखते देखते हम ऊब उठते हैं, और इसी तथ्य को समझ कर शेक्सपियर सभी दुःखान्तकीयों में दृश्य परिवर्तन बड़ी मनोवैज्ञानिक पटुता से करते हैं। 'मेकवेथ' में डन्कन की मृत्यु के पश्चात् जीवन की नैतिक शक्तियाँ जब मेकवेथ' की भर्तस्ना शुरू करती हैं और मेकवेथ अपने राज्यद्रोह की भावना से विकल होकर एक बालक के समान विलाप करने लगते हैं तो उसी समय दृश्य परिवर्त्तन द्वारा दर्शकों की उत्सुकता और भी बढ़ा दी जाती हैं। फलत: हम संशय और उत्सुकता के झूले में झूलने लग जाते है। चूंकि

शेक्सपियर के समय में दृश्य परिवर्तन का कोई वाह्य साधन, परदों इत्यादि का न था और कवियों को अपनी कल्पना द्वारा ही इस कमी को पूरा करना पड़ता था इसलिए शेक्सपियर ने दृश्य परिवर्तन द्वारा ही नाटकों में वास्तविकता तथा रोचकता लाने का सफल प्रयास किया है।

नाटकीय घटनाओं के क्रम में भी एक महत्त्वपूर्ण कला रहती है। वस्तु अथवा उपवस्तु की प्रत्येक घटना वस्तु की प्रगति में पूर्ण सहयोग देती हैं। इन घटनाओं की प्रगति के साथ-साथ नायक के चरित्र का भी विकास होता चलता है। उदाहरण के लिए मेकबेथ का घटना-क्रम इस प्रकार है।

आन्तरिक

(क) डन्कन की मृत्यु के पश्चात् आन्तरिक द्वन्द्व

(ख) बॉको की मृत्यु के पश्चात् आन्तरिक द्वन्द्व

(ग) जादूगरनियों की भविष्यवाणी के पश्चात् आन्तरिक द्वन्द्व

वाह्य

(क) मेकडफ़ द्वारा शक्तियों का एकत्रीकरण

(ख) राज्यदर्बारियों का एक मत

(ग) एडवर्ड की सहायता से सेना का एकत्रीकरण

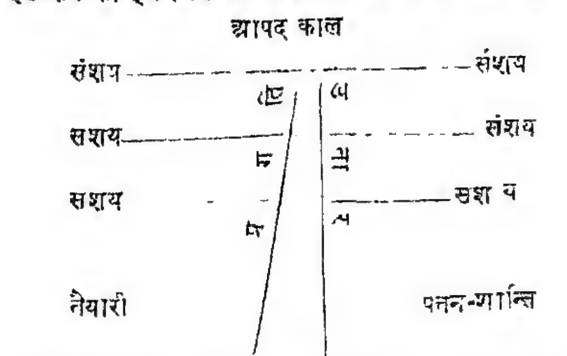
इन्हीं घटनाओं द्वारा वस्तु तथा संघर्ष की प्रगति होती है। यही क्रम प्रायः सभी दुःखान्तकीयों में पाया जाता है।

(३) वस्तु के तीसरे खण्ड में आपदकाल की तैयारी होकर उसकी पराकाष्ठा पहुँच जाती है। संघर्ष की अन्तिम सीढ़ी का नाम आपद-काल है। यहाँ पहुँच कर नायक अपनी सफलता अथवा विफलता का अन्तिम निर्णय करता, है। इसी जगह पर यह निश्चित जान पड़ने लगता है कि दुःखान्तकी की समाप्ति कहाँ होगी। आपदकाल के अन्तर्गत कई संशय-पूर्ण स्थल एक से एक जुड़े रहते हैं और

क्रमानुसार आपदकाल की पराकाष्ठा तक पहुँच कर दुःखान्तकी पर पटाक्षेप डालते हैं। इन स्थलों के ६ भाग क्रमानुसार प्रयुक्त होते हैं।

(१) परिस्थिति (४) आपदकाल
(२) प्रगति (५) पतन
(३) उतार (६) शान्ति

इस क्रम को हम चित्र रूप में सरलता से समझ सकते हैं।



मुख्य दुःखान्तकीयों—'जूलियस सीजर', 'मेकबेथ', 'हैमलेट', 'ओथेलो', में हम वस्तु निरूपण के इन छः स्थलों का क्रमानुसार विश्लेषण कर सकते हैं।

जूलियस सीजर

१—*परिस्थिति* : सीजर का ताज पहनना तथा ब्रूटस और कासियस का सन्देह

२—*प्रगति* : ब्रूटस तथा कासियस का निश्चय

३—*आपदकाल* : हत्या की तैयारी और हत्या : राष्ट्रीयता तथा मैत्री भाव में घोर संघर्ष

४—*उतार* : ब्रूटस तथा कासियस का वैमनस्य

५—*पतन* : ब्रूटस तथा कासियस की आत्महत्या

६—*शान्ति* : अगस्टस सीजर का शान्ति प्रदान

मेकबेथ

१—*परिस्थिति* : मेकबेथ की वीरता की प्रशंसा तथा मान-दान

२—*प्रगति* : जादूगरनियों की भविष्यवाणी तथा उच्चाकांक्षा का जागरण

३—*आपदकाल* : उच्चाकांक्षा तथा राजद्रोह में संघर्ष : हत्या : मानसिक पीड़ा

४—*उतार* : जीवन की विफलता का अनुभव

५—*पतन* : द्वन्द्व युद्ध तथा मेकबेथ की हत्या

६—*शान्ति* : मालकम द्वारा शन्ति प्रदान

हैमलेट

१—*परिस्थिति* : हैमलेट की माता का क्लॉडियस से पुनर्विवाह

२—*प्रगति* : हैमलेट का सन्देह तथा प्रेतात्मा का आदेश : हैमलेट का पालन : पोलोनियस की हत्या

३—*आपदकाल* . हैमलेट की सन्देह-पुष्टि : प्रति शोध का निश्चय : ओफीलिया की मृत्यु, माता की मृत्यु : क्लाडियस की हत्या

४—*उतार* : लायर्टीज़ की मृत्यु

५—*पतन* : हैमलेट की मृत्यु

६—*शान्ति* : फ्रॉटिनब्रैस द्वारा शान्ति प्रसार

ओथेलो

१—*परिस्थिति* : ओथेलो का डेस्डेमोना से विवाह

२—*प्रगति* : इयागो की शत्रुता द्वारा ओथेलो में ईर्ष्या का उद्भव : मानसिक पीड़ा

३—*आपदकाल* : ईर्ष्या की पराकाष्ठा : डेस्डेमोना की हत्या

४—*उतार* : डेस्डेमोना की पवित्रता का बोध : इयागो के छल का अनुभव : मानसिक पीड़ा

५—*पतन* : आत्म-हत्या

६—*शान्ति* : अन्य लोगों द्वारा ओथेलो की गति उनकी निरपराधिता की घोषणा

समस्त दुःखान्तकीयों में आपदकाल के अन्त होते ही दुःखान्तकी की भावना मे उतार शुरू हो जाता है। इस उतार में तथा आपद-काल के अन्त मे बहुत कम समय का अन्तर रहता है ! ज्यादातर तो आपदकाल के क्षण से ही उतार का अनुभव होने लगता है। ज्योंहि नायक अपना कार्य पूरा कर लेता है उतार की भावना जल्दी जल्दी अपना प्रभाव जमाने लगती है। मेकबेथ को जादूगरियों के दोहरे माने वाले शब्दो के छल का अनुभव होते ही उतार शुरू हो जाता है, हैमलेट जब क्लाडियस की हत्या कर लेते हैं तो उसी क्षण से उतार का आरम्भ होता है; ओथेलो जब इयागो के छल का अनु-भव करते है तो उसी समय से उतार का आरंभ होता है; और जब कासियस और ब्रूटस में फूट पड़ जाती है और जब ब्रूटस अनुभव करते हैं कि सीजर की आत्मा बलवान है तभी से उतार का श्रीगणेश होता है।

उतार की भावना की समाप्ति पतन तक पहुँचते पहुँचते होती है। जब उतार की भावना धीरे धीरे बढ़ती जाती है तो नायक के पास सिवाय आत्म-बलिदान के कोई चारा ही नहीं रह जाता; अन्त में वह मानसिक पीड़ा से त्रस्त हो और आन्तरिक संघर्ष से अत्यन्त दुःखी हो अपने जीवन का अन्त अपने हाथों कर बैठता है वाह्य सघर्ष की शक्तियाँ एकत्र हो उसे मौत के घाट उतार देती हैं; और कभी कभी तो दोनों साथ ही साथ नायक का काम तमाम कर देती हैं। ओथेलो आत्मग्लानि के फलस्वरूप आत्म-हत्या करते हैं; ब्रूटस तथा कासियस अपनी निष्फलता से भयभीत हो आत्मबलिदान करते हैं;

मेकबेथ ज्योंही आत्महत्या पर प्रस्तुत होने है वाह्य शक्तियाँ उनसे बदला लेने पर तुल जाती हैं; हैमलेट वाह्य शक्तियों द्वारा ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

नायक के पतन के बाद ही शान्ति प्रदान के लिये कुछ ऐसे पात्र रंगमच पर रह जाते हैं जो की अंत्येष्टि क्रिया का भार अपने ऊपर लेकर, नायक की आध्यात्मिक श्रेष्ठता घोषित करते हैं और दर्शकों के हृदय में पवित्र तथा नैतिक भावनाओं का उद्भव करते हैं। साधारण-तया जब हम किसी श्रेष्ठ, नैतिक भावना से पूर्ण नायक का पतन देखते हैं तो हम में जीवन के प्रति विषाद तथा असन्तोष की भावना बढ़ती है। यह विषाद और असन्तोष हमें जीवन से विमुख कर हमें विद्रोही बना सकता है और हम समाज और देश की बधी-बधाई मर्यादा का उल्लघन कर सकते हैं। इसी विषाद तथा विद्रोह की भावना का शमन शान्ति भाग में सम्पूर्ण होता है। वास्तव में शान्ति पाठ तो नायक के अन्तिम वक्तव्य (जो वह अपनी निष्फलता का कारण-स्वरूप देता है) से ही आरम्भ हो जाता है, परन्तु उसकी पूर्णता उन बचे हुए पात्रों की उपस्थिति द्वारा विशेष रूप में प्रदर्शित होती है। अन्तिम दृश्य में, बचे हुए पात्रों में से कोई एक ऐसा व्यक्ति दर्शकों के सामने आता है जो जीवन की पूर्णता तथा नैतिकता का प्रतीक होता है। यह व्यक्ति अपने चरित्र और स्वभाव में उन गुणों और लक्षणों का सामञ्जस्य प्रस्तुत करता है जो जीवन को सफल बनाने में सहयोग देते हैं। इन व्यक्तियों की ओर देख कर हममें जीवन के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न होती है। 'हैमलेट' में होरेशियो, 'ओथेलो' में कासिओ, 'लियर' में केन्ट, 'मेकबेथ' में मालकम, 'सीजर' में अगस्टस ऐसे व्यक्ति हैं जिनमें जीवन के उन विशेष गुणों का सामञ्जस्य है जिससे जीवन में श्रद्धा तथा विश्वास की नींव पड़ती है।

दुःखान्तक वस्तु के इस षट्वर्गीय क्रम को नाटकीय रूप देने में शेक्सपियर ने जिन कठिनाइयों का अनुभव किया वे वास्तव में बहुत

जटिल थीं। पहली कठिनाई जो उनके सामने आई वह वस्तु को आद्योपान्त रोचक बनाने की कठिनाई थी। रोचकता लाने के लिए उन्होंने नायकों में गुण और अवगुण का ऐसा मिश्रण किया और उनके हृदय में आन्तरिक संघर्ष का ऐसा विधान बनाया कि शुरू से आखीर तक हम नायक की मानसिक ग्लानि, उसकी कार्यक्षमता अथवा अकर्मण्यता, उसके जीवन में दुर्योग अथवा संयोग की आँख-मिचौनी का जीवन रहस्य सुलझाते रहते हैं।

नायक के सम्पूर्ण नाटकीय जीवन को रोचक बनाने के बाद दूसरी कठिनाई आपदकाल के पश्चात् वस्तु की रोचकता को सभालने की थी। आपदकाल के अन्त होते ही हमारी उत्सुकता शान्त होकर बिलकुल ही कम हो जाती है। जहाँ भावनाओं का उतार शुरू हुआ हमारे कुतूहल का भी शीघ्र अन्त हो जाता है। हमे यह अनुभव होने लगता है कि केवल इतनी सी छोटी कार्य-सिद्धि के लिए इतना लम्बा प्राक्कथन लिखा गया। इसके साथ ही हमें बाह्य-द्वन्द्व के प्रतिनिधिस्वरूप व्यक्ति समूह अधिक रुचिकर नहीं होते और हम हमेशा नायक के ही कार्यों मे उलझे रहते हैं और यही चाहते रहते हैं कि बाह्यद्वन्द्व के अपरिचित मनुष्य न दिखाई दें तभी अच्छा।

इन दोनों कठिनाइयो का प्रतिकार कलाकार ने बड़ी पटुता से किया है। उन्होंने पहले तो नायक को बहुत देर के बाद रंगमच पर प्रस्तुत किया। जब पृष्ठभूमि और परिस्थिति काफ़ी तैयार हो गई तभी उन्होंने नायक का दर्शन कराया। इसके साथ उन्होने नायक के कार्यों के विरोध में की हुई प्रतिक्रियाओं के संतुलन में बड़ी कला दिखलाई। ज्योंही किसी कार्य की प्रगति आरम्भ होती है ठीक उसी के साथ उसकी प्रतिक्रिया का भी उदय होता है। इस क्रिया और प्रतिक्रिया के बीच मे समय का अन्तर नही के बराबर रहता है। एक के बाद दूसरे का प्रदर्शन बराबर होता रहता है जिसके कारण न तो

कभी रंगमच ही पात्रों से खाली रहता है और न नाटकीय भावनाओं की प्रगति मे ही बाधा पड़ती है। जैसे कि पहले कहा जा चुका है और जिसका विवेचन हम आगे करेंगे, गम्भीर कथा वस्तु के बीच बीच मे विनोदों का सम्मिश्रण भी रहता है जिसके फलस्वरूप वस्तु की रोचकता विरोधी भावों के संतुलन से बढ़ जाती है और हम वस्तु की पूर्णता की ओर बरबस खिंचते ही चले जाते हैं। कभी तो युद्ध के दृश्यो के उपयोग से तथा दगे-फ़साद के दृश्यो द्वारा दर्शक का ध्यान आकृष्ट होता रहता है परन्तु विशेष रूप से नायक के मानसिक-द्वन्द्व, आत्म-विश्लेषण तथा आत्म-ग्लानि की रोचक विवेचना द्वारा ही हमारा ध्यान पूर्णरूप से उसी ओर लगा रहता हैं।

(घ) कार्य

दुःखान्तकीयो की कार्य-सिद्धि केवल दो साधनों से होती है। पहला साधन जो नाट्यकार उपयोग में लाता है वह है नायक का कार्यक्रम। नायक अपनी घातक त्रुटि के द्वारा ऐसा कार्य करता है जो धीरे-धीरे दुःखान्त की ओर उसे अग्रसर करता रहता है। घातक त्रुटि के फलस्वरूप वह जो काम करने वाला है उसे छोड़ देता है और दूसरे सशयात्मक कार्यों में लग जाता है। उससे ऐसे कार्य हो जाते हैं जिनका प्रभाव उसके साथियों और स्वयं उसके ऊपर बड़ा घातक होता है। वस्तु के समस्त ६ अंगों का क्रमपूर्ण प्रतिपादन नायक के कार्यो द्वारा ही होता है।

कभी कभी नायक बिना समझे बूझे अपने को ऐसी परिस्थिति मे डाल कर कार्य आरम्भ करता है जिससे दुःखान्तकी का बीजारोपण होता है। रोमियो यह जानते हुए कि जूलियट के परिवार से उनके परिवार की घोर शत्रुता है अपने को उसके प्रेमपाश में जकड़ देते हैं। लियर अकस्मात यह निश्चय कर लेते हैं कि उनके पुत्रियो

में समस्त राज्य का विभाजन उचित है और कॉर्डीलिया उनके प्रेम की योग्य पात्री नहीं।

नायक को कभी कभी बनी बनाई परिस्थिति भी मिल जाती है जिसमें पड़ कर वह ऐसे कार्य करने लगता है जिसमें दुःखान्तकी का पूरा उपक्रम उपस्थित हो जाता है। हैमलेट के सामने बनी बनाई परिस्थिति है। उनकी विधवा माता जर्ट्रूड ने उनके चाचा से विवाह कर लिया है। हैमलेट के पिता के मरे हुए पूरा दो महीना भी नहीं हुआ कि यह घटना घटी। फिर हैमलेट जब घर आते हैं तो उन्हें उनके मृत पिता की प्रेतात्मा के दर्शन होते हैं और उन्हे प्रतिशोध लेने का आदेश मिलता है।

नाटकों का नायक कभी धीरे धीरे कुछ बाह्य परिस्थिति तथा अपनी घातक त्रुटि के सहयोग से भी ऐसी नवीन परिस्थिति बनाता चलता है जिसमें वह फँसता चला जाता है और अन्त में दुःखान्तकी पूर्ण करता है। इयागो के प्रपचपूर्ण सवादों तथा आदेशों और अपनी घातक ईर्ष्या के सहयोग से ओथेलो घातक परिस्थिति बनाते चलते हैं और अन्त में डेस्डेमोना की हत्या कर स्वयं आत्म बलिदान करते हैं। इसी प्रकार ब्रूटस कासियस की बातों से प्रभावित होकर अपनी मैत्री को ताक पर रखकर सीज़र के विरुद्ध षड्यन्त्रकारियों के नेता बन जाते है। उनका घातक आदर्शवाद उनका प्राण लेकर ही छोड़ता है। मेकबेथ में तो यह सिद्धान्त अक्षरशः लागू होता है। अपनी घातक महत्वाकाङ्क्षा तथा लेडी मेकबेथ और जादूगरनियों के उकसाने से और डन्कन की कमज़ोरी से उत्साहित होकर मेकबेथ हत्या का मार्ग ग्रहण करते हैं। एक हत्या के बाद अपनी रक्षा के हेतु वे अन्य हत्याएँ करते चलते हैं और अपने लिए ऐसी परिस्थिति बना लेते हैं कि सिवा प्राण देने के उन्हें कोई और चारा ही नहीं रह जाता।

(२) प्रगति

साधारण रूप से नायक अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा से कार्य करके दुःखान्तकी के कार्य की प्रगति करता है। नायक के मन की संशयपूर्ण अवस्था द्वारा ही उसकी प्रगति होती है। बनी बनाई अथवा स्वयं बनाई हुई परिस्थिति में उलझ कर वह अपने कार्य की प्रगति करता है और इसका मुख्य कारण नायक का मानसिक द्वन्द्व है; यद्यपि वाह्य कारणों का भी उनमें कुछ न कुछ सहयोग अवश्य रहता है ओथेलो अपने मानसिक द्वन्द्व के कारण ही डेस्डेमोना की पवित्रता पर सन्देह कर उसके विरुद्ध प्रमाण इकट्ठा करते हैं और नाटक की प्रगति होती रहती है। हैमलेट अपने चाचा पर सन्देह कर उसके पाप को कई साधनों से प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं और इसी के द्वारा दुःखान्तकी की विशेष प्रगति करते हैं।

नाटकों के कार्य की प्रगति में शेक्सपियर कुछ दैवी संयोग अथवा कुयोग का भी उपयोग करते हैं। जब नायक कार्य आरम्भ कर देता है तो उसका प्रारब्ध कुछ ऐसे कुयोग उसके रास्ते में ला खड़ा करता है जिसके प्रभाव से वह दुःखान्तकी की ओर अनायास ही चल पड़ता है। कभी कभी तो ऐसी दैवी घटनाएँ घट जाती हैं जिनके चक्कर में आकर दुःखान्तकी पूर्ण हो जाती है। रोमियो को पत्रवाहक बहुत देर में ढूँढ पाता है और उसे विषपूर्ण औषधि का कोई सन्देश नहीं मिलता है।[1] एडगर को कार्डीलिया के पास पहुँचते पहुँचते इतनी देर लग जाती है कि कार्डीलिया प्राण तज चुकती है।[2] कुयोग से कासियो को रुमाल मिल जाता है जिससे ओथेलो की धारणा पक्की हो जाती है।[3] हैमलेट के जहाज पर अकस्मात धावा होता है और वे डेनमार्क वापस चले जाते हैं। मेकबेथ को डन्कन के मानदान की सूचना तथा जादूगरनियों की भविष्यवाणी एक साथ ही मिलती है।

---

१. रोमियो ऐन्ड जूलियट। २. किंग लियर। ३. ओथेलो।

शायद ये कुयोग न आते तो संभवतः दुःखान्तकी पूर्ण न होती और नायक अपने कार्य में सफल रहते, परन्तु ये घटनाएँ नायक को और भी विचलित करती हैं। यह ध्यान में रखना चाहिए कि ये कुयोग ऐसे नहीं है कि दुःखान्तकी का पूरा दायित्व इन पर रखा जा सके। ये नायक को मूल रूप से नहीं उकसाते वरन जब नायक साधारण परिस्थिति से कहीं आगे जा चुकता है तभी ऐसे कुयोग उपस्थित होते हैं। नाट्य कला की रक्षा के लिए ये कुयोग कलाकार बहुत कम संख्या में प्रयुक्त करता है।

कार्य की प्रगति का विशेष दायित्व नायक के चरित्र पर ही रहता है। कलाकार कभी-कभी नायक के चरित्र में कुछ असाधारण रोगों का भी उपयोग करता है। उन्माद, मायावी प्रेतात्माओं का दर्शन, निद्रित अवस्था में कार्य करना, भ्रममूलक विचारों की प्रचुरता अनेक पात्रों में दिखलाई पड़ती है। हैमलेट कुछ समय बाद उन्माद के लक्षण प्रगट करते हैं; वे पिता की प्रेतात्मा का दर्शन कर लेते हैं मगर वह प्रेतात्मा उनकी माता जर्ट्रूड को नहीं दिखलाई देता। मेकबेथ को जादूगरनियाँ दिखलाई देती हैं पर वे बाँको को नहीं दिखाई देतीं; मेकबेथ को बाँको का प्रेत दिखलाई देता है मगर लेडी मेकबेथ को वह नहीं दिखलाई देता; लेडी मेकबेथ निद्रित अवस्था में चलती फिरती हैं और अपने छलपूर्ण कार्य की कहानी कहती हैं।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो नायक की उपरोक्त मानसिक अवस्थाओं से कार्य का आरम्भ कभी नहीं होता। यदि कार्य का आरम्भ इन अवस्थाओं द्वारा हुआ होता तो नायक कभी दुःखान्तकी का श्रेष्ठ नायक रह नहीं सकता था। कार्य का आरम्भ तो नायक अपने सहज स्वभाव से ही करता है और ये रोग उसे बहुत बाद में घेरते हैं। परन्तु इस मानसिक अव्यवस्था का संबंध उनके चरित्र से बहुत ही गहरा रहता है। इनसे कार्य की प्रगति तो शायद कम होती है मगर उनके चरित्र का विश्लेषण बड़ी पूर्णता से होता है। और फिर

ये प्रेतात्माएँ कोरी कल्पना मात्र नहीं हैं; इनका नायक के मानसिक विचारों से घनिष्ठ संबंध है। यह हमेशा होता है कि ये प्रेतात्माएँ केवल नायक को अथवा उनके बहुत निकट के मित्रो को छोड़ और किसी को नहीं दिखलाई पड़तीं। इसका एक गूढ़ मनोवैज्ञानिक कारण भी है।

साधारणतया किसी परिस्थिति में पड़कर और अपने मन में सन्देह, संशय अथवा आकांक्षा लेकर नायक कार्य शुरू करते हैं। संशय और आकांक्षा दोनो ही उनके मन को ऐसी अवस्था बना देते हैं कि उनको प्रेतात्माएँ दिखलाई दे तो कोई आश्चर्य नहीं। हैमलेट के मन में संशय बहुत पहले से है। उसकी माता ने उनके चाचा से इतनी जल्दी विवाह कर लिया, अकारण ही अथवा बिना किसी प्रमाण पूर्ण बीमारी से उनके पिता की मृत्यु का ढिंढोरा पीटा गया। यह सब बातें ऐसे समय हुई जब वह डेनमार्क से बाहर थे। उनके मन में संदेह स्वाभाविक है कि इसमें जरूर कुछ न कुछ रहस्य है। मानसिक अवस्था के उपरान्त उनके पिता की प्रेतात्मा उन्हें दिखलाई पड़ती है। परन्तु इसका क्या कारण है कि दोनों द्वारपालो और उनके मित्र होरेशियो को भी वह दिखलाई पड़ती है परन्तु जर्टू्ड को वह बिल्कुल ही नहीं दिखलाई देती? इसका एक आध्यात्मिक कारण है। होरेशियो के हृदय तथा हैमलेट के हृदय में समरूपता है। दोनों ही एक दूसरे के अनन्य मित्र हैं; उनके हृदय में समान भावना का जाग्रत होना आश्चर्य की बात नहीं। दोनो द्वारपालो में भी अपने पुराने राजा के प्रति राजभक्ति, प्रेम तथा श्रद्धा है: हैमलेट के प्रति तो और भी प्रगाढ़ प्रेम है और इसी से वे भी अपने मृत राजा की प्रेतात्मा का दर्शन करते हैं मगर जर्टूड की अवस्था अब दूसरी है। उसने अपने पहले पति की आत्मा का सम्मान न किया; उन्हें भूल कर उसने वासना के वशीभूत होकर अपने देवर से विवाह कर लिया। वासना-विष से उसकी आँखों पर परदा पड़ गया है। उसकी कोमल,

स्निग्ध तथा प्रेमपूर्ण भावनाएँ वासना के कारण दूषित हो गई हैं। उनमें न तो पहला प्रेम-प्रवाह है और न पहली स्निग्ध पवित्रता। इसी विपरीत दशा के कारण उसकी आखें अन्धी हैं।

(३) *आपदकाल*—नायक का मानसिक संघर्ष अथवा द्वन्द्व जब पराकाष्ठा तक पहुँचता है तभी आपदकाल का जन्म होता है। नायक अपने मानसिक द्वन्द्व द्वारा ही आपदकाल की सृष्टि करता है। मानसिक द्वन्द्व तथा घातक त्रुटि दोनों के सम्मिलन से एक ऐसी स्थिति आ खड़ी होती है जो नायक को अन्तिम निर्णय करने पर विवश करती है। इसी अन्तिम निर्णय में आपदकाल की पूर्ति होती है। हैमलेट क्लॉडियस की हत्या का निश्चय करते हैं, ओथेलो डेस्डेमोना की हत्या का निश्चय करते हैं; ब्रूटस सीजर की हत्या का निश्चय करते हैं; इन्हीं निश्चयात्मक कार्यों से आपदकाल सम्पूर्ण होता है। आपदकाल का बीज तो परिस्थिति में पड़ता है परन्तु नायक के आन्तरिक तथा बाह्य-द्वन्द्व द्वारा ही उसकी पूर्ति होती है। मानसिक द्वन्द्व के अन्त में ही आपदकाल की पूर्णता है।

(४) *उतार*—दुःखान्तकी के उतार तथा आपदकाल की समाप्ति में शायद कुछ ही समय का अन्तर होता है। ज्योंही आपदकाल का अन्त हुआ त्योंही नायक अपने कार्यों में एक तरह की ढील डाल देता है; परन्तु उस समय उसे अपने चरित्र के विषय में कुछ नवीन अनुभव होते हैं। वह अपनी घातक त्रुटि को अब ठीक-ठीक समझने लगता है और ऐसा मालूम होता है कि उसकी आँखों पर से एक परदा हट गया है। जिस घातक त्रुटि के सहारे वह आगे बढ़कर अपनी सफलता देखना चाहता था वह उसे एक जलहीन कुँए के सामने लाकर खड़ी कर देती है। उसे तब यह ज्ञात होता है कि वास्तव में उसकी ही कमजोरी और भूल के कारण यह परिस्थिति आ पहुँची। अपनी भूल का नग्न स्वरूप देखते ही उसे जीवन के प्रति कोई लोभ नहीं रह जाता। वह अपने जीवन की विफलता घोषित

दर्शक अपनी जगह से उठ कर रंगमच पर भागी हुई आई और ओथेलो को एक बड़े जोर का तमाचा मार कर कहा, 'मूर्ख ! तुझे कुछ सूझता नहीं क्या ?" इस घटना से दो बातें प्रमाणित होती हैं। पहली तो यह कि दुःखान्तकीयों का कितना गहरा हम पर प्रभाव पड़ता है और दूसरा यह कि हम नायक को ही काफ़ी मात्रा में अपराधी ठहराते हैं। 'शान्ति-भाग' के प्रदर्शित होते ही हम यह समझ लेते हैं कि नायक की घातक त्रुटि के ही कारण ऐसी परिस्थिति आई। यदि हैमलेट में कर्त्तव्यनिष्ठा होती, यदि मेकबेथ में अनैतिक महात्वकांक्षा न होती यदि ओथेलो में अन्धी ईर्ष्या न होती, यदि ब्रूटस में घोर आदर्शवाद न होकर सांसारिकता होती; यदि लियर में लड़कियों को पहचानने की शक्ति होती तो संभवतः दुःखान्तकी पूर्ण न होती।

इसके साथ ही साथ हमें नायकों से घृणा नहीं होती और वे हमारे सामने हीनावस्था में नहीं आते। इसका कारण यह है कि उनकी घातक त्रुटियाँ पहले तो उस कोटि की नहीं जिन पर कड़ा लांच्छन लगाया जा सके। वे त्रुटियाँ हर श्रेष्ठ वर्ग के मनुष्य में हो सकती हैं। हम यह जान कर भी कि ये त्रुटियाँ उनमें हैं उनको श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि उनमें कुछ ऐसे श्रेष्ठ गुण भी हैं जिनकी तुलना सहज नहीं। मेकबेथ में अनैतिक महत्वाकांक्षा है, मगर क्या किसी व्यक्ति में ऐसी भीषण शक्ति वाली आत्मा मिल सकती है जो दिन रात अपने थपेड़ों से उसका जीवन नीरस, पातकी तथा दुःखी बनाती रहे; हैमलेट में यह सही है कि कर्त्तव्य-परायणता नहीं परन्तु क्या किसी साधारण व्यक्ति की दृष्टि में मानव जीवन की इतनी महत्ता है ? किसमें इतनी श्रेष्ठ धार्मिकता तथा इतनी उज्ज्वल दार्शनिकता है ? ब्रूटस में भ्रममूलक आदर्शवाद है परन्तु क्या किसी अन्य व्यक्ति में उनके समान कर्त्तव्य-निष्ठा मैत्री का आदर्श हैं ? ओथेलो में ईर्ष्या अवश्य है। परन्तु उसके ऐसा प्रेमी शायद ही कहीं मिले।

इन गुणों को देख कर हम नायकों के प्रति सहानुभूति तथा श्रद्धा रखते हैं, परन्तु उनकी त्रुटियों का अनुभव हमें पूर्ण रूप से हो जाता है और हम एक तरह से उनके पतन से ही सन्तुष्ट होते हैं।

इसी उपर्युक्त भावना के फलस्वरूप न तो हम निराश होते हैं और न हममे जीवन के प्रति अश्रद्धा होती है। हममें यह भावना कभी नहीं होती कि मनुष्य केवल भाग्य के हाथ का खिलौना है; वह हीन तथा निकृष्ट जीव है। इसके विपरीत हममें वही भावना प्रधान रूप से रहती है जिससे हम जीवन की विशालता, उसकी नैतिकता तथा उसकी महानता से प्रभावित होकर सांसारिक कार्यों में लगे रहें।

प्राय: शेक्सपियर के दुःखान्तकीयों में नायक के पतन के साथ-साथ कई ऐसे महत्त्वपूर्ण पात्रों का पतन होता है जिनमें वास्तव में कोई ऊपरी बुराई नहीं थी। ये पात्र सरल, नैतिकतापूर्ण तथा संसारी होते हुए भी नायक के विनाश के साथ ही साथ अपना भी विनाश कर लेते हैं अथवा भाग्य चक्र के चपेट में आकर उनका अवाञ्छित क्षय हो जाता है। इस अवाञ्छित विनाश की भावना मे एक दैवी रहस्य है जिसको समझना तर्क के परे है। जीवन को चलाने वाली नैतिक शक्ति अपना कार्य बिना किसी रोक टोक के करती रहती है और यदि कोई अवरोध उसके सामने आता है तो वह उसे भी कुचलती हुई आगे बढ़ जाती है। इस नैतिक शक्ति की चाल में अन्य लोग भी नायक के साथ रह कर एक तरह का अड़गा पैदा करते हैं और उनका भी विनाश हो जाता है। अगर वास्तव में देखा जाय तो उनमें भी कुछ त्रुटि अवश्य होगी जो उन्हें विनाश के रास्ते पर ला खड़ी करती है और वे बरबस उसी रास्ते पर चलने पर तुल जाते हैं। सरल चित्त डेस्डेमोना, सहज स्वभावपूर्ण ओफ़ीलिया, उपेक्षिता पोर्शिया, पितृभक्ति पर अटल कार्डीलिया, शान्तिप्रिय लेडी मेकडफ, अनायास ही अपना विनाश देखती हैं। इन पात्रों के विनाश से हम पर विषाद की गहरी छाया पड़ती है और साथ ही साथ जीवन मरण

के रहस्यमय प्रश्न का हल न पा कर हम उसी रहस्य को समझने में लीन हो जाते हैं। यह रहस्य शेक्सपियर के दुःखान्तकीयों का प्रधान लक्षण है।

नाट्यकार ने जिन अद्‌भुत तथा दैवी घटनाओं अथवा पात्रों का उपयोग नाटकों में किया है उनका भी प्रभाव दुःखान्तकी के रहस्य को और भी गूढ़ बनाता है। हैमलेट के पिता की प्रेतात्मा, सीजर की प्रेतात्मा, जादूगरनियाँ, बॉको की प्रेतात्मा, पात्र रूप में आकर नाटक को एक रहस्यपूर्ण पृष्ठभूमि देकर उसके प्रभाव को और भी रहस्यपूर्ण कर देते हैं। हम दुःखान्तकी के कारण और पात्रों के दायित्व को जानने में अपनी सारी बुद्धि खर्च कर देते हैं। हम हर तरह से यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि आखिर ऐसा हुआ क्यों? तरह-तरह के प्रश्न हमारे मन में उठते हैं—यदि हैमलेट के पिता की प्रेतात्मा उन्हें आदेश न देती तो शायद दुःखान्तकी न होती? यदि लेडी मेकबेथ तथा जादूगरनियों का सहयोग न होता तो कदाचित् दुःखान्तकी न होती? यदि कासियस ब्रूटस को न उकसाता तो कदाचित् सीजर के विरुद्ध षड्यन्त्र न होता? यदि इयागो का प्रपंच न होता तो शायद डेस्डेमोना की मृत्यु न होती? इसके उपरान्त जब हम हैमलेट, मेकबेथ ब्रूटस तथा ओथेलो के चरित्रों पर मनन करते हैं तो हमें यह विश्वास होने लगता है कि शायद उनको बाह्य प्रोत्साहन न मिलने पर भी वे हत्याकाण्ड कर बैठते। मगर क्या हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि केवल नायक ही इसका जिम्मेदार है? कदाचित् नहीं। यही प्रश्न उठकर हमें भी रहस्य में डाल देते हैं और हम दायित्व का प्रश्न हल नहीं कर पाते। यह रहस्यपूर्णता भी दुःखान्तकीयों का विशेष गुण है।

नाटकों में जिस दैवी-शक्ति द्वारा इतनी अवाञ्छित घटनाएँ घटित होती हैं, उस शक्ति का क्या स्वरूप है इसको समझने के उपरात भी नाटकों का रहस्य कम नहीं होता। इस शक्ति के केवल दो रूप हो

सकते हैं। पहला तो यह कि जब यह शक्ति इतनी अवांछित हत्याएँ कर देती है और अनेक सरल स्त्री पुरुष इसकी उच्छृङखलता के शिकार हो जाते हैं तो वास्तव में यह कोई अनैतिक शक्ति है जो ससार पर राज्य करती है। परन्तु यह धारणा भी गलत साबित होगी यदि हम दुःखान्तकीयों के प्रभाव का विश्लेषण करें ? क्योंकि जब दुःखान्तकी देखने के पश्चात् न तो हम निराश होते हैं और न हममें विद्रोह की भावना जाग उठती है तो यह शक्ति अनैतिक नहीं हो सकती। जब हम नायक के पतन से सन्तुष्ट होकर उसे ही उसकी विफलता का जिम्मेदार समझते हैं तो यह शक्ति चाहे जो कुछ और हो उच्छृंखल अथवा अनैतिक नहीं। उदाहरण के लिए दुःखान्तकीयों के समस्त नायक कार्य करने के लिए पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। उन्हे कोई वाह्य शक्ति स्पष्ट रूप से बाधित नहीं करती; परन्तु कार्यों के फलस्वरूप ही नायकों का पतन होता है। इसलिए इस शक्ति को हम अनैतिक किसी भी दृष्टि से नहीं कह सकते। ब्रूटस से बढ़कर शायद ही किसी ने राष्ट्र का हित सोचा हो मगर अपनी करनी से ही वह हत्याएँ और रक्तपात कराते हैं; इयागो से बढ़कर शायद ही किसी ने इतना घातक प्रपंच रचा हो मगर वह स्वयं उसका शिकार हो जाता है; हैमलेट से ज्यादा शायद ही किसी ने मानव-जीवन की इतनी अधिक महत्ता समझी हो और रक्तपात से घृणा दिखलाई हो मगर वे स्वय रक्तपात का कारण बन जाते हैं; लेडी मेकबेथ ने सोचा था कि अपनी आन निभाने के लिए अपने दुधमुँहे बच्चे की भी हत्या कर सकती हैं मगर समय आने पर वह रक्त के चिन्हों से डर कर उन्मादित होती हैं; मेकबेथ ने सोचा था कि अपनी महत्वाकाक्षा को पूर्ण करने के लिए वह अपना अगला जन्म भी न्यौछावर कर देंगे मगर कुछ ही समय बाद उन्हें सम्पूर्ण जीवन की निस्सारता मालूम पड़ जाती है। इन उदाहरणों से यह कदाचित् प्रमाणित होता है कि मनुष्य अपने भाग्य का विधाता स्वयं ही है। हाँ, यह अवश्य है कि

दुर्योग और सयोग भी असमय आकर उसके भाग्य पर प्रभाव डालते हैं। वस्तुतः सभी नायकों के सामने वे ही प्रश्न रहते हैं जिनको ये हल नहीं कर पाते; उनको वे ही कार्य करने पड़ते हैं जिनके करने में वे असफल रहते हैं।

जिस घातक भाग्य का शेक्सपियर उपयोग करते हैं वह न तो नायक का मनमाना पतन कराती है और न उन्हें कर्मानुसार ही दण्ड देती है। इस शक्ति को किसी प्राणी विशेष अथवा वंश विशेष से शत्रुता नहीं। यूनानी नाट्य सिद्धान्तों के अनुसार भाग्य, अपना बदला पिता के बजाय उसके पुत्रों और प्रपौत्रों से नहीं लेता। शेक्सपियर की धारणा यह है कि भाग्य नैतिक भित्ति पर टिका हुआ है और यह संसार के समस्त नैतिक शक्तियों का प्रतीक मात्र है। इसका साम्राज्य इतना विस्तृत है, इसका विधान इतना जटिल है कि उसका रहस्य मनुष्य मात्र की समझ के परे है। इस शक्ति का शासन नायक के अन्तर्जगत और सारे वाह्य जगत पर रहता है और जब नायक इस अलौकिक शक्ति के विपरीत अपनी घातक त्रुटि के कारण कार्य आरम्भ करता है तो ऐसे कार्यों का क्रमानुसार ताँता लग जाता है कि नायक उनमे उलझता ही चला जाता है और अन्त में प्राण खोकर, अपने घातक अवगुण को पहचान कर, अपने से ही प्रतिशोध लेता है।

वास्तव में यह शक्ति पाप तथा अनैतिक दुर्गुणों की घोर विरोधी है। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि शायद दुर्गुणों ही द्वारा नायक की सफलता हो रही है। हैमलेट के पिता को मार कर क्लाडियस अपनी भावज से व्याह कर सुखपूर्वक राज्य करते हैं; डन्कन को हत्या कर मेकबेथ गर्व से शासन करते हैं और सीजर को मार कर षड्यन्त्रकारी सफल प्रतीत होते हैं। मगर दुष्टता की यह विजय केवल क्षणिक विजय है। थोड़ी ही देर बाद नैतिक शक्तियाँ अपना दल बाँध कर अनैतिकता पर धावा बोल देती हैं और शीघ्र

ही उन्हें परास्त कर देती हैं। तब हमें अनुभव होता है कि उस क्षणिक सफलता का कारण उन पात्रों की अनैतिकता नहीं वरन् उनकी बची-खुची नैतिकता ही रही होगी। नैतिक तथा अनैतिक भाव मनुष्यों में सदैव रहते हैं परन्तु साधारणत: नैतिक भावों का ही पलड़ा भारी रहता है और अनैतिक भाव दबे बचे रहते हैं; और जब कभी समय पाकर वे सिर उठाते हैं तो उनका सिर नैतिक शक्तियाँ कुचल देती हैं। इस संघर्ष में नायक की बुराइयों के साथ-साथ अनेक भलाइयों का भी तहस-नहस हो जाता है। उसकी नैतिकता भी अनैतिकता के साथ दण्डित होती है। न जाने कितने भले लोगों तथा नैतिक पात्रों का क्षय हो जाता है। यह नायक को पावन बनाने के लिए यदि क्षम्य नहीं तो अनिवार्य अवश्य है। दुखान्तकी वास्तव में बुराई के विरुद्ध भलाई की प्रतिक्रिया अथवा प्रतिशोध है।

५

आलोचना सिद्धान्त

अंग्रेजी, जर्मन तथा फ्रांसीसी साहित्यकारों तथा साहित्यिक दार्शनिकों ने दुःखान्तकी के विषय, उसकी रचना, पात्र चयन, कथोपकथन तथा उसके अंतिम प्रभाव पर अपने अपने मत प्रकट किए हैं। अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार, कवि तथा आलोचक ड्राइडेन ने नाटकों को मानव प्रकृति और मानव जीवन का सजीव प्रतिबिम्ब माना है। इससे प्रमाणित होता है कि उन्होंने यूनानी नाटककारों तथा आलोचकों की परिभाषा को अपनाया है और नाटक को अनुकरणात्मक कला का एक अंग माना है। यूनानी आलोचक अरस्तू का भी यही मत था। संस्कृत के नाटककारों ने भी यही परिभाषा अपनाई हैऔर वे नाटकों को अनुकरणात्मक ही मानते हैं।

नाटक के विषय-चयन मे, ड्राइडेन के अनुसार, हमें वह कथानक तथा वस्तु उपयोगी होगी जिसमें मानव-जीवन भाग्यचक्र से उद्वेलित हो। जब मानव-जीवन में भाग्य उथल पुथल तथा उतार चढाव प्रस्तुत करता है तो उसमें हमें नाटक-रचना के उपयुक्त कथानक प्रस्तुत हो जाते हैं। नाटककार इसी विषय के आधार पर श्रेष्ठ रचना कर सकते हैं। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में भी ड्राइडेन ने यूनानी आलोचकों का सहारा लिया है। यूनानी आलोचकों ने अपनी परिभाषा तथा नाट्यकारों ने अपनी रचना मे भाग्य को भी एक जबरदस्त पात्र-विशेष माना है जो समय समय पर आकर मानव से उसकी कमजोरियों का प्रतिशोध लेता है। कदाचित् संस्कृत साहित्य मे भाग्य को इतना महत् आसन नहीं दिया गया है। उनके नाटकों में देवताओं की कपट लीला अथवा छलपूर्ण प्रपंच, उनकी पुष्पवर्षा तथा भक्त की परीक्षा आदि भाग्य के अन्तर्गत किसी हद तक माने जा सकते हैं।

विषय-चयन पर अंग्रेजी आलोचकों ने बहुत जोर दिया है। प्रायः सभी पुराने आलोचक जो यूनानी आलोचना शास्त्र से प्रभावित हुए विषय-चयन पर बहुत जोर डालते हैं। नाटक का विषय उनके लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। विषय को महत्त्व देने का साधारण कारण यह था कि वे विषय को नाटक का मूलाधार मानते थे। विषय की श्रेष्ठता अथवा हीनता पर ही नाटक की सफलता वे स्थिर करते थे। प्राचीन संस्कृत नाटकों मे प्रकाशित आलोचकों का हम यही सिद्धांत देखते हैं। संस्कृत नाटककारों ने विषय-चयन पर इतना जोर दिया कि उन्होंने नाटक की परिधि से बहुत से विषय निकाल फेंके और केवल सुखान्तक विषयों और कथानकों के उपयोग की आज्ञा दी। कदाचित् उनका विश्वास था कि केवल सुखान्तकी से ही आदर्श रूप में हर्ष तथा आनन्द प्रकट किया जा सकता है। दुखान्तकी शायद इसलिए मान्य न थी कि मनुष्य जब अपने को दुःख तथा आपत्ति में ग्रस्त

पाता है तो साधारणतः उसके मन में देवी शक्तियों के प्रति अविश्वास और क्रोध प्रकट करने का अवसर देना उन्हें मनोनीत न था। इसी कारण समस्त संस्कृत नाटक सुखान्तक ही हैं।

जर्मन, अंग्रेजी, यूनानी, तथा संस्कृत के श्रेष्ठ आलोचकों ने नाटक के लिए श्रेष्ठ वर्ग के मनुष्यों से सम्बन्धित कथानकों को ही उपयोगी तथा मान्य समझा है। यूनानी तथा अंग्रेजी साहित्यकार जिन्होंने यूनानी प्रभाव अपनाया, श्रेष्ठ वर्ग के मनुष्यों को ही अपने नाटकों में स्थान देते रहे। इन्होंने दुःखान्तक रचना में इसे अनिवार्य माना है, हाँ सुखान्तक रचना से इसकी वे नितान्त अवहेलना करते हैं। संस्कृत के सुखान्तकीयों में भी हम हमेशा श्रेष्ठ वर्ग के समुदाय का चित्र पायेंगे। 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'मुद्राराक्षस', 'धनञ्जय विजय', 'कर्पूर मंजरी, 'महावीर चरित', 'उत्तर रामचरित', 'मालती माधव' सभी में श्रेष्ठ वर्ग के मनुष्यों का ही जीवन प्रदर्शित है। यूनानी नाटकों में 'ऐलसेस्टिस', 'मिडिया', 'हिपालिटस', 'आयोन', 'इलेक्ट्रा', 'आरेस्टीज़', 'इडिपस', 'ऐन्टीगनी', 'एजैक्स', सभी श्रेष्ठ वर्ग के कथानक स्वरूप हैं। अंग्रेजी के हैमलेट, ओथेलो, मैकबेथ, जूलियस सीजर भी उच्च वर्गों से ही सम्बन्धित हैं।

उच्च वर्ग से सम्बन्धित कथानकों के अपनाने का एक महत्वपूर्ण कारण था जो दुःखान्तकी के प्रभाव से सम्बन्धित है और जिसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। इन आलोचकों का विश्वास था कि कि उच्च वर्ग के राजे, महाराजे, श्रेष्ठ वीर तथा सेना-नायकों का जीवन जब हम दुःखान्तकी में देखते हैं तो हमारे ऊपर बड़ा गहरा असर पड़ता है। अपने सामने जब हम महान शासकों, श्रेष्ठ राजाओं तथा राजकुमारों का पतन देखते हैं तो हमारे हृदय में एक विचित्र प्रकार के भय तथा करुणा का प्रसार होता है। भय हमें चेतावनी देता है कि अमुक कमज़ोरी अथवा पाप का फल ऐसा होता है और करुणा हमारे हृदय तथा मस्तिष्क का संशोधन कर हममें मानवी

भाव जाग्रत करती है। प्राचीन आलोचकों के मतानुसार साधारण श्रेणी के मनुष्यों के जीवन पर आधारित श्रेष्ठ दुःखान्तकों की रचना नहीं हो सकती।

आधुनिक यूरोपीय नाटककारों ने इस रूढ़ि के विरुद्ध नए सिद्धान्त बनाए हैं। इन नए आलोचकों में मारिस-मेटरलिंक का स्थान अग्रगण्य है। वे बेलजियम निवासी थे और उन्होंने अपने नाट्य सिद्धान्तों तथा नाटकों में साधारण वर्ग के मनुष्यों के जीवन को दुःखान्तकों का समुचित विषयाधार माना और साधारण मानव की महत्ता घोषित की। उनका विचार है कि श्रेष्ठ वर्गों का जीवन, नाटकीय रूप में हम को विशेष रूप से प्रभावित नहीं करता। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है कि इसमें उस वर्ग के प्रति केवल बाह्य-सहानुभूति ही हो सकती; वे हमारे हृदय को नहीं छू सकते, वे हमसे बहुत दूर रहते हैं। और दूसरे हम अपनी कल्पना का विशेष सहारा लिए बिना उस वर्ग के सुख-दु,ख का समुचित अनुभव भी नहीं कर सकते। कल्पना की शक्ति हममें, साधारणतया न तो अधिक होती है और न पर्याप्त। इसलिए हमें कल्पना-शक्ति को विशेष रूप से जाग्रत कर, अपने निजी व्यक्तित्व को खोकर उसका अनुभव करना पड़ता है। सच्चेर में उनका जीवन, हमारा जीवन न होने के कारण हम पर वह दूरी ही से प्रभाव डाल सकता है जो केवल अस्थायी रहेगा। इसके विपरीत साधारण वर्ग का जीवन हममें इतना घुला मिला है कि उससे प्रभावित होने के लिए हमें अपनी कल्पना का सहारा नहीं लेना पड़ता। यह स्वाभाविकतः हमें आकर्षित करता है क्योंकि उस वर्ग का जीवन हमारा निजी जीवन है। वह हमें आन्तरिक रूप से प्रभावित करता है और इस कारण उसका प्रभाव स्थायी रहता है। साधारण वर्ग का जीवन ही श्रेष्ठ दुःखान्तकों का मूलाधार है। मेटरलिंक ने इसी सिद्धान्त को अपनाकर श्रेष्ठ दुःखान्तकीयों की

रचना की है। प्रेम और मृत्यु के रहस्यपूर्ण आवर्त में डालकर उन्होंने पात्रों को हमारे बहुत समीप ला दिया है।

दुःखान्तकी के निर्माण-शैली के सिद्धान्तों पर सभी आलोचक एकमत है। सभी ने वस्तु के सामञ्जस्य और गठन को आवश्यक ही नहीं वरन् अनिवार्य माना है। नाट्यकार को अपना ध्येय स्थिर करने के पश्चात् वस्तु का निर्माण करने का आदेश सभी ने दिया है। यूनानी तथा अंग्रेज़ी आलोचकों ने निर्माण-शैली पर विस्तार पूर्वक उपदेश दिए हैं। वस्तु-सामञ्जस्य की आवश्यकता को समझाने के लिए अंग्रेज़ी कलाकारों ने अनेक उपमाओं द्वारा अपने आदेश का समर्थन किया है। श्रेष्ठ कपड़े की बिनावट समान, श्रेष्ठ चित्र की अद्‌भुत अनुरूपता समान तथा मनमोहक वाटिका के सम रूप श्रेष्ठ वस्तु का निर्माण वाञ्छनीय है। उनके मत से वस्तु के तीन खण्ड होते हैं। आरम्भ, मध्य तथा अन्त। इन तीनों खण्डों मे पूर्ण अनुकूलता तथा अविरोध होना चाहिए। तीनों को एक दूसरे की पूर्ति करनी चाहिए। यदि नाटक के वस्तु के आरम्भ और अन्त मे अथवा मध्य और अन्त अथवा आरम्भ और मध्य मे सम्पूर्ण सम-पूरकता नहीं तो कलाकार दोषी है और नाटक निम्नकोटि का है।

वस्तु-निर्माण मे, साधारणतः प्राचीन आलोचकों ने केवल एक ही कार्य का प्रतिपादन वाञ्छित ठहराया है। एक ही कार्य आदि से अन्त तक प्रस्तुत रहना चाहिए। उस एक ही कार्य का लेखा, नाट्य-कारों को, नाटकीय वस्तु के तीन पूर्वोक्त खण्डो में पूर्ण-रूप से प्रस्तुत करना चाहिए। इसके विपरीत आधुनिक कलाकारों ने अनेक कार्यों को नाटक मे स्थान दिया है। इस वर्ग के आलोचकों का कथन है कि केवल एक ही कार्य के प्रतिपादन से नाटक के प्रभाव में कमी आ जाती है और दर्शक ऊब उठता है और अनेक कार्य-पूर्ण नाटकों का आकर्षण बहुत देर तक रहता है। इस प्रश्न पर दोनों वर्गों के आलोचकों के प्रमाणों पर समुचित रूप से ध्यान देने पर यह निष्कर्ष

निकाला जा सकता है कि आधुनिक नाटककार ही वास्तविकता के अधिक पास हैं। जीवन के अनेकरूपता के अनुसार वस्तु के कार्य मे भी अनेकरूपता होनी चाहिए क्योंकि नाटक सम्पूर्ण जीवन का ही चित्र है।

प्राचीन आलोचकों ने वस्तु-निरूपण में, काल, देश तथा कार्य का समीकरण तथा उनकी अनुरुपता का विशेष ध्यान रखा है। रंगमञ्च पर, कार्य उतनी ही देर मे समाप्त होना चाहिए जितनी देर कार्य को प्राकृतिक अथवा मूल रूप में लगी थी और एक ही स्थान पर तथा एक ही देश में कार्य की समाप्ति होनी चाहिए। इन प्रति-बन्धों के लगने से, प्राचीन नाटकों में अरोचकता आ गई है। काल, देश तथा कार्य को सीमित कर देने से नाटक अस्वाभाविक हो गए हैं। जीवन में, देश, काल तथा काय की सीमा का प्रतिदिन हम उल्लङ्घन देखते हैं। और जब नाटक का ध्येय जीवन का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करना है तो इस नियम के उल्लङ्घन से वह जीवन के और भी समीप आ जाता है।

संस्कृत के प्राचीन नाटककारो ने पात्रों के चुनाव में भी अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए हैं। उन्होने नायक को प्रधान माना है और उसे सर्वगुण सम्पन्न प्रदर्शित किया है। वे विशेषतः वीरता तथा साहस के प्रतीक हैं और जनसाधारण के लिए आदर्श-वत हैं। यूनानी तथा अंग्रेजी नाटककारों ने इस सिद्धान्त को नहीं अपनाया। उनका विचार था कि सर्वगुण-सम्पन्न नायक जीवन मे असम्भव है और यदि कोई है भी तो वह मनुष्य नहीं, देवता भले ही हो। इसके साथ-साथ उनका यह भी विश्वास था कि मनुष्य की महानता के लिए कुछ त्रुटि का होना जरूरी है नहीं तो अवगुणरहित मनुष्य सांसारिक जीवन मे किस काम का। अवगुण ही मनुष्य की मनुष्यता का लक्षण है। इस तथ्य को समझ कर यूनानी तथा अंग्रेजी नाटककारों ने यद्यपि, संस्कृत नाटककारों के समान श्रेष्ठ वीर तथा राजे नायक

रूप में अपनाए, परन्तु उनमें कुछ न कुछ मानवी त्रुटि अथा अवगुण का समावेश कर उन्हें मनुष्य बनाने का प्रयास किया। इसी सिद्धान्त के अनुसार उनके श्रेष्ठ नायक निर्मित हुए हैं। उन सब में एकांगी दोष है। एकांगी दोष से अभिप्राय ऐसे दोष से है जो उनको किसी खास तरह पर सोचने या किसी खास तरह से कार्य करने या किसी खास तरह से कल्पना करने पर विवश कर देता है। इसी एकांगी दोष के कारण वह अपना कार्य पूरा करते-करते रह जाता है और या तो अपनी हत्या स्वयं करता है या उसकी हत्या अन्य पात्र करते हैं; और इस अन्तिम कार्य से वह अपनी महानता स्थापित करता है।

एकाँगी-दोष-पूर्ण नायक के चरित्र में एक विशेष लक्षण यह होता है कि नाटक की समाप्ति के पहले जब वह अपनी त्रुटि और अपना मानसिक अवगुण भलीभाँति समझ लेता है तब हमसे बिदा होता है। अपना अवगुण पूर्ण रूप से समझने के पश्चात् उसका जीवन उसे महत्त्वहीन तथा निरर्थक जान पड़ने लगता है और हम भी ऐसे अवसर पर दर्शक की हैसियत से यही चाहते हैं कि वह अपने जीवन का अन्त कर ले।

नाटकों के प्रभाव से सम्बन्धित सिद्धान्तों में प्राचीन यूनानी तथा संस्कृत नाटककारों में मतभेद कुछ विशेष है। संस्कृत के नाटक आदर्शवाद का प्रचार, आनन्द तथा सुधार की भावना द्वारा करते हैं। इस सिद्धान्त से यूनानी तथा अंग्रेज़ी नाटककार सहमत हैं। दोनों ही के अनुसार आनन्द तथा सुधार नाटक का ध्येय होना चाहिए। परन्तु अंग्रेज़ी नाटककार खुल्लमखुल्ला सुधार की भावना फैलाने के विरोधी हैं; उन्होंने आनन्द को प्रथम स्थान दिया है तथा सुधार को गौण। डि क्विन्सी, जान ड्राइडेन, तथा अन्यान्य श्रेष्ठ अंग्रेज़ी आलोचकों ने आनन्द को ही प्रधानता दिया है।

नाटक के नैतिक प्रभाव के सम्बन्ध में हेगेल तथा बर्गसाँ के सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। बर्गसाँ का सिद्धान्त है कि दुःखान्तकी

की रचना केवल सभ्य समाज के द्वारा ही हो सकती है। जब समाज सभ्यता और संस्कृति के रास्ते पर अग्रसर हो जाता है तो समाज के प्राणियों में स्मृति का भाण्डार भरने लगता है। इसी स्मृति-कोष से हमें सहानुभूति तथा प्रेम की व्यञ्जना मिलती है। इसी के फलस्वरूप हमारे हृदय तथा मस्तिष्क का परिमार्जन होता है। जब लेखक मृत्यु की कर्कशता तथा क्रूरता के सामने नायक को झुका देता है तो कुछ देर के लिए तो हम स्तब्ध रह जाते हैं, परन्तु शीघ्र ही हमें आत्मा की सत्यता, उसकी अजेयता, उसकी शालीनता तथा उसकी श्रेष्ठता का अनुभव होने लगता है जिसके द्वारा हममें जीवन के प्रति श्रद्धा उपजती है।

हेगेल ने दुःखान्तकी को पूर्णरूप से प्रभावोत्पादक बनाने के लिए एक सरल उपाय बतलाया है। उनका सिद्धान्त है कि द्वन्द्व बुरे तथा अच्छे, नीच तथा उच्च, अथवा पाप तथा पुण्य में न दिखला कर अच्छे और अच्छे, पुण्य तथा पुण्य और उच्च और उच्च में ही प्रस्तुत करना चाहिए। यदि यह द्वन्द्व आन्तरिक रूप में प्रस्तुत हो सके तो सोने में सुहागा मिल जाय। मनुष्य के चरित्र के गुणों को ढूँढ कर, उन्हीं गुणों में यदि द्वन्द्व उपस्थित किया जाय तो दुःखान्तकी अति श्रेष्ठ होगी। उदाहरण के लिए शेक्सपियर लिखित दुःखान्तकीयों में 'किंग लियर' सबसे श्रेष्ठ इसी कारण है। लियर पुत्री प्रेम के आधिक्य के ही शिकार हैं। उसी प्रकार 'हैमलेट' अत्यधिक दार्शिनिकता तथा श्रेष्ठ विचारों के शिकार हैं। गुणों के अन्तर्द्वन्द्व द्वारा प्रतिपादित दुःखान्तकी वास्तव में बड़ी प्रभावपूर्ण होगी।

प्रायः सभी साहित्य के लेखकों ने दुःखान्तकी के प्रभाव-स्वरूप उन्हीं भावनाओं को स्तुत्य माना है जिसके द्वारा मनुष्य में संसार की नैतिक शक्तियों अथवा ईश्वर अथवा जीवन की श्रेष्ठता पर दृढ़ विश्वास जाग्रत हो। 'ऐसी दुःखान्तकी जिसके फल स्वरूप मनुष्य नारकीय प्राणी जान पड़े कला की दृष्टि से हीन है। दुःखान्तकी के

अन्तिम चरण में ऐसे भावों का प्रसार होना चाहिए जिससे हममें ईश्वर के प्रति श्रद्धा, जीवन के प्रति प्रीति तथा नैतिकता के प्रति प्रेम की भावना बढ़े। नैराश्य की भावना का प्रसार तो अत्यन्त सरल और सहज है। मनुष्य को भाग्य के चपेट मे डालते जाइए और अन्त मे उसे फाँसी पर लटकवा दीजिए या पानी में डुबा दीजिए। परन्तु मानव जीवन की श्रेष्ठता तथा उसकी शालीनता का दिग्दर्शन कराना महत्त्वपूर्ण कार्य है। यह दुःखान्तकी का आभूषण ही नही वरन् प्राण है।

हम अब अन्यान्य लेखकों के सिद्धान्त उन्हीं के शब्दो मे प्रस्तुत करेंगे जिनसे उपरोक्त विचारो का समर्थन होगा।

६

आलोचकों के वक्तव्य

आर० फ्लेकनो—"जिस प्रकार एक बहुत अच्छे बिनावट के कपड़े की रूपरेखा होती है उसी प्रकार अच्छे नाटक की रूपरेखा होनी चाहिए। जिस प्रकार सुन्दर कपड़े मे न तो गाँठ रहती है, न छीर रहता है और न उसके धागे ही निकले रहते हैं उसी प्रकार नाटक के सभी भाग सुसंगठित होने चाहिए।

नाटक एक सुन्दर सुव्यवस्थित तथा सामञ्जस्यपूर्ण चित्र के समान है। उसकी वस्तु, उसका आकार, उसका रूप-रंग, उसकी रञ्जना, उसका वातावरण सब में आकर्षक समन्वय होना चाहिए।

जैसे कि सुन्दर वाटिका का स्वरूप आकर्षक तथा मनोहर होता है वैसे ही नाटक का भी स्वरूप होना चाहिए। सुन्दर वाटिका बनाने में, क्यारियाँ, बीथियाँ, उद्यान-पथ, तरु, तरुलताएँ—सब का हृदय-ग्राही सामञ्जस्य रहता है वैसा ही सामञ्जस्य एक सुन्दर नाटक में होता है।

नाटक रचना अन्य रचनाओं से अधिक कठिन है क्योंकि नाटककार जीवन के सभी अंगों पर रचना कर सकते हैं और समाज के सभी लोग उसकी आलोचना कर सकते हैं। इसके विपरीत अन्य रचनाओं की आलोचना केवल उस विषय के मर्मज्ञ ही कर सकते हैं।"[1]

बेन जॉनसन—"एक संपूर्ण तथा सुगठित कार्य को हम नाटक का वस्तु कहेंगें। इतनी पूर्णता होती है कि हम बिना इसकी हानि पहुँचाए न तो इसमें कुछ जोड़ सकते हैं और न कुछ बढ़ा सकते हैं। परन्तु इस वस्तु के विविध अंगों में विस्तार की सम्भावना हो सकती है।

श्रेष्ठ वस्तु में आदि मध्य और अंत का अपूर्व सामञ्जस्य रहता है। किसी शरीर को देखने पर जो प्रभाव आँखों पर पड़ता है वही प्रभाव स्मरणशक्ति पर वस्तु का पड़ता है। यदि शरीर बहुत बड़ा है तो आँखे उसे पूर्णतः नहीं देख पातीं और अगर बहुत छोटा है तो आँखे प्रभावित ही नहीं होतीं। उसी प्रकार यदि वस्तु का रूप विशाल है तो उसे हम सरलता से स्मरण नहीं कर सकते और यदि उसमें बहुत ही कम विस्तार है तो हम उससे आकर्षित ही नहीं होते।

नाटककार को वस्तु के विविध स्थलों की सीमा बना लेनी चाहिए जिससे रचना प्रभाव-पूर्ण हो। उन्हे समय का विशेष ध्यान रखना चाहिए।"[2]

जान ड्राइडेन—"फ्रांसीसी नाटककारों द्वारा चुने हुए वस्तु में केवल एक ही कार्य का सम्पादन रहता है। नाटक के सभी पात्र उसी के सम्पादन में लगे रहते हैं और प्रत्येक दृश्य एक ही कार्य को प्रदर्शित कर उद्देश्य की पूर्ति करता रहता है।

इसके विपरीत अंग्रेज़ी नाटककारों के वस्तु में अनेक उपवस्तु भी

---

१. आर० फ्लेकनो—'डिसकोर्स ऑव दि इंगलिश स्टेज'

२. बेन जानसन—डिसकवरीज़'

रहती है जिसमें कुछ कम महत्त्वपूर्ण पात्रों द्वारा कार्य पूरा होता है। ये उपवस्तुएँ तथा पात्र सूर्य मण्डल के नक्षत्रों के समान हैं। जिस प्रकार से ये नक्षत्र सूर्य के चारों ओर घूमते हैं और उसी के द्वारा उन की सत्ता बनी रहती है उसी प्रकार मुख्य वस्तु के अन्तर्गत उपवस्तु रहती है।'[1]

जान मिल्टन—"देश, काल तथा कार्य की मर्यादा का निर्वाह जिस कथानक से हो उसे नाटक का वस्तु कहेंगे।"[2]

जानड्राइडेन—"नाटक मानव प्रकृति का सच्चा तथा सजीव प्रतिबिम्ब है। उसमें जीवन की चित्तवृत्तियो तथा लालसाओं का समावेश रहता है। भाग्यचक्र से आन्दोलित जीवन उसका प्रधान वस्तु है। उसका उद्देश्य आनन्द तथा शिक्षा प्रदान है।"[3]

जॉन ड्राइडेन—"नाटक में केवल एक ही मुख्य पात्र की प्रधानता रहती है। नाटक के अन्य सभी अग उस पर निर्भर रहते हैं। परन्तु इससे यह मतलब नहीं कि नाटक में अन्य महत्वपूर्ण पात्रों का कोई स्थान नहीं है। उसमे अनेक महत्वपूर्ण पात्र हो सकते हैं; कुछ नायक के समान भी श्रेष्ठ रह सकते हैं। जिससे सघर्ष में सतुलन हो। दो महत्वपूर्ण पात्रों के विरोधी प्रकृित के संघर्ष तथा उनके कार्यों द्वारा कथा वस्तु में असमरूपता तथा रोचकता आती है। जितने ही अधिक पात्र होंगे उतनी ही कथावस्तु में विभिन्नता आयेगी। यदि वस्तु के अनेक भागो से संगठन तथा सामञ्जस्य और पूर्णता है तो वे और भी रोचक प्रतीत होंगे। हम वस्तु की भूलभुलैया में पड़कर थोड़ी ही देर बाद बाहर आकर और भी आनन्दित होंगे। कुछ देर तक हम

---

१. जान ड्राइडेन 'ऐन एसे ऑन ड्रैमैटिक पोयेज़ी'

२. मिल्टन—'प्रेफेस टु सैमसन ऐगनिस्टीज़'

३. जॉन ड्राइडेन—"ऐन एसे ऑन ड्रैमैटिक पोयेज़ी"

असमंजस में रहें और अन्त न जान पाएँ इसी में नाटक की सफलता है।"[1]

जान ड्रॉइडेन—"नाटक लिखने के पहले कलाकार को अपना उद्देश्य भलीभाँति निश्चित कर लेना चाहिये। जिन नीति और जिस उपदेश को उसे नाटक मे स्पष्ट करना है उस पर मनन करने के बाद नाटक रचना करनी चाहिए, क्योंकि इसी उपदेश के आधार पर कथा-वस्तु का निर्माण होगा और यही अंश सम्पूर्ण नाटक का केन्द्र होगा। कथानक के निर्माण के बाद ही अन्य पात्रों का निर्माण होना चाहिए जो वांच्छित उपदेश को स्पष्ट करेंगे। पात्रो के निर्माण मे उनकी विभिन्न चित्तवृत्ति, चरित्र तथा भावनाओं का विशेष ध्यान रखना आवश्यक है।

नाटककार को ऐसी चित्तवृत्तियों का उपयोग करना चाहिए जिससे कथावस्तु गति शील हो और पात्र अपने विशेष कार्यों मे लगकर उद्देश्य की पूर्त्ति करें। अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उसे न तो अतिश्रेष्ठ और न अति नीच पात्रों का निर्माण करना चाहिए, वरन् उनमें उतने ही गुण-दोष दिखलाने चाहिए जिससे कार्य-सिद्धि आसानी से हो जाय।

नाटककार को इतिहास, नीति तथा दर्शन का यथोचित ज्ञान होना चाहिए जिससे वह पात्रों की स्वाभाविक चित्तवृत्तियों को समझ सके। पात्रों के आचरण तथा आचार-विचार कृत्रिम न होकर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सच्चे होने चाहिए। इन स्वाभाविक चित्तवृत्तियों के प्रयोग में कुछ नियम लागू होते हैं। ये नियम निम्नलिखित हैं—

(१) प्रत्येक पात्र की चित्तवृत्ति को स्पष्ट रूप से प्रकट करना चाहिए।

(२) जाति भेद, आयु और पद की दृष्टि से आचरण स्वाभाविक

---

१. वही

होना चाहिए। अर्थात् यदि नाटककार ने किसी पात्र विशेष को राजा बनाया है तो उसके आचार विचार, बातचीत और रहन-सहन में शालीनता, गौरव तथा श्रेष्ठता अवश्य होनी चाहिए।

(३) आचरण तथा चित्तवृत्ति के चित्रण में ऐतिहासिक अथवा सामाजिक अनुरूपता होनी चाहिए। जैसे यदि कोई ऐतिहासिक अथवा प्रख्यात सामाजिक पात्र चुना जाए तो उसका चरित्र इतिहास के बताए हुए चरित्र के समान ही होना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि कोई नाटककार महाराणा प्रताप का चित्र खींचे और उन्हें युद्ध में पीठ दिखलाता हुआ चित्रित करे तो यह उसकी अज्ञानता है। इस नियम का उल्लङ्घन नाटकों में बहुत होता है जिनके कारण ये नाटक निम्नकोटि के तथा असफल रहते हैं।

(४) चित्तवृत्ति के चित्रण में एक दूसरी सावधानी की आवश्यकता है। ये चित्तवृत्तियाँ स्थायी होनी चाहिए और उन्हीं के अनुरूप पात्रों को कार्य करना चाहिए। जैसे अगर किसी पात्र को ज्ञानी अथवा विनयशील बना दिया गया तो उसे अन्त तक इन्हीं गुणों को निबाहना चाहिए। उसमें परिवर्तन न होना चाहिए।

चित्तवृत्ति और आचरण के आधार पर पात्रों का निर्माण होता है और इन्हीं के आधार पर पात्रों में विभिन्नता आती है। परन्तु पात्रों के आचरण में समान गुणों और अवगुणों का समावेश होना चाहिए न कि विरोधी गुणों अथवा अवगुणों का। उदाहरण के लिए यदि कोई पात्र उदार है तो उसमें वीरता, शालीनता तथा सन्तोष गुण रह सकते हैं। परन्तु उसमें कृपणता, कायरता तथा लोभ का समावेश बिलकुल असंगत है। यदि कोई पात्र कायर है तो वह स्वभावतः झूठा, लोभी, असन्तोषी तथा स्वार्थी हो सकता है।

दुःखान्तकी के नायक में गुण और अवगुण की मात्रा उतनी ही होनी चाहिए जिससे वह दर्शकों को प्रिय रहे और उनकी सहानुभूति पा सके। नायक के त्रास और उसके दण्डित होने पर दर्शकों में भय

तथा करुणा का यथेष्ट संचार होना चाहिए। भय के संचार से दर्शकों के अन्य अवगुणों का परिमार्जन होता है और उनके चरित्र में यथोचित गुण का जागरण होता है। करुणा के संचार से उनमें संवेदना प्रगट होती है; जिससे उनके सुप्त गुणों का विकास होता है।"[1]

डि० क्विन्सी—"नाटको में नैतिक शिक्षा स्पष्ट न होकर अव्यक्त रहनी चाहिए। पात्रों तथा कथानक के अनेक स्थलों में यह शिक्षा अव्यक्त तथा निहित होनी चाहिए। नाटक में स्पष्ट शिक्षा से उसकी रोचकता कम होती है।"[2]

जॉन मिल्टन—"प्राचीन लेखकों के विचार से दुःखान्तकी अन्य रचनाओं की अपेक्षा अधिक गुरुत्वपूर्ण तथा उपयोगी होती है। इसी आधार पर अरस्तू ने भी नाटकों को इसलिए महत्त्वपूर्ण बतलाया है कि वे भय तथा करुणा के संचार से पाठकों के स्वाभाविक अवगुणों का परिमार्जन करते हैं। और उनकी अधिकता को हटाकर उनके आचरण का सशोधन करते हैं। रंग शाला में पात्रों द्वारा इन्हीं अवगुणों तथा गुणों के अनुकरण से दर्शक आनन्दित होकर शिक्षा ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार यह प्राकृतिक सत्य है कि विष से विष उतर जाता है उसी प्रकार रंगशाला में अवगुणों के अभिनय तथा अनुकरण और प्रदर्शन से मनुष्य की बुराइयाँ हट जाती हैं।

महान् लेखकों की यही अभिलाषा रही है कि वे श्रेष्ठ नाटककार हों। इसकी कला उच्चकोटि की है।"[3]

जॉन ड्राइडेन—"नाटक का उद्देश्य आनन्दपूर्ण उत्कण्ठा का प्रसार करना है। मानसिक आनन्द द्वारा चरित्र सशोधन की उत्कण्ठा ही उसका मुख्य ध्येय है।

---

१. जान ड्राइडेन—"प्रिफेस टु ट्रायलस ऐन्ड क्रेसिडा"
२. डि क्विन्सी—"मिल्टन वर्सेस साउदे ऐन्ड लैन्डार"
३. जान मिल्टन—"प्रिफेस टु सैमसन ऐगनिस्टीज"

दुःखान्तकी का प्रधान ध्येय शिक्षा प्रदान करना है। महान् लोगों के कार्यों और उनके अपराधों के फलस्वरूप दण्ड और यातना को उदाहरण रूप हमारे सम्मुख रखकर नाटककार हमें सन्मार्ग पर लगाते हैं। पाप के दुष्परिणाम और सत्कर्म के दैवी आदर्श वे हमारे सम्मुख रखते हैं।

अरस्तू के अनुसार दुःखान्तकी किसी सम्पूर्ण, सम्भाविक और विशाल कार्य का रंगभूमि पर अनुकरण है जिसका उद्देश्य भय और करुणा द्वारा हमारी दोनों भावनाओं की अति का परिमार्जन है। विस्तार-पूर्वक व्याख्या में यह कहा जा सकता है कि दुःखान्तकी किसी एक कार्य विशेष का वर्णन अथवा चित्रण है। इसकी वस्तु में किसी मनुष्य की सम्पूर्ण जीवन-गाथा न होकर केवल एक ही कार्य विशेष का उल्लेख रहता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार शेक्सपियर के बहुत से ऐतिहासिक दुःखान्तकी निम्नकोटि के कहलाएँगे क्योंकि उनमें अनेक घटनाओं का संकलन है और सभी में दो या तीन कथावस्तुओं का सम्मिश्रण है।

इस नियम का उद्देश्य बहुत स्पष्ट है। दो विभिन्न कथानकों से दर्शकों का ध्यान बट जाता है और जब कि दुःखान्तकी का उद्देश्य केवल एक ही है उसमें अनेक कथावस्तुओं का सम्मिश्रण अनुचित है।

दुःखान्तकी का कार्य व्यापार केवल एक ही होना चाहिए और उसमें क्रम आवश्यक है। फलतः इस कार्य व्यापार में स्वाभाविकतः आदि, मध्य और अन्त होना चाहिए। इन तीनों में पारस्परिक सम्बन्ध अनिवार्य है। यह आवश्यक नहीं कि उसकी कथावस्तु में ऐतिहासिक सत्य ही हो, परन्तु कथाव्यापार का सामान्य होना बहुत आवश्यक है।

---

१. जान ड्राइडेन—"ऐन एसे आन ड्रैमैटिक पोयेजी"

नाटकों का कार्य व्यापार महत्वपूर्ण तथा उसके पात्र श्रेष्ठ वर्ग के होने चाहिए। पात्र, वस्तु तथा कार्य व्यापार के उचित प्रयोग से दुःखान्तकी लेखक अपने उद्देश्य में सरलता से सफल हो सकते हैं। उनका उद्देश्य हमारे हृदय की भावनाओं की अधिकता का संशोधन तथा परिमार्जन है। भय और करुणा के प्रसार से ही यह संशोधन सम्भव है।

समस्त काव्य का मुख्य ध्येय आनन्दपूर्ण शिक्षा प्रदान करना है। यह देखा गया है कि मनुष्य के चरित्र में गर्व और निर्दयता दो बड़े अवगुण रहते हैं। कलाकारों ने दुःखान्तकी के द्वारा, भय और करुणा के संचार से इन दोनों अवगुणों का शमन करने का उद्योग किया है। जब रंगस्थल पर किसी महान पुरुष के दुर्दिन और दुर्भाग्य का प्रदर्शन होता है तो हमें ज्ञात होता है कि महान से महान मनुष्य भी भाग्य का शिकार हो सकता है। इस भावना से हमारे गर्व का शमन होता है। और जब हम किसी श्रेष्ठ पुण्यात्मा को दुर्भाग्य के चक्कर में देखते हैं तो हमारे हृदय में करुणा का सचार होता है। फलतः हमारी निर्दयता दया में परिणत हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक है कि जिन पात्रों के दुर्भाग्यो द्वारा हमारी करुणा जाग उठे, वे पूर्णतः सच्चरित्र हो क्योंकि दुष्ट मनुष्यां को दण्ड मिलने पर हमें दया नहीं आती वरन् सन्तोष होता है कि उन्हें उनके किये की सजा मिल रही है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या नाटकों से सभी दुष्ट पात्र निकाल दिए जायँ और नाटककार उन्हें अपने नाटकों में स्थान ही न दें ? मेरे विचार में यह सिद्धान्त ठीक नहीं। हाँ, मैं इतना अवश्य मानता हूँ कि नाटक के नायक के दुष्ट न होकर केवल अच्छी प्रवृत्तियो वाले होने चाहिये जिससे वे दया के पात्र हो सकें। संसार में पूर्ण सज्जन नहीं होते और देवतुल्य पात्रों का निर्माण अस्वाभाविक होता है। पात्रों में गुण-अवगुण दोनों का

मिश्रण ही स्वाभाविक है ; उनमें इतने गुण होने चाहिए जिससे वे मनुष्य कहला सकें।"[1]

जॉन ड्राइडेन—"पात्रों के चित्रण में उनकी प्रवृत्तियों को स्पष्ट करना ही नाटककार का मुख्य कार्य है। यदि नाटककार इस कला से अनभिज्ञ है तो वह नाटककार नहीं। अनेक सुखान्तकीयों तथा दुःखान्तकीयों में विविध कथानकों के प्रयोग से पात्रों की चित्तवृत्ति स्पष्ट न होकर जटिल और क्रियाहीन हो जाती है।

पात्रों का आचरण तथा उनका आचार विचार, उनकी अवस्था, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा देशकाल के अनुरूप ही होना चाहिए।

पात्रों के संवाद और कथोपकथन में स्वाभाविकता बहुत आवश्यक है। यदि संवाद में किसी प्रकार की भी कृत्रिमता आ जायगी तो नाटक निम्नकोटि का कहलाएगा। संवाद में इस बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि उसमें आवेश और आवेग उसी समय आवे जब चित्त में वास्तविक उद्विग्नता हो। कृत्रिम रूप से आवेश और आवेग के प्रयोग से पात्रों का चरित्र न तो ऊँचा हो सकता है और न इससे उसमें गौरव की मात्रा ही बढ़ेगी।"[2]

टी० राइमर—"कथानक ही दुःखान्तकी की आत्मा है और इसी के चुनाव और सुव्यवस्था में कलाकार की कला है। नाट्यकार, पात्र तो दर्शनज्ञों से ले सकते हैं, विचार उन्हें साहित्य शास्त्र से मिल सकते हैं और व्यञ्जना व्याकरण जानने वालों से पा सकते हैं परन्तु कथानक ही के चुनाव में उनकी मौलिकता और कला है।"

जोज़ेफ ऐडिसन—"अंग्रेजी नाट्यकारों ने भूल से यह सिद्धान्त मान लिया है नाटक सुखान्त ही होना चाहिए। इसीलिए उनके

१. जॉन ड्राइडेन—'प्रेफेस टु ट्रॉयलस ऐण्ड क्रेसिडा'

२. वही

३. वही

नायक अनेक कष्ट और विपत्ति झेलने के बाद अन्त में सुखी होकर जीवन व्यतीत करते हैं और उनकी सब इच्छाएँ पूरी होती हैं। इस धारणा से आलोचना साहित्य में बहुत से भ्रम-मूलक सिद्धान्त स्थापित हो रहे हैं और नाट्यकारों के इस भ्रम-मूलक सिद्धान्त से दुष्टों को दण्ड और सज्जनों को इनाम के रूप में सुख मिलता है। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा देखने में नहीं आता। संसार में सुख-दुःख सज्जनों तथा दुष्टों को बराबर मिलता रहता है।

"दुःखान्तकी का मुख्य उद्देश्य दर्शकों के मन में भय और करुणा का संचार करना है। यदि हम सज्जन पात्रों को सदैव सुखी और आनन्दपूर्ण बनाते रहेंगे तो हम कभी भी भय और करुणा जाग्रत करने में सफल नहीं होंगे। क्योंकि जब हम यह जानते ही हैं कि पात्रों को चाहे कितने भी कष्ट सहने पड़ें अन्त में अवश्य सुखी और धन-धान्य से पूर्ण होंगे, हमारे मन में न तो भय उत्पन्न होगा और न करुणा, वरन् हमें एक प्रकार का सन्तोष होगा कि अन्त तो आनन्दपूर्ण हुआ चाहे आदि कैसा भी रहा हो। इसीलिए प्राचीन लेखकों ने सांसारिक जीवन के अनुरूप ही अपने पात्रों का चित्रण किया है। उन्होंने सज्जन पात्रों को भी कभी कभी सुखी तो बनाया परन्तु साधारणतः दुःखी ही रहने दिया।

अरस्तू का भी विचार था कि दुःखान्तकी से ही दर्शकों को आनन्द मिलता है क्योंकि भय और करुणा के संचार से उनको आत्मिक आनन्द प्राप्त होता है। सुखान्तकी का प्रभाव क्षणिक और अस्थायी रहता है परन्तु दुःखान्तकी का प्रभाव गहरा पड़ता है और दर्शक जीवन के जटिल प्रश्नों पर विचार करने में निमग्न हो जाते हैं। फलतः अंग्रेजी साहित्य में वे ही नाटक सर्वप्रिय रहे जिनके नायक दुःख और क्लेश सहते प्राण तज देते थे। शेक्सपियर विरचित 'किंग लियर' की प्रियता का यही मूल कारण है।

'सुखान्तकी भी प्रभावपूर्ण हो सकती है परन्तु यह कहना कि

केवल ऐसे ही नाटक श्रेष्ठ हैं भ्रम मूलक है। दुःखान्तकी भी अत्यन्त प्रभावपूर्ण होती है : कदाचित उनमें अधिक श्रेष्ठ कला है।"[1]

सैमुएल जॉनसन—"यूनान के प्राचीन नाट्यकारों के अनुसार केवल तीन ही पात्र एक समय रंग-मंच पर होने चाहिए। इसका कारण यह था कि मूल रूप में दुःखान्तकी 'बैकस' देवता के स्तुति गीत मात्र थे जिसमें केवल एक ही पात्र रहता था। इसके बाद इसने संवाद का रूप लेकर एक पात्र और बढ़ाया और धीरे-धीरे तीसरा पात्र भी शामिल कर लिया गया। परन्तु आधुनिक नाट्यकारों ने इस अस्वाभाविक नियम को तोड़कर अनेक पात्र एक ही समय में प्रस्तुत करने का नियम बनाया।

हारेस ने अंकों की संख्या केवल पाँच ही रखी थी। किन्तु यह संख्या भी अनावश्यक और अस्वाभाविक है। जब तक कार्य-व्यापार की शृंखला न टूटे और कथावस्तु सुगठित रहे कितने भी अंक हो सकते हैं।"[2]

जान ड्राइडेन—"अरस्तू के सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक नाटक में देशकाल तथा कार्य का पूरा ध्यान रखना चाहिए। काल से मतलब उतने समय से है जितने में कार्य मूलरूप में समाप्त हुआ होगा। यदि कोई काय २४ घण्टे अथवा एक ही दिन में समाप्त हुआ तो रङ्गमंच पर भी उसे उतने ही समय में समाप्त होना चाहिए। कभी कभी ऐसा भी होता है कि नाट्यकार ऐसे कार्य को जो २४ घण्टे में पूर्णतः समाप्त होता है, केवल १० ही घण्टे में समाप्त कर देते हैं या २४ घण्टे का कार्य अधिक अंश में तो २ घंटे में समाप्त कर देते हैं और २२ घण्टे तक कार्य का कुछ अंश धीरे-धीरे चलता रहता है। यह नाट्यकार की त्रुटि है।

---

१. जोज़ेफ़ ऐडिसन —'दि स्पेक्टेटर'

२. जॉनसन—'दि रैम्बलर'

प्राचीन आलोचक केवल एक ही स्थान पर अथवा एक ही देश में कार्य के पूर्त्ति की आज्ञा देते हैं। उनका आदेश था कि यदि कोई कार्य किसी स्थान विशेष पर आरम्भ हुआ तो उसकी प्रगति और उसका अन्त भी उसी स्थान पर होना चाहिए। कार्य को विभिन्न स्थानों पर प्रदर्शित करना जीवन का भ्रमपूर्ण परिचय देना है। क्योंकि सम्पूर्ण कार्य जब केवल दिन भर में ही समाप्त हो जाता है तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि पात्र इतने थोड़े ही समय में कई जगह हो आ सकते। यदि कोई दृश्य किसी वाटिका, अथवा किसी सड़क, अथवा किसी कमरे में आरम्भ होता है तो उसी जगह उसका अन्त भी होना चाहिए। रङ्गमंच पर हर दृश्य को सबद्ध रखने के लिए, उस पर ऐसे पात्रों को लाना चाहिए जिनसे उनके पहले के आए हुए पात्रों से कार्य का सम्बन्ध रहा हो। इसी तरह अनेक पात्र एक दूसरे से अन्तिम के दृश्य तक सम्बन्धित रखे जा सकते हैं।

नाटकों में कार्य भी एक ही होना चाहिए। आदि से लेकर अन्त तक केवल एक ही कार्य का सम्पादन होना चाहिए क्योंकि यदि दो कार्यों का सम्पादन होगा तो मुख्य कार्य का आकर्षण कम हो जायगा और इसके साथ-साथ दर्शकों का ध्यान भी बट जायगा। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है कि नाट्यकार कई उप-वस्तु रखे, मगर सब उपवस्तु मुख्य वस्तु के अन्तर्गत ही होनी चाहिए।[1]

"बहुत से नाट्यकारों ने देश, काल, कार्य के प्राचीन सिद्धान्तों के अनुकरण में नाटक-रचना को बहुत क्षति पहुँचाई है। इन नियमों के पालन के कारण उन्होंने नाटकों को थोथा, कल्पनाहीन तथा अरोचक बना दिया है। 'देश' के नियम पालन से वस्तु को बड़ा धक्का पहुँचा है, 'काल' के नियम को मानने से वे कल्पनारहित हो गए हैं और कार्य को सीमित रखने से उनमें अरोचकता आ गई है। न जाने

---

१. जान ड्राइडेन—'ऐन एसे आन ड्रैमैटिक पोयेज़ी'।

कितने सुन्दर दृश्य, काल को केवल २४ घण्टे तक ही सीमित रखने के कारण, नाटको से निकाल फेंके गए, और बहुत से अन्य उपयोगी दृश्य देश की सीमा का उल्लघन कर सकने के कारण, स्थान न पा सके। मान लीजिए कि मुख्य कार्य राजा के शयनागार मे आरम्भ होता है, इसके तात्पर्य यह हुए कि सभी पात्र—निम्न से निम्न कोटि के—वहीं आवें और वही पर कार्य का अन्त भी प्रदर्शित करें। ये नियम नाटक रचना के शत्रु है।[1]

"कार्य की पूर्णता तभी प्रतीत होती है जब मुख्य वस्तु के आधीन सभी छोटी-छोटी वस्तुएं हों। इसमे सन्देह नहीं कि वस्तु की विभिन्नता से रोचकता बढती है मगर इसके लिए यह आवश्यक है कि मुख्य वस्तु के अन्तर्गत ही अधीन वस्तुओं का समन्वय हो।"[2]

कोलरिज—"दुःखान्तकी के अन्तिम प्रभाव में ईश्वर तथा नैतिकता के प्रति हमारी श्रद्धा और भी दृढ होनी चाहिए। हममें ईश्वरीय नियमों के लिए अनुराग तथा उनके विश्वास उत्पन्न होना चाहिए। कवि का कला प्रयोग केवल कलात्मक ही नहीं वरन् शिक्षात्मक भी है।

दुःखान्तकी के अगाढ़ प्रभाव में काव्य की आत्मा निहित है।

दुःखान्तकी लेखक अपने पात्रों को एक आदर्शलोक में उपस्थित कर उनकी आध्यात्मिक तथा मानसिक शक्तियों की महत्ता बतलाता है। परन्तु वह अपने पात्रो में केवल श्रेष्ठ गुणों और अति श्रेष्ठ मानवी लक्षणों को इकट्ठा न कर उनके अवगुणों और दोषों को भी प्रदर्शित करता है। उसका उद्देश्य चरित्र जनित दोषों और अवगुणों का प्रदर्शन है।"

सोमरविल—"शेक्सपियर के सभी नायकों में एक स्वाभाविक एकाङ्गी धारणा तथा एक विचित्र प्रकार का अस्थाई पागलपन प्रतीत

---

१. जान ड्राइडेन—'ऐन एसे आन ड्रैमैटिक पोयेजी'।

२. वही।

होता है जिसके कारण दुःखान्तकी का बीज पड़ता है। इस नायक पर एक ऐसे कार्य का भार रहता है जो वह अनेक गुण रखते हुए भी सम्पूर्ण नहीं कर सकता। केवल इसी घातक अवगुण के कारण वह अपने को सारे संसार का शत्रु बना लेता है।

यद्यपि नायक, नाटक के सम्पूर्ण होने के पहले तक, इसी घातक अवगुण की पट्टी आँखों पर बाँधे रहता है, परन्तु नाटक के अन्तिम अङ्क में उसे अपनी भूल तथा अपने पागलपन का पूर्ण अनुभव हो जाता है।"

स्टॉल—"दुःखान्तकी का नायक अन्य पात्रों की अपेक्षा अधिक शक्तिपूर्ण, अधिक प्रौढ़, अधिक भावुक तथा अधिक महत्वपूर्ण होता है। जो अन्य पात्र उसके विरोधी होते हैं, उसके मुकाबले में उतने महत्वपूर्ण नहीं होते क्योंकि उनमें न तो उतनी प्रौढ़ता होती है और न मानसिक शक्ति।"

हेगेल—"दुःखान्तकी अपने प्रभाव में नैराश्य का प्रसार न कर, जीवन के प्रति श्रद्धा और विश्वास की नींव दृढ़ करती है। मनुष्य तथा जीवन को प्रेम और श्रद्धा की डोर में बाँधना उसका प्रधान कार्य है। कलाकार, जीवन के दोषों, अवगुणों तथा पापों का दमन कर के यह सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर सकता। यह सामञ्जस्य तो श्रेष्ठ गुणों के अन्तर्विरोध द्वारा ही होता है। जब श्रेष्ठ गुणों के दो विरोधी दल द्वन्द्वपूर्ण हो एक दूसरे का विनाश कर देते हैं उसी में दुःखान्तकी की आत्मा विकसित होती है। गुण तथा अवगुण के द्वन्द्व से दुःखान्तकी पूर्ण नहीं होती, वह गुण के अन्तर्द्वन्द्व के ही कारण पूर्ण होती है। इस विचार से 'लियर' आदर्श दुःखान्तकी है और 'मैकबेथ' निम्नकोटि की। जब किसी नायक के गुण अपनी सीमा पार कर अति श्रेष्ठ होने की कोशिश करते हैं तो उन गुणों में भी एक तरह का सीमोल्लङ्घन होता है। इसके कारण वे गुण गुण

नहीं रह जाते और उनके विनाश से ही जीवन में सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है।

श्रेष्ठ दुःखान्तकी का नायक दृढ़--प्रतिज्ञा तथा अपने पर विश्वास रखने वाला होता है। उसके चरित्र मे स्वभावतः कोई न कोई मानवी गुण अपनी परिधि तोड़ कर उसकी आदर्श सीमा का उल्लङ्घन करता है। लियर का स्नेह, हैमलेट की मानवता, ब्रूटस का आदर्शवाद, ओथेलो का प्रेम—सभी अपनी सीमा का उल्लङ्घन करते हैं।"

"दुःखान्तकी के मुख्य पात्र मे कुछ दैवी गुण होने चाहिए; ऐसे गुण जो आदर्श स्थल पर रख सकें।"

शापेंनहायर—"दुःखान्तकी में कला की पराकाष्ठा प्रदर्शित होती है। इसका कारण है उसके लिखने की दुरूहता तथा उसका प्रगाढ प्रभाव। इसके अतिरिक्त उसमें जीवन के भयावह स्थलों का चित्रण रहता है जिससे मानव हृदय पर गहरा प्रभाव बहुत काल के लिए पड़ता है। दुःखान्तकी में इच्छाशक्ति के द्वन्द्व और उसके फल-स्वरूप पराजय की मानवी अनुभूति होती है। इच्छाशक्ति अपने से ही द्वन्द्व छेड़ बैठती है और इस द्वन्द्व का परिचय हमे मनुष्य के त्रास तथा क्लेश में मिलता है। त्रास और क्लेश दोनों, कुछ तो दुर्योग तथा घातक अवगुणों (जिसे हम भाग्य का प्रतीक समझते हैं) द्वारा मिलते हैं और कुछ मानवी दोषों के कारण उपजते हैं। इच्छा-शक्ति के इस विरोध के फलस्वरूप उसका स्वयं विनाश हो जाता है। दुःखान्तकी के द्वन्द्व में हमें जीवन तथा ससार का सम्पूर्ण ज्ञान मिलता है। हमारे दुःख तथा क्लेश हमारे ज्ञान का संशोधन करते हैं; इस संशोधन में हम पर शान्ति सरसती है और हम जीवन के सामने घुटने टेक देते हैं।

इच्छा-शक्ति ही समस्त ससार की नींव है; समस्त संसार उसी से परिचालित है। मनुष्य को आनन्द तभी मिलता है जब अपूर्व रूप से

संशोधित ज्ञान, इच्छा-शक्ति की निरर्थकता प्रमाणित कर दे अथवा कला अपनी शक्ति से उसे ऐसा गौरवपूर्ण बना दे कि हमें उसकी वास्तविकता न दिखलाई दे। दुःखान्तकी की कला ही ऐसी कला है जिसके द्वारा हम ऐसे जगत का अनुभव करते हैं जहाँ जीवन वाँच्छनीय नहीं है। जब बुद्धिमान लोग दुःखान्तकी देखते हैं तो उनके विचार में यह आता है कि जब इतने श्रेष्ठ मनुष्यों का पतन हो गया तो उनकी क्या हस्ती है और वे अपनी इच्छा शक्ति को निष्प्राण कर देते हैं और जीवन को वांछनीय नहीं समझते; इसके विपरीत मूर्ख दुःखान्तकी देखने के बाद जीवन से आकर्षित होकर उससे और भी उलझ जाते हैं।"

"परन्तु यह धारणा केवल क्षणिक रहती है। दुःखान्तक कलाकार इस संसार से परे एक इच्छारहित संसार का निर्माण करता है। दुःखान्तकी से जीवन के प्रति पुनर्मिलाप तथा श्रद्धा की भावना सदैव नहीं जाग्रत होती; यह भावना तो व्यक्ति विशेष के अनुभव पर निर्भर रहती है।

नीतूशे—"जब हम दुःखान्तकी देखते हैं तो स्वभावतः हममें निराशा उत्पन्न होती है, परन्तु हम जीवन के उन स्थलों को भी देखते हैं जिन पर हम विजय पा सकते हैं और इस भावना में हममें आशा तथा शक्ति का सचार होता है। वास्तव में दुःखान्तकी हमें दुःखित न कर, नायक के कुयोगों के संघर्ष द्वारा हमें आनन्द प्रदान करती है। हम अन्त में जीवन की शक्ति का अनुभव अवश्य करते हैं; परन्तु हममें यही भावना स्थाई रहती है कि चाहे जीवन में शक्ति हो, मानव-आत्मा उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली है। अन्त में मानव-आत्मा की ही विजय रहती है, उसकी मर्यादा तथा उसकी आभा सदैव स्थायी रहती है। दुःखान्तकी का ध्येय जीवन की शक्ति तथा सौन्दर्य को प्रस्फुटित कर मानव-आत्मा की मर्यादा की स्थापना है।"

मारिस मेटरलिक - "दुखान्तकी के निर्माण में किसी असाधारण घटना अथवा आदर्श पुरुष का नायक रूप में प्रयोग आवश्यक नहीं। हमारे आत्म जगत में ही दुःखान्तकी का प्रभाव अवगत होता है। इसलिए किसी भी मानवी घटना द्वारा दुःखान्तकी का निर्माण हो सकता है। उसके लिए न तो किसी दुर्धर्ष घटना और न किसी उद्दाम वासना की आवश्यकता है, वरन् हमारे दिन प्रतिदिन के जीवन की घटनाएँ, हमारी परिवर्तनशील भावनाएँ, हमारी मानसिक अवस्थाएँ, हमारी आत्मिक अनुभूतियाँ, बड़ी सरलता से दुखान्तकी का आधार बन सकती हैं। शेक्सपियर के नायकों—लियर, हैमलेट मेकबेथ तथा ओथेलो के पतन पर हम वाह्यरूप से प्रभावित होते हैं परन्तु उन साधारण मनुष्यों के पतन से, जो हमारे ही वर्ग के हैं, हम आन्तरिक रूप से प्रभावित होंगे। इस प्रकार से निर्मित दुःखान्तकी में सर्वव्यापकता होगी; वह हमारे हृदय के बहुत ही निकट होगी। दुःखान्तकी का उद्देश्य हमारे प्रतिदिन के जीवन-कार्यों में व्यापक आत्मा का विश्लेषण कर मनुष्य की आध्यात्मिकता तथा उसके भाग्य का गौरवपूर्ण निरुपण है।"

बर्गसाँ—"हमारा जीवन हमारी स्मरण शक्ति द्वारा परिचालित है। स्मरण शक्ति हमारी भावनाओं का सचय करती रहती है जिसके द्वारा हमारा समस्त जीवन प्रतिबन्धित रहता है। पात्रों में अनेक स्त्री पुरुषों की स्मृति संचित रहती है और वे किसी भी पात्र के साथ अपनी काल्पनिक सहानुभूति प्रकट कर सकते हैं। इस सहानुभूति के फलस्वरूप हमारी भावनाओं तथा हमारे विचारों का परिमार्जन होता है। यह परिमार्जन हमें गौरवपूर्ण तथा उन्नत बनाता है।

श्रेष्ठ दुखान्तकी की रचना तभी हो सकती है जब समाज सभ्यता ग्रहण कर लेता है। जब तक समाज ऐसी सभ्यता की चोटी तक नहीं पहुँचता, जिससे उसमें मानव स्मृतियाँ प्रचुर रूप में संचित हो जाय, तब तक श्रेष्ठ दुःखान्तकी का जन्म नहीं हो सकता।

दुःखान्तकी देखने के पश्चात् हममें बड़प्पन की भावना जाग्रत होती है और श्रेष्ठ ज्ञान का अहंकार उपजता है। इसके साथ-साथ संभवतः हममें अपने समान साथियों को दुःखपूर्ण देखकर अपनी श्रेष्ठता तथा अभिमान का अनुभव होने लगता है; किन्तु यह भावना क्षणिक होती है। सम्पूर्ण दुःखान्तकी की विचारधारा में मृत्यु का ताण्डव दिखलाई पड़ता है। मृत्यु ही एक ऐसी घटना है जो जीवन को गौरवान्वित करती है, यह एक ऐसी वास्तविकता है जिसके कारण हम जीवन तथा उसके अजर प्रेम में और भी लीन हो जाते हैं। जीवन तथा मृत्यु के प्रेम के फलस्वरूप ही दुःखान्तकी का जन्म होता है।"

३

तृतीय खण्ड

सुखान्तकी

१

रोमीय सुखान्तकी

रोमीय सुखान्तकी रोम के सामाजिक, पारिवारिक तथा राजनीतिक जीवन और उसके वातावरण की पूर्ण परिचायक है। जिन-जिन भित्तियों पर रोमीय समाज आधारित था, जिन-जिन नियमों की रोमीय परिवार रक्षा करता था, जिस राजनीतिक जीवन के वे समर्थक थे उसका सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब रोमीय सुखान्तकी में हमें मिलता है।

रोम के निवासियों ने यद्यपि यूनान पर विजय अपने सैनिक शक्ति द्वारा पाई थी परन्तु वे लोग वास्तव में यूनान की मानसिक प्रभुता से दबे हुए थे। यूनानियों की विचार शैली भी बहुत कुछ अंश में उन्होंने अपना ली थी परन्तु साम्राज्य का प्रेम और उसकी रक्षा उनके जीवन का मुख्य ध्येय था। साम्राज्य-रक्षा के लिए कुछ ऐसे नियमो तथा कुछ ऐसे आदर्शों का प्रतिपालन आवश्यक था जो रोम के युवा समाज में ऐसी शक्ति का सचार करते जिससे साम्राज्य नित्य प्रति सुदृढ़ होता जाता और उसकी नींव हिलाए न हिलती। रोम देश के युवाओ पर ही इसकी ज़िम्मेदारी थी; उन्हीं को ही भविष्य मे साम्राज्य रक्षक का कार्य करना था। इसलिए युवाओ को एक विशेष प्रकार की शिक्षा तथा दीक्षा की आवश्यकता थी। उन्हें रोम देश का एक एक सफल नागरिक बन कर, अपने आदर्शों को भली-भाँति समझ कर उसी पर भरसक चलने का प्रयत्न करना था। उनके इस प्रयत्न में सहयोग देने का कार्य साहित्य ने भी किया।

साम्राज्य-रक्षा के हेतु आचरण-सम्बन्धी शिक्षा उन्हे सबसे पहले मिलनी चाहिए थी और उसमें उन गुणों का समावेश होना चाहिए था जो उनको उच्च श्रेणी का नागरिक बना कर साम्राज्य-पताका

फहराने में कुशल बना देते। इस शिक्षा-प्रणाली में जो कुछ भी अड़चनें आतीं शिक्षक वर्ग उनको दूर कर अपनी शिक्षा-प्रणाली को ग्राह्य बनाने का पूरा प्रयत्न करते थे। इसी कारण से, कदाचित् रोम देश ने न तो कोइ विशेष धार्मिकता फैलाई और न कोई इस जगत् से परे दूसरे आध्यात्मिक जगत का स्वप्न देखा। उनकी दृष्टि की परिधि में ईश्वर और उसका साम्राज्य न आता था। उन्हें नैतिक नियमों, आध्यात्मिक विचारों, स्वर्गीय अनुभूतियों से कोई सरोकार न था। उनका सरोकार था सफल नागरिकता, सफल राजनीति तथा सफल समाज से। उनकी संस्थाओं, उनकी रूढ़ियों, उनके समाज की नींव जिससे मजबूत हो उन्हे तो उसी को अपनाना था।

इस सामाजिक उपयोगिता को सामने रखते हुए रोम के साहित्य-कारों ने आध्यात्मिक भावों को हटाकर उसके स्थान पर केवल व्यव-हारिक नियमों की एक सूची बना ली। धर्माचरण, पुण्यकार्य, नैति-कता ने केवल कुछ दैनिक रहन-सहन तथा आचरण के नियमों का रूप ले लिया। उसमें न तो धर्म की आत्मा थी और न नैतिकता की शुभ्रात्मा। 'बैकाइड्स' नामक नाटक में नाट्यकारों के लिए कुछ नियम बतलाए गए हैं जिनमें पहला है—'युवाओं की त्रुटियों और उन्मत्त भावों का अत्यधिक निराकरण न करो, वे कुछ दिनों बाद अपने आप ठीक हो जॉयगी'। दूसरा नियम है—'अपराधी को, अधिक निन्दित न करो उन्हें थोड़ा बहुत मौका दोषपूर्ण जीवन से सीखने का अवश्य दो।' इस दृष्टि से रोमीय समाज के लिए बुराई अथवा पाप आत्मा से सम्बन्ध रखने वाली कोई वस्तु न थी। वह केवल उन्हीं नियमों का उल्लंघन था जिससे समाज की मज़बूती को धक्का लगा सकता था। इसी कारण रोम की सुखान्तकीयों में वेश्याएँ तथा उनके दरबारी, मुफ्तखोर, आलसी, पाखण्डी, घमण्डी, ढोंगी, शेखी वाले, अपनी बात ओटने वाले—पात्रों की भरमार रहती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे नायक नायिका के रूप में हमारे

सामने आते है। वे केवल सहायक के रूप मे प्रयुक्त होते हैं। समाज साधना मे वे केवल सहकारी है; साधक तो वृद्ध तथा अनुभवी पुरुष हैं जो रंगमंच पर उपदेश देते रहते हैं।

इसके अतिरिक्त रोमीय नाटकों मे युवा पात्रों तथा पात्रियों में लालसा की भावना अधिक देखने में आती है। नायक की मुख्य प्रवृत्ति लोलुपता की ही ओर रहती है; क्योंकि युवा को सब तरह का सामाजिक ज्ञान तथा जीवन का वास्तविक अनुभव होना चाहिए। यदि कोई युवा पात्र लोलुपता के चक्कर में दुष्कर्म अथवा पाप कर बैठता है तो उसकी भर्त्सना नहीं होती और न उस पर कोई लाञ्छन ही लगता है। वह निष्कलंक अपने समाज मे लौट आता है। रोमीय समाज का तो विश्वास था ही कि दुनिया के सभी अनुभवों अच्छे अथवा बुरे का पूर्ण ज्ञान युवाओं को होना चाहिए और इसी नियम के निर्वाह के लिए उनके पात्र हर तरह के कामुक कार्य करने पर तत्पर रहते हैं। शरीर, समाज, साम्राज्य तीनों की रक्षा आवश्यक ही ही नहीं वरन् अनिवार्य थी। शरीर की तृप्ति मे ही सम्पूर्ण आनन्द था; समाज की रूढ़ि ही महत्वपूर्ण थी और साम्राज्यादर्श ही सब से उत्तम धर्म था। कुछ नाटकों में तो युवा को यहाँ तक ढील दी गई है कि पिता स्वयं जाकर पुत्र के लिए उपपत्नी खरीद लाकर उसका पैतृक-प्रेम पाने की चेष्टा करता है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि रोमीय समाज अनैतिक था, इसका अभिप्राय यही है कि उनको नैतिकता आधुनिक काल की नैतिकता से अलग थी और इस प्रकार के दृश्य केवल शिक्षाप्रदान के अभिप्राय से ही नाटकों में सकलित किए जाते थे।

रोम देश के सामाजिक वातावरण की उपरोक्त समीक्षा के पश्चात् अब हम भली-भाँति समझ लेंगे कि रोम के नाट्यकारों मे नाटकों के कौन-कौन से विशेष तत्व थे। पहला था कथावस्तु का चुनाव।

२

शेक्सपियर की सुखान्तक शैली

वातावरण—रोमीय नाट्यकारों की शैली, इंगलिस्तान के लेखकों ने पूर्णतः कभी नहीं अपनाई और न अंग्रेजी रंगमंच पर वे बहुत दिन तक रुचिकर हुए। इसका कारण यह था कि रोमीय 'नाटकों की आत्मा इंगलिस्तान की आत्मा के प्रतिकूल ही नही वरन् प्रतिद्वन्दी थी। अंग्रेजी लेखकों और अंग्रेजी जनता को कुछ दिनों तक तो वे ग्राह्य रहे मगर बहुत दिनों के लिए उनके मन में वे कोई स्थायी जगह न बना सके। यद्यपि अंग्रेजी कलाकारों ने उनका अनुकरण कर कई एक नाटक लिखे मगर स्थायी रूप से वे लोकप्रिय न हो पाए।

इसके साथ मध्य-युग के आगमन ने साहित्य को अनेक प्रकार के विषय प्रदान कर अंग्रेजी लेखकों का मानसिक विस्तार इतना बढ़ाया कि रोम के नाटक बहुत पीछे रह गए। मध्ययुग ने अपनी नवीन सामग्री के आकर्षण द्वारा रोमीय नाटकों की रोचकता बहुत कुछ कम कर दी। यह सामग्री इतनी मौलिक तथा अनुपम थी कि उसके अपनाने के बाद रोम का नाटकीय साहित्य बहुत लोग कुछ भूल से गए। साहित्य को अब एक ऐसे कलाकार की आवश्यकता थी जो इस युग की सामग्री का उपयुक्त प्रयोग करता।

मध्ययुग का दूसरा नाम है वीर-गाथा-युग। इस युग ने वीरपरम्परा चला कर जीवन के नए नए आदर्श प्रस्तुत किए। सामाजिक दृष्टि से मध्ययुग सामन्तवादी था और सामन्तवाद ने ऊपर से नीचे तक पदवियों की अटूट शृङ्खला बनाकर हर एक को दूसरे से जकड़ दिया था। इससे दरबारी जीवन को बहुत अधिक प्रोत्साहन मिला और आचार विचार तथा दैनिक आचरण सम्बन्धी एक नवीन कोष का निर्माण होने लगा। परन्तु वास्तव में सामन्तवाद ने जो शृखला

सामाजिक रूप में बना दी थी वह बहुत ही कमजोर थी। इस कमजोरी को हटा कर उसको शक्ति प्रदान करने का काम उन विचारों तथा भावनाओं ने किया जो आगे चल कर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुईं। इन भावनाओं में सब से महत्त्वपूर्ण और सब से उपयोगी भावना थी—राज्य—भक्ति तथा स्वामि-भक्ति। वास्तव मे इसी भावना ने सामन्तयुग की क्रमबद्ध पदवियो की शृङ्खला को मजबूत बनाया था। यही भावना सामन्तयुग-शरीर की प्राण-स्वरूप थी।

इस भावना के फल-स्वरूप अन्य चार भावनाओं का जन्म हुआ। स्वामि-भक्ति की भावना की नींव है—प्रेम। बिना प्रेम के स्वामिभक्ति अथवा राज्यभक्ति-भावना खोखली और निष्प्राण रहती है। प्रेम ही की सहायता से उसी के आग्रह और अनुष्ठान से स्वामिभक्ति सक्रिय होती है। प्रेमहीन स्वामिभक्ति अथवा राज्य-भक्ति केवल निरर्थक शब्द मात्र हैं। प्रेम ने सामन्तयुग में अपना रंग इतना गहरा किया कि जीवन के सभी स्थल रंजित हो उठे। राजनीति के क्षेत्र में प्रेम ने राजा तथा प्रजा, सामन्त तथा उप-सामन्त, उपसामन्त तथा अन्य पदवीधारी सबको एक डोर में बाँध कर स्वामि-भक्ति अथवा राज्य—भक्ति की मर्यादा स्थापित की।

सामाजिक क्षेत्र में प्रेम ही के फल-स्वरूप निस्वार्थ जीवन की श्रेष्ठता घोषित हुई। प्रेम की प्रतिष्ठा तथा उसका मूल्य तभी तक रहता है जब तक प्रेम निस्वार्थ रहता है और अगर नहीं तो प्रेम केवल शब्द मात्र रह जाता है। इस साधारण तत्व को समझ कर मध्ययुग ने निस्वार्थ जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया। इस निस्वार्थ जीवन का आधार था बलिदान। इन्हीं राजनीतिक तथा सामाजिक आदर्शों की छाया पारिवारिक तथा घरेलू जीवन पर सम्पूर्ण रूप से पड़ी। पारिवारिक जीवन ने भी प्रेम को मूलाधार, बलिदान को श्रेष्ठ आदर्श तथा स्वामिभक्ति, पति-भक्ति और पितृभक्ति को महत्वपूर्ण मान कर अपना नवीन साम्राज्य स्थापित किया। आदर्श व्यक्ति वही था जो

अपने को राष्ट्र-हित, धर्म-हित, समाज-हित, परिवार-हित अथवा स्वामि-हित और प्रेम-हित, बलिदान कर दे ।

प्रेम को जीवनाधार मानने के अर्थ यह हुए कि वीर-गाथा-काल तथा सामान्तयुग ने स्त्री जाति की अपूर्व महत्ता प्रमाणित की । नारी प्रेम की प्रतीक है । इस आदर्श को मध्ययुग ने पूर्ण रूप से समझा था । नारी का प्रेम उनके लिए एक आध्यात्मिक अनुभव था जिसमें दैवी आनन्द और स्वर्गीय शान्ति थी । यह प्रेम पार्थिव जगत से परे उस देश का प्रेम था जिसमें नारी दैवी गुणों से आभूषित होकर प्रकट होती है । लालसा और लोलुपता उसे छू नहीं पाती, संसार उसे सीमित नहीं कर पाता । नारी को प्रेम मन्दिर का आराध्य बना कर, आराधक ने उसकी पूज करने की प्रणाली भी खोज निकाली । यह प्रणाली थी आराधना की, तन्मयता की तथा बलिदान की । वीर जब नारी की आराधना करता तो एक विशेष प्रकार की शब्दावली, एक विशेष प्रकार का शिष्टाचार तथा एक विशेष प्रकार के विनय का प्रयोग करता था । अपनी भाषा, अपने भाव तथा आचार विचार से वह नारी को विश्वास दिला देता था कि उसका प्रेम निस्वार्थ है और वह अपनी आराध्यदेवी का अनन्यभक्त है । वीर गाथा-काल का यह आदेश था कि नारी की आराधना करो, और यदि वह तुम्हारी आराधना से मुँह मोड़ लेती है तो भी तुम्हारी ही सफलता है क्यों इस अनुभव द्वारा तुममें मानवता और शील का संचार होगा ।

अंग्रेज़ी नाट्यकार शेक्सपियर के सम्मुख केवल दो साहित्यिक रास्ते थे । या तो वे रोमीय नाटककारों की शैली अपना कर कथावस्तु में हेर फेर कर नाटक लिखते अथवा वे मध्ययुग की इस अनुपम सामग्री को इकट्ठा कर एक नवीन नाटक शैली का निर्माण करते । शेक्सपियर ने अपने विस्तृत अनुभव द्वारा यह जान लिया था कि रोमीय प्रणाली पर लिखे हुए नाटकों की एलिजाबेथ के युग में खपत

न हो सकेगी। वे जनता की रुचि से धीरे-धीरे परिचित हो रहे थे। वे युग की आत्मा को भी ठीक समझ रहे थे; एलिजाबेथ के समय के स्वर्णयुग की प्रवृत्ति वे भली भाँति पहचान चुके थे। उस युग के इतिहास में इंगलिस्तान का स्थान बहुत ऊँचा था। राजनीति क्षेत्र में हर ओर रानी एलिजाबेथ के विजय के डंके बज रहे थे। उनके सबसे बड़े शत्रु, स्पेन के राजा फ़िलिप की जल सेना के विध्वंस के पश्चात् अन्य कोई शत्रु न रह गया था। फ़िलिप की दाढ़ी झुलसा दी गई थी। इधर अंग्रेजी जल सेना नए-नए जल मार्गों का अनुसन्धान कर संसार यात्रा सुरक्षित करने का यत्न कर रही थी। सेना नायक ड्रेक तथा राले की पूजा हो रही थी। देश के वीर अपनी सम्राज्ञी की सेवा में अपने को बलिदान कर देने के लिए प्रस्तुत थे। राष्ट्र पर उन्हें गर्व था। सामाजिक क्षेत्र में भी हर ओर भ्रातृ-भाव सहानुभूति तथा एकता के दृश्य देख पड़ते थे। सम्राज्ञी ने देश के सामाजिक हृदय पर पूर्ण विजय पा ली थी। उनकी इच्छा ही समाज की इच्छा थी। धार्मिक क्षेत्र में भी इंगलिस्तान ने, अपने को ईसाई धर्म के अधिष्ठाता पोप के शासन से मुक्त कर, सम्पूर्ण धार्मिक स्वत्व सम्राज्ञी के हाथों में सौंप दिए थे। इस तरह राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में इंगलिस्तान सफल, सुखी और सन्तुष्ट था।

इस स्वतन्त्र वातावरण के लिए रोम की नाटक प्रणाली उपयोगी न थी। अंग्रेज़ी जीवन के नवीन उत्साह, नवीन मानवता, नवीन अनुभव तथा नूतन उत्कर्ष के लिए कदाचित् मध्ययुग की पृष्ठभूमि तथा उस समय की रोचक तथा मानवी-आदर्शों से परिपूर्ण सामग्री ही रुचिकर होती। इस सत्य को शेक्सपियर ने भली भाँति समझ लिया था।

इस साहित्यक अनुभव का तात्पर्य यह नहीं कि शेक्सपियर ने सुखान्तकी लिखने के नए सिद्धान्त अथवा नियम बनाकर नाटक लिखना शुरू किया। शेक्सपियर ने न तो कोई नाटकीय सिद्धान्त

स्थापित किए और न कोई नियमों की सूची बनाई। अपनी नवीन सूझ, अपने विस्तृत अनुभव तथा अपनी बौद्धिक-शक्ति द्वारा उन्होंने एक ऐसे सुखान्तक—जगत का निर्माण किया जो मध्ययुग की पृष्ठ-भूमि तथा उसके अवयवों द्वारा बना था। अपनी कल्पना द्वारा उन्होंने जो कथावस्तु चुना, जो पात्र निर्मित किए, जो वातावरण सजाया उसमें दैवी रूप से वास्तविक सुखान्तकी की प्राण-प्रतिष्ठा होती गई। उनका सुखान्तक जगत कल्पना तथा यथार्थ के अनुपम सामञ्जस्य द्वारा आविर्भूत है।

साहित्यिक रूप में शेक्सपियर की सुखान्तकी एक ऐसी नाटक प्रणाली है जिसके अनुसार चुने हुए कथावस्तु के अन्त में आनन्द, सुख और सन्तोष का प्रतिपादन रहता है। उस कहानी अथवा कथा-वस्तु के अन्तिम चरण में हर्ष तथा सन्तोष दोनों ही मिलते हैं। इस नियम को मान लेने के पश्चात् यह डर रहता है कि यदि अन्तिम चरण में हर्ष तथा सन्तोष निश्चित है तो पात्र और पात्रियाँ जो नाटककार निर्मित करता है वे उसके हाथ की कठपुतली के समान होंगी क्योंकि बिना इसके अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी। यदि पात्र नाटककार के उद्देश्य से स्वतन्त्र रह कर क्रीड़ा करते तो यह सम्भव था कि अन्त में सुख और शान्ति न मिलती। फिर, इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए कथावस्तु का भी निर्माण होना चाहिए था क्योंकि यदि कथावस्तु जीवन के किसी अंग को लेकर ज्यों कि त्यों रख दी जाती तो सम्भव था कि अन्त में सुख मिलता ही नहीं। इन दोनों कठिनाइयों पर शेक्सपियर ने अभूतपूर्व रूप से विजय पाई।

इस विजय में उनकी कल्पना तथा यथार्थ-ज्ञान का विशेष हाथ था। उनके यथार्थ ज्ञान ने उन्हें जीवन की विषमता, उसकी कटुता तथा उसकी अव्यवस्था का परिचय दिया था; उनकी कल्पना ने उन्हे उस जगत का दर्शन कराया था जहाँ प्रेम, श्रद्धा तथा सहानुभूति द्वारा सुख तथा शान्ति का साम्राज्य प्रसारित था। प्रश्न यह था कि

इन दोनों अनुभवों में सामञ्जस्य किस तरह स्थापित किया जाय। यह तो केवल वही कलाकार कर सकता था जिसकी हथेली पर दोनों जगत का सम्पूर्ण सार स्थित हो और जो दोनों जगत की सत्यता पर विश्वास करता हो। शेक्सपियर ऐसे ही कलाकार थे। उन्होंने यथार्थ की नींव पर कल्पना का संसार बसाना शुरू किया। अपनी सूक्ष्म दृष्टि से, उन्होंने मानव जीवन को अस्तव्यस्त तथा कटु बनाने वाले कार्यों, विचारों तथा भावों को कल्पना जगत के उन रास्तों पर चलाया, जिस पर चल कर अव्यवस्था, सुव्यवस्था में परिणत हुई तथा कटुता सहानुभूति और दया से रञ्जित होती चली गई और अन्त में वह प्रेम, करुणा और शन्ति के रूप में प्रस्फुटित हुई।

नाटकों में कल्पना का बाहुल्य होते हुए भी शेक्सपियर की सुखान्तक कला में यथार्थ का बहुत बड़ा स्थान है। उनका सुखान्तक जगत, हमारा दिन प्रति दिन का लौकिक जगत है, जिसमें हम हिलमिल कर अपनी पारिवारिक तथा सामाजिक क्रीड़ाएँ करते हैं। इस लोक के जीवन की ही दिनचर्या उनकी पृष्ठभूमि है; इसी जीवन के प्रश्नों का हल हम उनमें पाते हैं। वर्त्तमान ही उनका रंग-स्थल है। नायक और नायिकाएँ वर्त्तमान को ही सत्य मान कर अपनी कुशल मानवता, अद्भुत सहानुभूति तथा प्रेम द्वारा, लौकिक कठिनाइयों पर विजय पाते हैं और कटुता को मृदुता में तथा वैषम्य को सुव्यवस्था में परिणत करते रहते हैं। उनके चरित्र में, उनके आचरण में, उनकी विचार शैली में उन यथार्थ तथा स्वाभाविक गुणों का समावेश रहता है जिसके द्वारा वह अपनी जीवन-यात्रा, संसार में सफलतापूर्वक पूरी करते हैं।

इन पात्रों को निर्मित करने में कलाकार को काफ़ी परिश्रम करना पड़ा। धीरे-धीरे व्यवहारज्ञान तथा सांसारिक अनुभवों ने उनकी कला का संशोधन किया। नवीन अनुभूतियों ने उन्हें मनाव-चरित्र की गहराइयों तक पहुँचाया और ज्यों-ज्यों वे वयस में बढ़ते गए

त्यों-त्यों उनका नाटककला-ज्ञान तथा मानव-हृदय-ज्ञान श्रेष्ठतर होता गया। अन्त में उनका ज्ञान तथा उनकी कला उस स्तर को पहुँची जिसे अब तक कोई अन्य कलाकार नहीं छू पाया है।

शेक्सपियर के सभी सुखान्तकी रोमांचक हैं। रोमाचक पहला तात्पर्य तो यह है कि उनके सुखान्तकी रोम की सुखान्तक-नाटक-प्रणाली के विपरीत हैं। पृष्ठ-भूमि, कथावस्तु, वस्तु विन्यास, पात्र-चयन; भावोद्रेक तथा वातावरण में वे बिलकुल भिन्न हैं। रोम के सुखान्तकी-जगत की पृष्ठ-भूमि थी रोम और उसकी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था। शेक्सपियर ने यह आधार बदल कर उसके स्थान पर एलिज़बेथ के अँग्रेजी समाज और उसके नवीन आचार विचार की नींव पर अपना नाटकीय ढाँचा स्थिर किया। जो कथा-वस्त रोमनों ने अपनाई थी उसके विपरीत शेक्सपियर षड्यन्त्रपूर्ण घटना-प्रधान कथावस्तु न चुन कर ऐसे कथावस्तु का निर्माण किया जिसमें पात्र प्रधान थे। अपनी पहली रचनाओं में यद्यपि उन्होंने घटना-प्रधान कथा-वस्तु अनुकरण रूप में चुना तिस पर भी उसमें कुछ ऐसे नवीन पात्रा को रखा है जो वहाँ परदेशी के समान जान पड़ते हैं। वस्तु-विन्यास में शेक्सपियर ने बहुत मौलिकता से काम लिया है। उनमें न तो षड्यन्त्र द्वारा और न समाज-साधना द्वारा ही नाटकीय ध्येय की पूर्ति होती है। स्वाभाविक आचार विचार तथा कल्पनात्मक विश्लेषण द्वारा ही नाटक-कार अपने उद्देश्य की पूर्ति करता है। शेक्सपियर का पात्र-चयन भी अत्यन्त सराहनीय है। उनके पात्र रोमीय नाट्यकारों के पात्रो के समान अपने कलाकारों के हाथ की कठपुतली नहीं हैं; उनका एक अलग जगत है; उनका एक अलग अस्तित्व है। वे कलाकार के शासन से विमुक्त होकर अपनी स्वतन्त क्रीडाएँ करते हैं। जिस प्रकार अन्डे से फूटने के पश्चात् छोटे पक्षीवृन्द मनमाने रूप में अलग जीवन बिताने लगने हे उसी प्रकार नाट्यकार की कल्पना तथा यथार्थ की समुचित प्राण-प्रतिष्ठा पाकर

अपना वे अलग संसार बसाते हैं। यदि उन पर किसी का शासन है तो वह है उनके स्वभाव का तथा उनके व्यक्तित्व का।

इन कलामय पात्रों द्वारा जो भावोद्रेक नाटकों में प्रस्फुटित है उसमें न तो अश्लीलता है, न पाशविकता है और न अनैतिकता है। शेक्सपियर के नाटकों में भावोद्रेक का स्रोत है—विशाल तथा शालीन मानव-हृदय, जो इस पार्थिव जगत की जड़ता से दूर, उसकी दुःशीलता से परे एक दैवी गुणों से पूर्ण, मानवता से सिक्त आध्यात्मिक जगत है। जिन-जिन भावों का प्रसार वहाँ होता है वे हैं सहानुभूति, करुणा, तथा प्रेम। इन्हीं भावों के आधार स्वरूप उनका वातावरण भी है। इस वातावरण में प्रधान तत्व है सुख और शान्ति; हास्य और हर्ष। यद्यपि नाटक के पहले अंकों में कठिनाई, दुःख, विपद तथा भय के बादल मडराते हैं, परन्तु यह कुछ ही देर के लिए होता है। धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों वस्तु-विन्यास की प्रगति होती जाती है, ये बादल एक बार जोर से कड़क कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और उसके पश्चात् सुख-सूर्य का उदय होता है जिसकी शुभ्र रश्मियों द्वारा सुख और हर्ष का मृदुल प्रसार होने लगता है। कहाँ रोमीय-नाटकों का पार्थिव, हिंसक तथा लोलुप वातावरण, कहाँ शेक्सपियर के नाटकों का आध्यात्मिक, स्नेहसिक्त, मानवता पूर्ण वातावरण? दोनों में महान अन्तर है।

३

शेक्सपियर के सुखान्तकी

पृष्ठ-भूमि

शेक्सपियर के सुखान्तकी का पहला महत्व-पूर्ण गुण है उनकी पृष्ठ-भूमि। उनके सभी सुखान्तकी अपनी पृष्ठ-भूमि के लिए नए, सुन्दर तथा आकर्षक स्थान चुनते हैं। कहीं वे मध्य-युग के स्वर्ण-विहान की सुन्दर भूमि इटली के नगर वेरोना, मिलान तथा

मैन्टुआ (टूजेन्टिलमेन आव वेरोना), कहीं मध्य-यूरोप के सम्पन्न तथा सुन्दर नगर विएना (मेज़र फ़ार मेजर); कहीं सुदूर दक्षिण इटली के समुद्र तट पर बसे हुए मेसिना (मच एडू एबाउट नथिंग) कहीं सम्पन्न नेवारे (लव्ज़ लेबर लास्ट) कहीं अनुपम सामुद्रिक दृश्यों का स्थल विनिस (द मर्चेन्ट आव विनिस) कहीं आर्डेन के विजन वन (ऐज यू लाइक इट); कहीं प्राचीन इल्लिरिया का समुद्र तट (टवेल्फथ नाइट); कहीं अपरिचित टापू का समुद्र तट (द टेम्पेस्ट); कहीं वैभव पूर्ण फ्लारेन्स की भूमि (आल इज़ वेल दैट एन्ड्स वेल), चुनते हैं। यह पृष्ठ-भूमि भौगोलिक रूप में तो फ्रांस, इटली तथा उनके पास के समुद्र तट पर स्थित हैं परन्तु वास्तव में उनमें इंगलिस्तान का वैभव, उसका समकालीन ऐश्वर्य तथा उसका प्राण प्रतिष्ठित है।

इसके साथ-साथ जो कथावस्तु नाटककार द्वारा चुनी गई वह प्रायः इटली तथा फ्रांस की प्राचीन तथा ऐतिहासिक गाथाओं से चुनी गई थी। इन प्राचीन गाथाओं में मध्य-युग के राजनीतिक, सामाजिक तथा पारिवारिक आदर्शों की झाँकी मिलती है। वैलेन-टाइन की वीरता, दृढ़ता, सहानुभूति तथा मैत्री और प्रोटियस के प्रति जूलिया का अनन्य प्रेम तथा उसकी विजय (टू जेन्टिलमेन आव वेरोना); आइजाबेला का अप्रतिम सौन्दर्य तथा उसकी नैतिक शालीनता और मेरियाना का अटूट प्रेम (मेजर फ़ार मेजर); हीरो की निष्कपटता तथा उसका स्नेह; बिएट्रिस की हास्य प्रियता और निष्ठा (मच एडू एबाउट नथिंग); फ्रांस की राजकुमारी का अनुपम सौन्दर्य तथा राज्य पदाधिकारियों का अस्वाभाविक हठ, तत्पश्चात् प्रेम की अपूर्व विजय (लव्ज लेबर लास्ट); पोर्शिया का शारीरिक तथा मानसिक सौन्दर्य, और पितृ भक्ति, एन्टोनियो तथा बेसानियो की सफल मैत्री तथा प्रेम की विजय (द मर्चेन्ट आव विनिस); राज़लिन्ड का अनुपम सौन्दर्य सहनशीलता तथा प्रेमनिष्ठा; सीलिया

की कर्त्तव्य-परायणता; आरलैण्डो की वीरता तथा धैर्य; ऐडम की अपूर्व स्वामि-भक्ति (ऐज़ यू लाइक इट) वायला का अविरल स्नेह तथा स्वामिभक्ति, ओलीवीया की भ्रातृ भक्ति तथा प्रेम; सर टोबी बेल्च तथा ऐण्ड्रू एग्यूचीक की रगरलियाँ (टवेल्फ़्थ नाइट); हेलेना की पतिभक्ति, उसकी निष्ठा तथा उसकी विजय (आल इज वेल दैट एण्ड्स वेल); सभी ऐसे स्थल हैं जहाँ मध्ययुग के आँदर्श प्रसारित हैं। इन नाटकों के नायक तथा नायिकाएँ वास्तव में इंगलिस्तान के समकालीन समाज के प्रतिबिम्ब हैं; उन पर अंग्रेज़ी आचार विचार की पूरी छाप है।

इन नाटको के वस्तु विन्यास में भी मध्य-कालीन-युग का बहुत बड़ा हाथ है। उस समय के शासन-प्रणाली-आदर्श, राज्यादर्श, सामन्तादर्श, समाजादर्श सभी के समुचित प्रदर्शन में वस्तु-विन्यास की पूर्ति होती चलती है। कथावस्तु को आधार स्वरूप मान कर, कलाकार विचारों तथा भावो के उत्कर्ष तथा अपकर्ष द्वारा अपने सुखान्तकी की आत्मा का सृजन करता चलता है। राज्यभक्ति की मर्यादा, स्वामि भक्ति की पराकाष्ठा, पति-भक्ति की अजेय शक्ति, नैतिक जीवन की श्रेष्ठता, सामाजिक जीवन की सार्थक सहानुभूति के सहारे वस्तु की सजावट होती रहती है। इस वस्तु-विन्यास में नाटककार ने कल्पना तथा यथार्थ के अभूतपूर्व सामञ्जस्य का दर्शन कराया है। प्रायः सभी सुखान्तकी के पहले अंको में विषाद, भय, अमगल तथा विपत्ति की छाया प्रस्तुत हैं। यह है जीवन का यथार्थ। इसकी वास्तविक अनुभूति यथार्थ जीवन को भलीभाँति समझ कर उसके तथ्य को निचोड़ लेने में है। नाट्यकार में यह अनुभूति पूर्णरूप से है। इसी अनुभूति को कल्पना अपनी मृदुलता, सुकुमारिता, सहृदयता, तथा मानवता की कूँची द्वारा रञ्जित करती रहती है जिसके बाद हमें जीवन सुखकर, हर्ष-पूर्ण तथा शान्तिमय प्रतीत होने लगता है। वस्तु विन्यास की सब से सरल तथा फलप्रद विधि है—

भावोद्रेक जिसके द्वारा नाटक की सफलता प्रमाणित होती है।

जिन भावों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष द्वारा कलाकार अपने ध्येय को पूरा करता रहता है उनमें मुख्य हैं—प्रेम की सरल निष्ठा; भक्ति की अबध गति; मानवता की अटूट डोर तथा क्षमा और शान्ति का अपूर्व विस्तार। इन भावनाओं के कुछ शत्रु समय-समय पर आ-आ कर इनकी हँसी उड़ाने का प्रयत्न करते हैं; अपनी सत्ता प्रमाणित करने की कोशिश करते हैं मगर उन्हें सफलता नहीं मिलती। द्वेष तथा छल, क्रूरता तथा कटुता, स्वार्थ तथा प्रतिशोध, लोलुपता तथा लम्पटता सभी मैदान में ताल ठोकते उतरते हैं मगर जीवन के स्वर्णिम नियमों के आगे वे मुँह की खाते हैं और प्रेम, करुणा तथा क्षमा अन्त में अपनी विजय पताका फहराते रहते हैं। इन्हीं तीन तत्वों का वातावरण बनाने में भी विशेष हाथ है।

नाटकीय रूप मे इन नाटकों का वातावरण इंगलिस्तान का चौदहवीं तथा पन्द्रहवीं शताब्दी का वातावरण है। यही वातावरण बहुत कुछ मध्ययुग का भी था। इस वातावरण में भावना तथा कल्पना का पूर्ण विस्तार है। अद्भुत कर्म, दुष्कर कार्य, उत्साहपूर्ण तथा साहसी जीवन; स्वामिभक्ति, पितृ-भक्ति, प्रेमाराधना, श्रद्धोन्मत्त जीवन, परी देश की रञ्जकता सभी एक के बाद एक हमारे सामने आते हैं। इन सब से शेक्सपियर के नाटक ओत-प्रोत हैं। परन्तु इस वातावरण का मुख्य आधार है प्रेमाराधन। यदि एक शब्द में कलाकार के नाटकों का वास्तविक आधार देखा जाय तो वह होगा—प्रेमाराधना।

शेक्सपियर के सभी नाटकों में प्रेमोपासना ही मूलाधार है। दर्शनज्ञ दान्ते ने नारी की महत्ता साहित्य में उसी प्रकार घोषित की थी जैसे किसी देश का विजेता अपनी विजय सूचना दुँदुभि द्वारा दिया करता था। दान्ते के लिये नारी ईश्वरीयता की प्रतीक थी। वह अपने दैवी गुणों द्वारा मानव जीवन के उत्थान के लिए पृथ्वी

पर अवतरित हुई थी। उसके दर्शन मात्र से मानव जीवन को नई सीमाएँ दिखलाई देने लगती थीं। उसके स्पर्श मात्र से ही पार्थिव जगत का बोझ हलका होकर समय के गर्त में विलीन हो जाता था। उनके संसर्ग में रहने का वरदान पाकर मनुष्य के हृदयाकाश में सुख तथा शान्ति की चांदनी फैल जाती थी। मनुष्य का मानसिक विकास, उसकी आध्यात्मिक प्रगति, उसकी नैतिक उन्नति, नारी संसर्ग के वरदान से ही हो सकती थी। उसकी एक कृपा-कटाक्ष से मानव-हृदय में पूर्णता आ सकती थी।

नारी का यह बौद्धिक तथा आध्यात्मिक रूप पूर्णतः समझना सब के लिए सरल नहीं था। इस आध्यात्मिक अनुभव को लोग पार्थिव रूप में देखना चाहते थे। इस कमी को प्रसिद्ध कवि पीट्रार्क ने पूरा किया। उन्होंने नारी को संसार के प्रांगण में स्त्री रूप में अवतरित किया। उन्होंने उसे प्रेम, (संयोग तथा वियोग) दया करुणा, सहानुभूति तथा श्रद्धा के गुणों से रंजित किया। इस अनुभव से सोलहवीं शताब्दी की सम्पूर्ण काया-पलट हो गई। इंगलिस्तान ने भी इस अनुभव को पूर्ण-रूप से ग्रहण किया था।

एलिजबेथ-कालीन अंग्रेजी समाज के लिए प्रेम, जीवन का दूसरा नाम था। इसी के द्वारा जीवन की सफलता का माप लगा करता था। इसी की डोर पकड़ कर चलने में ही मानव-जीवन की पूर्णता थी। इसी कारण प्रेम का आग्रह और दुराग्रह, उसका शासन तथा उपयोगिता उसका तर्क से सम्बन्ध तथा विरोध, उसका यथार्थ तथा काल्पनिक जगत, उसकी निष्ठा तथा सन्देह—सभी पर शेक्सपियर ने प्रकाश डाला है। वास्तव में प्रेमाराधन ही उनके सुखान्तकीयों का प्राण रूप है।

शेक्सपियर के सुखान्तकी के तत्व

शेक्सपियर की सुखान्तकी-प्रणाली के अन्तर्गत कई तरह के

नाटक हैं जिनके उद्देश्य की पूर्ति अन्य-अन्य साधनों से होती है। यह तो हम मान ही चुके हैं कि सुखान्तकी का प्रधान कार्य है हास्य तथा हर्ष-प्रदर्शन इसके प्रदर्शन के लिए कलाकार ने कुछ खास सुखान्तक तत्वों को ध्यान में रख कर रचना आरम्भ की।

शेक्सपियर के सुखान्तकी अपने उद्देश्य की मूर्ति निम्नलिखित व्यवधानों द्वारा करते हैं—

१. कथोपकथन
२. घटना
३. रोमाञ्चक भाव
४. काव्य-भावुकता
५. चरित्र-चित्रण
६. ग्राम्य-जीवन-विश्लेषण
७. विदूषक

कथोपकथन द्वारा 'लव्ज लेबर लास्ट' में हास्य प्रस्तुत है, 'कामेडि आव एरर्स' घटना प्रधान है, 'मेजर फार मेजर' रोमाचक-भाव प्रधान है, 'मिड समर नाइट्स ड्रीम' काव्य भावुकता प्रधान है, चरित्र-चित्रण में 'टवेल्फथ नाइट' 'मर्चेन्ट आव विनिस' 'सिम्बेलीन' तथा 'मच एडू एबाउट नथिंग' की गणना है तथा 'ऐज यू लाइक इट' और विन्टर्स टेल, में ग्राम्य जीवन के पृष्ठ-भूमि की प्रधानता है। विदूषक प्रायः सभी सुखान्तकीयों में है। इस अंग का विवेचन हम प्रहसन-खण्ड में विस्तारपूर्वक करेंगे।

आलोचना सिद्धान्त

सुखान्तकी के विषय—सभी युरोपीय देशों के दर्शनज्ञों, साहित्यकारों तथा आलोचकों ने सुखान्त की के विषय-चयन उद्देश्य तथा निर्माण शैली पर अपने अपने विचार प्रकट किए हैं। प्रायः यूनानी तथा अंग्रेजी लेखकों के विचारों में बहुत साम्य है। इसका कारण

यह है कि अंग्रेजी साहित्यकार, यूनानी दर्शनज्ञों के साहित्य-सिद्धान्तों से बहुत अधिक प्रभावित हैं।

यूनानी दर्शनज्ञ तथा साहित्यकार अरस्तू और व्याख्यान-शैली के आचार्य सिसरो तथा रोम के आलोचक-क्विनटिलियन ने सुखान्तकी का विषयाधार समाज के निम्न कोटि के लोगों का ही जीवन माना है। उनका विचार है कि जिस श्रेणी के लोगों से हमें नैसर्गिक रूप से सहानुभूति तथा प्रेम न हो सके उसी वर्ग को विषय-रूप मान कर सुखान्तकी की रचना हो सकती है। इससे यह भी संकेत मिला है कि जिस श्रेणी के लोगों से हमें घृणा हो अथवा स्वाभाविक विराग हो उसी वर्ग के आधार रूप सुखान्तकी लिखी जा सकती है। कुछ हद तक यह सिद्धान्त मान्य हो सकता है। परन्तु इस सिद्धान्त से यह भ्रम मूलक नियम, निष्कर्ष रूप से निकल सकता है कि श्रेष्ठ वर्ग के समाज के विषयाधार पर सुखान्तकी की रचना नहीं हो सकती। इस सिद्धान्त के प्रतिकूल अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर के सभी सुखान्तकी प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिनके विषयाधार निन्यानबे प्रतिशत श्रेष्ठ-वर्ग का ही समाज है।

निम्न-कोटि के समाज को सुखान्तकी का विषय बनाने में यूनानी सहित्यकारों के मन में श्रेष्ठ-वर्ग के प्रति पक्षपात का भाव विशेष मालूम होता है। यूनानी समाज में गुलामी प्रथा एक प्रकार से मान्य थी। यह वर्ग सबसे निम्न कोटि का था। इस वर्ग को हास्यास्पद प्रमाणित करना इस समय के समाज के लिए क्षम्य हो सकता था और शायद इसीलिए उस समय के साहित्यकारों ने इसी वर्ग को सुखान्तकी का विषय प्रमाणित किया है।

इस पक्षपात का दूसरा कारण यह था कि श्रेष्ठ वर्ग सभी लोग राज्य-शासन में भाग लेते थे। उन्हें बहुत से सामाजिक तथा राज-नीतिक अधिकार प्राप्त थे, उनका समकालीन समाज में बहुत मान-दान था और इस वर्ग के व्यक्तियों अथवा सम्पूर्ण समुदाय को व्यंग्य-

पूर्ण साहित्य का शिकार बनाना उन्हें जनता की आँखों में नीचे गिरा कर, उन पर से विश्वास और श्रद्धा हटा देना था। ऐसे विचार उस समय मान्य नहीं हो सकते थे। फलतः प्राचीन दर्शनज्ञों ने श्रेष्ठ वर्ग को दूर रख कर केवल निम्न वर्ग को ही सुखान्तकी का आधार बनाने का आदेश दिया।

इस पक्षपात का एक और साहित्यिक कारण हो सकता है। वह यह है कि यूनानी नाटककार तथा दर्शनज्ञ प्रहसन तथा सुखान्तकी के विषयों को पूर्णतया विभाजित नहीं कर सके थे। यदि वे साहित्यिक रूप से प्रहसनों तथा सुखान्तकीयों के विषय-भेद पर मनन कर अपने विचार प्रस्तुत करते तो शायद यह पक्षपात इतना स्पष्ट न हो पाता। प्रहसन के विषय तथा निर्माण शैली पर हम अलग विवेचन देंगे; किन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि यूनानी लेखक ऐरिस्टाफेनीज़ के नाटक प्रहसन के अधिक निकट हैं; सुखान्तकी के कम। या यों कहिए कि उनमें सुखान्तकी की आत्मा पूर्ण-रूप से प्रस्फुटित नहीं हुई और वास्तव में उनमें प्रहसनात्मक गुण ही अधिक हैं। रोम देश की सुखान्तक रचना का हम पहले विवेचन कर चुके हैं। यहाँ इस बात का निर्णय करना है कि वास्तव में सुखान्तकी के विषयाधार क्या क्या हैं और उनकी पूर्ति के साधन क्या हैं।

सुखान्तकी नाम से ही यह स्पष्ट है कि इनके विषयाधार वे भावनाएँ नहीं हो सकतीं जिनके द्वारा हमें दुःख अथवा पीड़ा का अनुभव हो। इसके साथ साथ उन परिस्थितियों को जिनके फल-स्वरूप हत्या, हिंसा तथा पीड़ा का भाव प्रदर्शित हो हम सुखान्तकी के विषय नहीं मान सकते। वास्तव में ये विषय तो दुःखान्तक-रचना के उपयुक्त हैं। इसी सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिपादन संस्कृत नाटककारों ने भी किया है। संस्कृत सुखान्तकीयों का विषयाधार भी श्रेष्ठ वर्ग का समुदाय है। 'अभिज्ञान शाकुन्तल', 'उत्तर राम चरित' तथा 'विक्रमोर्वशी' में श्रेष्ठ समाज ही दृष्टि गोचर होता है। यह सिद्धान्त अंग्रेजी

नाटककारों ने केवल दु:खान्तकी के लिए ही श्रेयस्कर माना है और सुखान्तकी के लिए उन्होंने साधारणतः निम्नकोटि का ही समाज ग्राह्य समझा है। इस सिद्धान्त की पूर्ति शेक्सपियर लिखित सुखान्तकीयों से पूर्णतया नहीं होती क्योंकि उनका समाज भी श्रेष्ठ वर्ग का है मगर इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि सुखान्तकी के उद्देश्य की पूर्ति अधिकांश रूप में निम्न कोटि के लोगों ही द्वारा हुई है।

अंग्रेजी नाटककारों ने सुखान्तकी को, प्रहसन के समान ही समाज से सम्बन्धित मानकर नाटक रचना की है। व्यक्ति विशेष पर शायद ही कोई सुखान्तकी आधारित हो; जहाँ पर व्यक्ति विशेष द्वारा हास्य प्रस्तुत होना है वहाँ व्यक्ति विशेष किसी वर्ग का प्रतिनिधि-स्वरूप अवश्य रहता है। इसी कारण उसका हास्य चित्ताकर्षक तथा व्यापक होता है। सामाजिक अव्यवस्थाएँ, मानसिक असंगति तथा जीवन की हास्यास्पद कुरूपता साधारणतः विषयाधार प्रमाणित होते हैं। विशेषतः मानसिक असंगति ही श्रेष्ठ सुखान्तकी का आधार है। मानसिक असंगति से तात्पर्य मनुष्य के मानस में उठती हुई उन भावनाओं से है जो स्वाभाविक नहीं हैं मगर पात्र उन्हें पूर्णतया स्वाभाविक समझे हुए कार्य करता चलता है। अथवा वह कहता कुछ है करता कुछ है; सोचता कुछ है बोलता कुछ है; उसके तर्क और विश्वास में कोई सामञ्जस्य नहीं; उसके हृदय और मस्तिष्क में अनुकूलता नहीं; उसके वास्तविक जीवन तथा उसके आदर्शों में साम्य नहीं। इस मानसिक असंगति के फलस्वरूप गर्व, पाखण्ड, घृणा, असत्य, छल, प्रपंच, अस्वाभाविकता तथा हास्यास्पद कार्यों की सृष्टि होती रहती है और सुखान्तकी की आत्मा उसे देख-देख मुस्कुराती रहती है।

सुखान्तकी का उद्देश्य––सुखान्तकी की आत्मा के मुस्कान में ही सुखान्तकी के लेखक का उद्देश्य छिपा रहता है। साधारणतः

सुखान्तकी के उद्देश्य के विषय में, रूढ़िरूप से, साहित्यकारों का एक मत नहीं। एक वर्ग का कहना है कि सुखान्तकी का उद्देश्य आनन्द प्रस्तुत करना है। इसके विपरीत दूसरा वर्ग कहता है कि उसमें सुधार की भावना प्रधान होनी चाहिये। कुछ नर्म दल के आलोचकों ने दोनों वर्गों की बात रखने के लिये दोनों भावनाओं का समावेश कर लिया है। उन्होंने सुधार की भावना की अस्पष्टता तथा आनन्द का प्राधान्य अपना श्रेष्ठ सिद्धान्त माना है। फ्रांसीसी लेखकों ने भी दोनों सिद्धान्तों को आंशिक रूप में माना है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि आनन्द की सृष्टि सभी नाटककारों ने, सुखान्तकी का प्रथम ध्येय माना है। सुधार की भावना लेखकों की रुचि के अनुसार स्पष्ट, अस्पष्ट तथा गोपनीय रह सकती है।

सुखान्तकीयों के विस्तृत अध्ययन से हम इस बात का भी पूरा पता चला सकते हैं कि नाटककारों ने सुधार का माध्यम हास्य माना है। परन्तु एक जटिल प्रश्न जिस पर काफी मतभेद आलोचकों में रहा है यहाँ उठ खड़ा होता है। वह प्रश्न हास्य के लक्षण का है; हास्य कैसा हो, उसका प्रभाव हृदय पर हो अथवा मस्तिष्क पर हो इस विषय पर काफी मतभेद रहा है। आलोचकों के नाटक सिद्धान्तों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि श्रेष्ठ सुखान्तकी का हास्य पूर्णतया मानसिक होता है। मेरीडिथ के अनुसार श्रेष्ठ सुखान्तकी का उद्देश्य मानसिक हास्य ही प्रस्तुत करना है और इसी गुण से उसकी श्रेष्ठता का निर्णय किया जाना चाहिए।

सुखान्तकी की शैली—हास्य के गुण के साथ-साथ आलोचकों ने सुखान्तकी की शैली पर भी मतभेद प्रकट किया है। रूढ़िवादी आलोचकों के अनुसार सुखान्तकी के रङ्ग स्थल पर वृद्ध-पात्रों को उपदेश प्रदान करना चाहिये; युवाओं को अवगुणों का शिकार बनना चाहिये तथा विदूषक को अनर्गल संवाद करना चाहिये। साधारणतया आलोचकों ने हास्य की सृष्टि द्वारा सुधार की भावना

का प्रसार सुखान्तकी का प्रधान तत्व माना है। सामाजिक कुरीति, मानसिक असंगति तथा अस्वाभाविक आचरण को व्यंग्य, कथोपकथन पटुता, हास्य तथा उपहास, विदूषक तथा पात्र-वैचित्र्य द्वारा ही सुधारने का आदेश लेखकों ने दिया है।

इस हास्य में श्रेष्ठ आलोचकों ने सहानुभूति का विशेष स्थान माना है और निर्मम-हास्य का निषेध किया है। सहानुभूति पूर्ण तथा मृदुल हास्य द्वारा प्रभाव स्थायी तथा तीव्र रूप से पड़ता है। परन्तु निर्मम हास्य से, चाहे सुधार की भावना जाग्रत हो चाहे न हो, घृणा की मात्रा अवश्य बढ़ जाती है। प्रायः सभी आलोचकों ने यह सिद्धांत एक मत से माना है कि सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रगति के साथ-साथ सुखान्तकी की पृष्ठ-भूमि, उसका विषयाधार, उसकी शैली, उस का प्रभाव तथा उसकी वास्तविकता भी परिवर्तित होती जायगी।

अब हम श्रेष्ठ आलोचकों के सिद्धान्तों का संकलन प्रस्तुत करेंगे जिसके आधार पर उपरोक्त समीक्षा की गई है।

(५)

आलोचकों के वक्तव्य

अफलातूं—'ईर्ष्या अथवा द्वेष की भावना ही सुखान्तकी का आधार है। सौन्दर्य, ज्ञान, धन तथा अहं-भाव जब अपनी सीमा का उल्लंघन करता है तो उसके प्रति हमें घृणा होने लगती है और हम उसकी हँसी उड़ाते हैं। अपने मित्रों के दुर्भाग्य पर हमें कभी-कभी हँसी आती है और इस भावना में हर्ष अथवा दुःख का मिश्रण रहता है।'[1]

अरस्तू—'किसी व्यक्ति की हँसी उड़ाना उसकी निन्दा करना है; सुखान्तकी का उद्देश्य व्यक्ति विशेष का उपहास न होकर निम्न-वर्ग

---

१ प्लेटो 'फिलीबस'

के समाज का अनुकरण है। इसका आधार त्रुटि अथवा कुरूपता है जिसमें न तो पीड़ा और न विनाश का भय है। उदाहरण के लिये सुखान्तकी खेलने वालों के मुँह पर लगा हुआ बनावटी चेहरा कुरूप तो है परन्तु उसमें पीड़ा की भावना नहीं है। कुरूपता कई प्रकार की हो सकती है; इसके अंतर्गत मानसिक असंगति, अनौचित्य, अनर्थकता, जीवन की विपरीतता, जटिलता, द्वन्द्व तथा अनैतिकता सभी का समावेश है।'[1]

सिसेरो---'नीचता और कुरूपता ही सुखान्तकी का आधार है। जब ये दोष ऐसे मनुष्यों में, जो कि न तो श्रेष्ठ वर्ग के हैं, न दुर्भाग्य से घिरे हैं, और न हमारी घृणा के पात्र हैं, प्रकट होते हैं तो वे ऐसे विषय बन सकते हैं जिनके द्वारा सुखान्तकी का निर्माण हो सकता है हमारी भ्रममूलक आशाएँ, व्यंग्यपूर्ण चरित्र-चित्रण, निरर्थक वार्तालाप, अनर्गल सम्वाद, अवगुणों का उपहास, सभी के द्वारा हास्य प्रस्तुत किया जा सकता है।'[2]

क्विनटिलियन---'हास्य का सम्बन्ध निम्नकोटि के जीवन से ही है। शिष्टता, शील, तीक्ष्ण वादाविवाद, शाब्दिक वितण्डावादा, परिहास तथा अनुरूपता का आधार लेकर हास्य प्रकट किया जाता है। श्लेषपूर्ण सम्वाद ही सबसे अधिक हास्यपूर्ण होते हैं।'

म्यूज़ियो---'सुखान्तकी के कलाकारों का ध्येय हास्य प्रस्तुत करना नहीं वरन् चरित्र सुधार है।'

मिन्टर्नो—'सुखान्तकी के लिए हास्य तथा सुधार दोनों ही आवश्यक हैं।'

स्कैलिजर—'सुखान्तकी एक वृहत् नाटकीय काव्य है। इसमें कूटयुक्ति तथा प्रपंचपूर्ण कार्य-व्यापार का सम्पादन लोकप्रिय शैली में होता है।'

---

१. अरस्तू---'एथिक्स' २. सिसेरो---'डि आरेटार'

टामस विल्सन—'हास्य की परिभाषा असम्भव है। कुरूपता, अशुद्धता, भ्रष्टता तथा दोषपूर्ण व्यवहार द्वारा ही हास्य प्रकट होता है।'

जार्ज ह्वेटस्टोन—'सुखान्तकी के निर्माण की विधि सरल है। वृद्ध शिक्षा प्रदान करें, युवा दोषपूर्ण हों, वेश्याएँ लम्पटतापूर्ण हों, बालक दुःखी हों, विदूषक अनर्गल सम्वाद करें और ऐसे उपहासपूर्ण कार्य करें कि जिनसे सुधार तथा आनन्द की भावना उठती रहे तभी श्रेष्ठ सुखान्तकी का निर्माण होता है।'

सर फिलिप सिड्नी—'सुखान्तकी का ध्येय स्पष्ट है। उसका उद्देश्य हास्य प्रकट करना नहीं है। सुखान्तकी तो केवल हमारे जीवन के साधारण अवगुणों का उपहासपूर्ण प्रदर्शन मात्र है। हमारे घरेलू तथा निजी जीवन के दोषों का स्पष्टीकरण सुखान्तकी का प्रधान ध्येय है।'[1]

बेन जानसन—'सुखान्तकी तथा दुखान्तकी के तत्व समान हैं और उसका उद्देश्य भी समान है। शिक्षा तथा आनन्द प्रदान दोनों ही का कार्य है। हास्य तो केवल सहकारी के समान है। केवल हास्य प्रदर्शन ही सुखान्तकी का उद्देश्य नहीं; सुखान्तकी का विषय भी वास्तविकता पूर्ण तथा हर्षयुक्त होना चाहिये।'[2]

सरफिलिप सिड्नी—'हमारे जीवन की त्रुटियों और आचरण के दोषों को उपहास्यास्पद बनाना सुखान्तकी का मुख्य उद्देश्य है। रंग-मच पर इन दोषों के अनुकरण से दर्शकों में उनके प्रति विराग और घृणा उत्पन्न होती है और वे उन्हें अपने जीवन से निकाल फेंकने की चेष्टा करते हैं।'[3]

सर फिलिप सिड्नी—'कुछ सुखान्तकी लेखकों की धारणा है

---

१. सरफिलिप सिड्नी—'ऐन एपालोजी फ़ार पोयेट्री'

२. बेन जानसन—'डिसकवरीज़'

३. सर फिलिप सिड्नी—'ऐन एपालोजी फ़ार पोयेट्री'

कि बिना हँसी के आनन्द का अनुभव नहीं हो सकता। यह विचार ग़लत है। नाटकों में हँसी और आनन्द दोनों ही साथ-साथ रह सकते हैं मगर यह सोचना कि हँसी में ही आनन्द मिल सकता है भ्रम-मूलक है। वरन् दोनों में एक प्रकार का विपरीत सम्बन्ध है। निजी अथवा सामाजिक जीवन के विपरीत कार्यों से हमें हँसी आती है। हँसी तो केवल एक गुदगुदी मात्र है, जो थोड़ी देर में भूल जाती है। आनन्द में एक प्रकार का स्थायी भाव रहता है। एक अत्यन्त सुन्दर रमणी को देख कर हमें आनन्द मिलता है, हँसी नहीं आती, उसी प्रकार हमें बौनों को देखकर हँसी आती है आनन्द नहीं मिलता। शुभ सयोग में हमें आनन्द मिलता है, हानिकार अवसरों पर हँसी आती है।

मेरे विचार में सुखान्तकी का ध्येय दर्शकों को केवल हँसाना नहीं है वरन् उन्हें आनन्दपूर्ण शिक्षा प्रदान करना है। अरस्तू ने पाप और दुष्टता द्वारा हँसी प्रकट करने की शैली को निकृष्ट बतलाया है। उनके प्रति तो घृणा उत्पन्न करनी चाहिए और दर्शकों को हँसी न आकर दया आनी चाहिए।"[1]

बेन जॉनसन—सुखान्तकी तथा दुःखान्तकी के तत्व तथा उनके उद्देश्य समान हैं। दोनों ही आनन्दपूर्ण शिक्षा प्रदान करते हैं। सुखान्तकी का हास्य प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं। यह तो एक प्रकार का दोष है। विदूषकों के ही कार्य से हँसी आती है इसीलिए प्राचीन तत्ववेत्ताओं ने हँसी को मूर्खता का चिन्ह कहा है। अफलातू ने तो महाकवि होमर की बड़ी कड़ी आलोचना इसीलिए की है कि उन्होंने देव पात्रों को भी हँसने पर बाध्य किया है।"[2]

---

१ वही

२ जॉन—'डिसकवरीज़'

जॉन ड्राइडेन"—"सुखान्तकी तथा प्रहसन में बहुत भेद है। सुखान्तकी के पात्र निम्न श्रेणी के होते हैं परन्तु उनकी प्रवृत्तियाँ, उनके साहसपूर्ण कार्य, उनके अन्य काम स्वाभाविक और यथार्थ जीवन के होते हैं। इसके विपरीत प्रहसनों के पात्रों की प्रवृत्तियाँ तथा उनके काम अस्वाभाविक तथा कृत्रिम होते हैं। सुखान्तकी मनुष्य के दोष और अवगुण का चित्रण करते हैं, परन्तु प्रहसन जीवन के अत्यन्त बेढंगे और मूर्खतापूर्ण कार्यों के प्रदर्शन से हमें हँसाते हैं। सुखान्तकी केवल बुद्धिमानों तथा समाज के सुधारकों को आनन्दित करते हैं परन्तु प्रहसन केवल विचार हीन लोगों को जीवन की कृत्रिमताओं से प्रसन्न करते हैं। सुखान्तकी को देखने में आनन्द आता है प्रहसनों को देखने मे घृणा जाग्रत होती है। सुखान्तक नाटककारों और प्रहसन लेखकों में वही भेद है जो एक कुशल चिकित्सक तथा एक नीम हकीम मे होता है। दोनों ही रोगी को अच्छा करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु एक का प्रयत्न वैज्ञानिक ढग का है और दूसरे का जोखिम में डालना वाला होता है। अधिकतर यही देखा गया है कि कुशल चिकित्सक असफल रहते हैं और नीम हकीम सफल हो जाते हैं; उसी प्रकार प्रहसन अधिक सरलता से दर्शकों को वशीभूत कर लेते हैं। सुखान्तकी का मुख्य आभूषण परिहास-पूर्ण संवाद तथा व्यंग्योक्तिपूर्ण कथोपकथन है।"[1]

डि० क्विन्सी—'समाज तथा सभ्यता के परिवर्तन के साथ-साथ सुखान्तकी की भी रूपरेखा बदलती जायगी क्योंकि उन पर समाज की पूर्ण छाया रहती है। ज्यों ज्यों मनुष्य का नागरिक जीवन शिष्ट तथा सभ्य होता जायगा नाटक भी अधिक गहराई तक पहुँचते जायँगे। बेढङ्गी घटनायें अथवा हास्यपूर्ण परिस्थितियाँ, अथवा पात्रों और

---

१ जॉन ड्राइडेन—'प्रेफेस टु ऐन ईवनिंग्स लव'

घटनाओं के मिश्रण से जो चित्र सामने आयेंगे वे ही सुखान्तकी के हास्य के मूल स्रोत होंगे।'[1]

बेन जानसन—'सुखान्तकी, समाज तथा युग का प्रतिबिम्ब प्रदर्शित करती है; उसमें मनुष्यों की मूर्खता तथा अनौचित्य का दर्शन है। जब कभी विशेष चरित्र-दोष किसी व्यक्ति में इतना बढ़ जाता है कि वह उसकी अन्य शक्तियों पर विजय पाकर उसे वशीभूत कर लेता है तभी वह सुखान्तकी विषय बन जाता है।'[2]

टामस हाब्स—'मनुष्य में एक विचित्र भावना विशेष है जिसका नामकरण नहीं हो सका है। इसका बाह्यरूप है हास्य। हास्य का जन्म आनन्द से होता है। हास्य का जन्म तभी होता है जब हम में यकायक दूसरों की या अपनी पहली कमजोरियों के विपरीत बड़प्पन तथा श्रेष्ठता का अनुभव होने लगता है। आकस्मिक नवीनता हास्य का प्राण है।[3]

मुलियर—सुखान्तकी का मुख्य ध्येय आनन्द द्वारा शिक्षा प्रदान तथा सुधार है। सुखान्तकी, व्यक्ति विशेष पर आधारित न होकर समाज विशेष अथवा वर्ग विशेष पर आधारित रहती है।'[4]

ड्राइडेन—'सुखान्तकी के हास्य में द्वेष का भाव विशेष है। उसमें मनुष्य के अवगुणों का चित्रण आनन्द प्रदान के उद्देश्य से रहता है। शिक्षा अथवा सुधार की भावना उसमें प्रमुख रूप में न होकर गौण ही रहती है। सुखान्तकी का कलाकार मानव के अवगुणों को हास्यास्पद बना कर हममें सौजन्यपूर्ण हँसी लाने का प्रयत्न करता है। जब दर्शक अपने सामने अवगुणों का उपहास देखते हैं तो उन्हें

---

१. *डि क्विन्सी*—'थियरी आव लिटरेचर'

२. बेन जानसन—'एवरी मैन आउट आव हिज़ ह्यूमर'

३. टामस हाब्स—'लेवायथन'

४. मुलियर—'टार्टफ़'

दूसरों पर हँसी आती है; तत्पश्चात् उससे बचने और सुधार की भावना का जन्म होता है।'[1]

टामस शेडवेल—'सुखान्तकी के कलाकर का मुख्य ध्येय आनंद प्रदान के साथ-साथ शिक्षा प्रदान भी होना चाहिए। दुःखान्तकी के विपरीत हम सुखान्तकी द्वारा समुचित रीति से सुधार की भावना फैला सकते हैं।[2]

जोज़ेफ ऐडसन—साहित्यिकों ने प्रकृति के फल, फूल, पेड़, पक्षी के वर्णन में हास्य के विशेषण का रूपक रूप में प्रयोग किया है जिससे यह प्रमाणित होता है कि हास्य की भावना तथा उसका प्रदर्शन मनोहर तथा सौष्ठवपूर्ण है।'[3]

हेनरी फील्डिङ्ग—'सुखान्तकी के हास्य का आधार, मनुष्य का दिखावा, गर्व तथा पाखण्ड का उपहास है। जब हम किसी व्यक्ति का बनावटी व्यवहार देखते हैं तो हमें उस पर आश्चर्य होता है, तत्पश्चात् आनन्द मिलता है। पाखण्डी मनुष्य के बनावटी व्यवहार से हमें साधारणतया अधिक आश्चर्य होता है फलतः हमारे आनन्द की मात्रा भी अधिक होती है।'[4]

मार्क एकिनसाइड—'उपहास की तीव्र दृष्टि, जीवन की असम-रूपता, असंगति तथा असम्बद्धता को हास्यास्पद बना कर हास्य प्रस्तुत करती है। हमारी घृणा हमारे हास्य को और भी तीव्र करती है। हमारे हास्य की तीव्रता से ही मानव के अवगुणों तथा मूर्खताओं का शमन होता है।[5]

---

१. ड्राइडेन—'एसे आन ड्रैमेटिक पोयेज़ी'
२. शैडवेल—'प्रेफ़ेस टु दि—मरिस्टस
३. ऐडिसन—'स्पेक्टेटर'
४. फ़ील्डिङ्ग—'टाम जोन्स'
५. एकेनसाइड—'प्लेज़र्स आव इमैजिनेशन'

आलिवर गोल्डस्मिथ—'आलोचकों ने सुखान्तकी से निम्न वर्ग के चित्रण का वहिष्कार कर दिया है जिससे सुखान्तकी रचना असम्भव हो गई है। जब किसी का उपहासपूर्ण वर्णन हम देखते हैं तो हममें श्रेष्ठता की भावना आती है। हास्य, इसी श्रेष्ठता की भावना का बाह्य प्रदर्शन है।'[1]

सैमुएल जानसन—'सुखान्तकी की अब तक कोई सौष्ठवपूर्ण परिभाषा नहीं बन पड़ी है। प्रत्येक नाटकीय रचना जो हास्य प्रस्तुत करे सुखान्तकी कही जा सकती है। परन्तु सुखान्तकी रचना के लिये न तो हास्य अनिवार्य है, न निम्नवर्ग के जीवन का प्रदर्शन और न तुच्छ कथावस्तु।'[2]

लेसिङ्ग—'सुखान्तकी सुधार कार्य में घृणायुक्त परिहास व्यवहार में ला कर, हास्य का प्रयोग करती है। हास्य में ही इसकी शक्ति निहित है। इसी हास्य द्वारा हम दूसरों के अवगुणों को परख लेते हैं। यह हास्य एक प्रकार का कवच है जो हमें अवगुणों से दूर रखता है। नैतिकता में भी शायद इतनी हमारे बचाव की शक्ति नहीं है जितनी कि हास्य में है।'[3]

जेम्स बियेटी—'स्वाभाविक हास्य दो प्रकार का होता है। एक तो दैहिक और दूसरा भावात्मक। पहला शरीर को गुदगुदाने में और दूसरा विचार-विन्यास में प्रकट होता है। जीवन की किसी भी असम्बद्ध तथा असंगत घटना अथवा विचार धारा अथवा मानसिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप हास्य प्रकट होता है। इस घटना, विचार धारा अथवा दृष्टिकोण में क्रोध, दया तथा घृणा का लेश नहीं रहता है। कई ऐसी भी उपहासपूर्ण घटनाएँ हो सकती हैं जो स्वयं हास्य प्रकट

---

१. गोल्डस्मिथ—'पोलाइट लर्निङ्ग'
२. जानसन—'रैम्बलर' ३. लेसिङ्ग—'ड्रैमेटर्जी'

न कर किसी सिद्धान्त विशेष अथवा रूढ़ि विशेष की ओर संकेत करे जिससे सहज ही हास्य प्रकट हो जाय।'[1]

जोज़ेफ प्रीस्टली—'विरोधात्मक विचारों अथवा घटनाओं के प्रदर्शन द्वारा ही हास्य प्रकट होता है। जब कोई-तीव्र भावना अथवा आश्चर्यपूर्ण भाव एकाएक अवरुद्ध हो जाय अथवा उलट फिर कर बार बार आने लगे तभी हास्य का जन्म होता है। स्वभावतः हास्य तो असबद्धता अथवा असंगति द्वारा सतत प्रकट होता रहता है, परन्तु इस असबद्धता अथवा असगति में गम्भीरता का लेश नहीं होना चाहिये।'[2]

ह्यू ब्लेयर--'सुखान्तकी के विषय, मनुष्य के भीषण कार्य अथवा घोर वेदनाएँ न होकर केवल वे ही छोटे मोटे दुर्गुण होते हैं जो मानव चरित्र में रह कर, उसे सामाजिक रूप से दूषित कर हास्यास्पद बना देते हैं और जो दर्शकों को असगत प्रतीत होते हैं। मनुष्य के आचार विचार का संशोधन, उसकी आसामाजिकता का परिमार्जन तथा उसके सहज अवगुणों का उपहास संसार की श्रेष्ठ सेवा है।[3]

कोलरिज—'बीज रूप में, विचारों तथा उपमेयों के विरोधाभास में ही हास्य सन्निहित है। इसका उपयोग आश्चर्यित करना है। प्रहसन में हमें हास्य इसी कारण मिलता है कि उसमें असंगत कार्यों का लेखा रहता है; परन्तु वे कार्य ऐसे नहीं होते जिनसे किसी को शारीरिक अथवा मानसिक क्षति पहुँचे। उसका ध्येय केवल हास्य प्रदर्शन है। सुखान्तकी का आनन्द अन्दर से प्रस्फुटित होता है। जब हमारी कुछ अस्थायी और सरल परन्तु पाशविक प्रवृत्तियाँ, हमारे मस्तिष्क पर छा जाती हैं तभी उनसे आनन्द का जन्म होता है।[4]

---

१. बियेटी—'ऐसे आन लाफ़टर'

२ जोज़ेफ प्रीस्टली—'ए कोर्स आव लेक्चर्स आन आरेट्री'

३. ह्यू ब्लेयर—'लेक्चर्स आन रेट्रिक'

४. कोलरिज—'लिटररी रिमेन्स'

विलियम हेज़लिट—हास्य और रोदन का प्रस्फुटन तब होता है जब हम यथार्थ और असाधारण भावों तथा विचारों में विरोध पाने लगते है। गंभीर कार्यों के सम्पादन में यदि अड़चने आएँ अथवा हमारी सरल और सहज इच्छा के विरुद्ध कोई क्षतिपूर्ण कार्य हो जाए तो हम रो पड़ते हैं। हम केवल उन्हीं विषयों पर हँसते हैं जो महत्वहीन हों, अथवा जो हम सोचे विचारे बैठे हों उसके विपरीत कोई ऐसा कार्य हो जाय जिनका फल कष्टदायक न हो। जब हम यकायक कोई असंगत कार्य अथवा वस्तु देखते हैं तो हमें हँसी आ जाती है। इसका कारण यह है कि जब तक हमारा मस्तिष्क उस असम्बद्धता को समझे तब तक हम अट्टहास कर बैठते हैं। वास्तव में हास्य का आधार विचारों अथवा भावों की असंबद्धता ही है; हास्यास्पद वे ही वस्तुएँ हो सकती हैं जो साधारण नियमों के तथा हमारी बुद्धि के माप के अनुकूल न हों। जब विचार, भाव अथवा कार्य हमारी तर्क शक्ति और बुद्धि के सम्मुख असंगत रूप में आते हैं तभी वे हास्यास्पद बन जाते हैं।'[1]

स्ताँदा—सुखान्तकी केवल उन्हीं पात्रों की खोज में रहती है जो साफ़ हृदय के, स्पष्ट वक्ता, हँसमुख तथा करुणामय होते हैं। ये पात्र जीवन की पगडण्डियों को पकड़े हुए आनन्द की खोज में सहज भाव से निकल पड़ते हैं। जहाँ कहीं भी उन्हें यह आनन्द मिला वे उसी में अपने को भूल कर, घुल मिल जाते हैं।[2]

टामस कार्लाइल—हास्य की आत्मा में सारे जीवधारियों के प्रति सहज करुणा और सहानुभूति होनी चाहिए। यह आत्मा दयापूर्ण, सरल तथा सुकुमार होते हुए माँ की प्रेम-पूर्ण झिड़की के समान ही होती है। इस हास्य की आत्मा का पूर्ण-विकास तर्क अथवा

---

१. विलियम हेज़लिट—'ऑन विट ऐण्ड ह्यूमर'

२. स्ताँदा—'रेसीन एट शेक्सपियर'

मस्तिष्क में न होकर हृदय में होता है। वह उपहास के कटु वाक्य नही निकालती और न उसमें भर्त्सना ही की कोई मात्रा रहती है। उसमें तो प्रेम और सहानुभूति के झरने झरते रहते हैं और इसका प्रकाश हास्य अथवा अट्टहास में न होकर सहज तथा सरल मुस्कान में ही होता है। यह फूल न होकर उसका पराग मात्र है। यह उसी स्वभाव में प्रगट होता है जिसमें शान्ति, सहानुभूति, मानवता की ज्योति रहती है। जब मानव-स्वभाव संसार के सभी असंगत अंगों से अपना मानसिक सामंजस्य स्थापित कर लेता है और उन असंगत रूपों के पीछे मानवता और सौन्दर्य का अनुभव करने लगता है तभी उसमें हास्य की सम्पूर्ण आत्मा का विकास होता है।'[1]

आर्थर शापेनहायर—'हमें हँसी तभी आती है जब हम किसी वस्तु और उसके मनोभाव में यकायक किसी असम्बद्धता अथवा असंगति देख लेते हैं। जिन-जिन वस्तुओं से और जब जब हमें हँसी आती है, हम किसी विशेष वस्तु और वास्तविक मनोभाव में असगति अवश्य देखते हैं।'[2]

ले हन्ट—"हमारे हास्य में हमारी विजय-भावना निहित रहती है। जब हम कोई ऐसा असगत दृश्य देखते है जिसके द्वारा हमें यह सन्तोष होता है कि हम स्वयं उस दृश्य में अच्छा हुआ कोई पात्र नहीं थे तब हममें एक गर्व और विजय की भावना जाग उठती है। हम अपने को श्रेष्ठ, तथा साधारण मनुष्य से ऊँचा समझने लगते हैं। हम तब पूरी शक्ति से हँस पड़ते हैं। परन्तु इस विजयपूर्ण हँसी में किसी को न तो क्षति पहुँचनी चाहिए और न दुःख, यह हँसी तो हम केवल अपने को श्रेष्ठ तथा विजयी समझ कर ही हँसते हैं। हास तथा परिहास दोनों के प्रकाश में हमारी बुद्धि दूसरी असंगत वस्तुओं से होड़

---

१. टामस कार्लाइल—'एसे आन रिक्टर'

२. आर्थर शपेनहायर—'दि वर्ल्ड ऐज़ विल ऐण्ड आइडिया'

लेती रहती है। जब जब हमारी श्रेष्ठता स्थापित होती है तब तब हमें हँसी आती है।

इसके अतिरिक्त जब कभी हम जीवन के असम्बद्ध दृश्य अथवा असगत विचार को यकायक सामने देखते हैं तो हास्य प्रस्तुत होता है। इस असम्बद्धता मे क्षति की भावना न होकर सहानुभूति की भावना प्रगट होने लगती है जिसके साथ-साथ हास्य का भी दर्शन होता है।'[1]

इमरसन—'सुखान्तकी का आनन्द मस्तिष्क से सम्बन्धित है। जब हमारे अनुमान के प्रतिकूल, शृंखलाहीन अथवा असगत संवाद अथवा कार्य होता है तब हमे आनन्द प्राप्त होता है। हँसी तो हमे तभी आती है जब आँखो से देखने और कानो से सुनने पर बात तो ठीक जँचे मगर वास्तव में वह सत्यता और यथार्थ से दूर हो।'[2]

जार्ज मेरिडिथ—'सुखान्तकी की आत्मा सामाजिक जीवन से सम्बन्धित है। उसमें सहानुभूति की मात्रा विशेष रूप मे रहती है और वह हर समय चौकन्नी रहती है। जब कभी वह समाज मे अथवा व्यक्ति के चरित्र में अनुचित गर्व, पाखण्ड, बनावट, अनौचित्य, दुःशीलता, छल, तर्क-विहीनता, अशिष्टता, अज्ञान, डींग, शेखी, मिथ्याभिमान, अस्थिरता, निर्लज्जता, चापलूसी, हठ-धर्म, अन्ध-विश्वास, असयम, अनर्थकता, असंगति देखती है तो वह इस पर सहज रूप से छींटे कसती है जिसके पश्चात् स्वाभाविक रूप से हँसी फूट पड़ती है। सुखान्तकी वास्तव में हमारे मानसिक हास्य की छाया है। वह भावनाएँ नही जाग्रत करती वह तो केवल एक नैतिक दृष्टि से संशोधन और परिमार्जन का ही कार्य किया करती है।'[3]

थियोडोर लिप्स—'सुखान्तकी में हमे उस वस्तु के हमेशा दर्शन

---

१. ले हन्ट—'विट ऐण्ड ह्यूमर'

२. इमरसन—'लेटर्स ऐण्ड सोशल एम्स'

३. जार्ज मेरिडिथ—'थियरी आव कामेडी'

होते हैं जो वास्तव में है तो छोटी, तुच्छ और क्षुद्र परन्तु वह अपनी रूपरेखा आडम्बरपूर्ण तथा विशाल बनाए हुए है। जब जब ये क्षुद्र और तुच्छ चीजें अपनी परिधि छोड़कर विशाल बनने की असफल चेष्टा करती हैं तभी हमें हँसी आती है। सुखान्तकी में आनन्द प्रस्फुटन के दो महत्त्वपूर्ण स्थल होते हैं पहला तो जब एकायक इस असंगति को हम देखते हैं और दूसरा जब उसको ठीक परिमाण में समझ लेते हैं। हम यह सोच कर चले थे कि वास्तव में हमें कोई महत्वपूर्ण और स्वाभाविक कार्य के दर्शन होंगे मगर अनुमान के प्रतिकूल हमें उसके स्थान पर दूसरी ही और छोटी वस्तु देखने को मिली है।'[1]

हेनरी बर्गसाँ—(१) 'सुखान्तकी का हास्य मनुष्य से सम्बंधित है।

(२) इसका प्राण समाज में निहित है; कृत्रिमता, असंगति, हठ-धर्म की यह शत्रु है।

(३) इसमें भावनाओं की जागृति के बजाय मानसिक जागृति रहती है।

(४) इसके हास्य का ध्येय मनुष्य का दर्प-दमन, संशोधन तथा सुधार है। यह एक प्रकार से समाज के विरुद्ध चलने वाले से प्रति-शोध लेती है।

(५) इसका उद्देश्य क्षति न पहुँचा कर केवल ऐसे छींटे कसना है जिससे सहज ही में आनन्द आए।'

डब्ल्यू० मेकडूगल—'हास्य प्रदर्शन के लिए ऐसी परिस्थिति आवश्यक है जो थोड़ी बहुत उलझनें पैदा करे तत्पश्चात् हममें सहानुभूति जगाए। हास्य हमारे जीवन में ढाल का काम करती है; जब-जब हम मानव-समाज की कमजोरियों से क्षुभित होने लगते हैं उसी समय हास्य हमको समझा बुझाकर सन्तोष दे देता है।'

---

१. थियोडोर लिप्स—'कामिक ऐण्ड ह्यूमर'

४

चतुर्थ खण्ड

मिश्रितांकी

१

मिश्रितांकी की समस्या

दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी की निर्माण शैली के संबध में यह प्रश्न साधारणतः उठता है कि इन दोनों प्रकार के नाटकों में केवल अलग अलग रस का परिपाक हो अथवा दोनों के दृश्यों में सम्मिश्रण होना चाहिए। प्राचीन यूनानी आलोचक दुःखान्तकी रचना में केवल एक ही रस का परिपाक चाहते हैं। उनके सिद्धान्तों के अनुसार श्रेष्ठ दुःखान्तकी वही है जिसमें शुरू से आखीर तक एक ही रस का परिपाक तथा एक ही भावना की पुष्टि हो। करुणा तथा भय के माध्यम से मानव के चरित्र का संशोधन उनका मुख्य ध्येय था। रोमीय दुःखान्तकीयों में भी यही सिद्धान्त मान्य रहा और यूनानी लेखक यूरपाइडीज तथा साफोक्लीज के नाटक सिद्धान्तों के अनुसार रोमीय लेखकों ने दुःखान्तकी की रचना की जिसमें हत्याकाण्ड ही विशेष रूप से प्रदर्शित है। इन लेखकों ने दुःखान्तकी के वस्तु, उसकी प्रगति तथा उसके आपदकाल में करुण रस के प्रसार के लिए केवल दुःखपूर्ण परिस्थिति, दुःखपूर्ण पात्र तथा दुःखपूर्ण वातावरण निर्माण कर अपने ध्येय की पूर्ति की। रोमीय नाटकों में तो भय की इतनी अधिक मात्रा है कि कहीं-कहीं करुणा के स्थान पर बीभत्स ही अधिक दिखलाई देता है।

मिश्रितांकी समस्या के दो पहलू ध्यान देने योग्य हैं। पहला तो है अंकों तथा गर्भांकों का सँजाना और दूसरा है साधारण वातावरण से सम्बन्धित। मिश्रित रूप से अंकों को सँजाने का प्रश्न न तो यूनानी और न रोमीय नाटकों में ही उठता है। संस्कृत नाटकों के अंक-सृजन में भी यह प्रश्न नहीं उठता; वह उठता है उनके वाता-

वरण के संबध मे। परन्तु अंग्रेजी नाटकों में विशेषतः सुखान्तकी रचना में यह प्रश्न बहुत जटिल रूप से सामने आता है। संस्कृत तथा अंग्रेजी सुखान्तकीयो के वातावरण मे विचित्र साम्य है। भवभूति ने करुण रस परिपाक ही श्रेष्ठ कला माना है और शेक्सपियर के सुखान्तकीयों मे भी इसी रस का समुचित रूप से परिपाक हुआ है। संस्कृत साहित्य के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल', 'उत्तर रामचरित', तथा 'मुद्राराक्षस' और शेक्सपियर विरचित 'टवेल्फथ नाइट', 'टेम्पेस्ट' तथा सिम्बेलीन' मे वातावरण की दृष्टि से बहुत अधिक साम्य है। शेक्सपियर के सुखान्तकी आरंभ से ही करुण परिस्थिति लिए अवतरित होते हैं। कभी तो यह परिस्थिति इतनी करुणापूर्ण होती है कि पाठक को यह डर लगा रहता है कि सुखान्तकी कहीं दुःखान्तकी मे परिणत न हो जाय। इस वातावरण के अन्तर्गत हम कहीं मैत्री की दुर्दशा, कहीं भविष्य के प्रति घोर आशंका, कभी प्रेम का तिरस्कार कभी भ्रातृ भाव के विपरीत भ्रातृ-वैमनस्य तथा हत्या की तैयारी और कहीं सती स्त्री की अवहेलना देखते हैं। नाटक के मध्यांको मे कारुण्य का संचार इतने तीव्र गति से होता है कि हम कभी-कभी हताश हो उठते हैं। परन्तु पटाक्षेप होते होते दुर्भाग्य, हठ धर्मी, विद्रोह, तथा घृणा के बादल फटने लगते हैं और सौभाग्य सूर्य की रश्मियाँ सम्पूर्ण वातावरण को अनुरंजित कर सफलता, शान्ति तथा हर्ष का इन्द्र-धनुष आकाश में तान देती है।

संस्कृत नाटकों में यद्यपि दुःखान्तकी नहीं है फिर भी सुखान्तकीयो के अध्ययन में यह समस्या पूर्णतः प्रस्तुत है। वातावरण की दृष्टि से, यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय, तो इन सुखान्तकीयो को मिश्रितांकी नाम देना ही अधिक उचित जान पडेगा। संस्कृत के सभी सुखान्तकी मगला चरण से आरंभ होते हैं और उनका अन्त भी मंगलाचरण से ही होता है। यद्यपि अंग्रेजी के सुखान्तकी मगलाचरण से आरम्भ तो नहीं होते मगर उनका अन्त मंगलाचरण से अवश्य होता है। परन्तु

मंगलाचरण के साथ अन्त होने का यहाँ तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें किसी देवता विशेष की प्रार्थना कर उनका आशीर्वाद लिया जाय परन्तु सुख, हर्ष और शान्ति का प्रसार भी मंगलाचरण का ही भावुक-रूप है।

सुखान्तकों में हर्ष के साथ-साथ कारुण्य की छाया लाना अथवा एक ही रस का पूर्ण-परिपाक, नाटकीय दृष्टि से तथा मनोवैज्ञानिक रूप से कहाँ तक ठीक है इसका निश्चय हमें नाटकों के प्रभाव के आधार पर ही करना होगा। नाटकीय दृष्टि से मिश्रितांकी के सिद्धान्त की पुष्टि इसलिए होती है कि समस्त मानव-समाज का प्रतिबिम्ब नाटक में प्रस्तुत होना चाहिए। इसी प्रतिबिम्ब की वास्तविकता से नाटक की श्रेष्ठता तथा उसकी व्यापकता का माप लगता है। यदि नाटक जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं प्रस्तुत करता तो वह नाटक श्रेष्ठ नहीं। केवल जीवन के दो एक स्थलों को लेकर जीवन का एकांगी चित्र खींच देने में ही नाटक की सफलता नहीं प्रमाणित होती। उसमें केवल जीवन के सुखपूर्ण अथवा हर्षपूर्ण स्थलों को ही लाकर रखने में हमें जीवन का भ्रमपूर्ण चित्र मिलेगा और हमें उस पर विश्वास न होगा क्योंकि हम सम्पूर्ण जीवन में उस चित्र की सत्यता नहीं पाएँगे। इस प्रकार की ग़लती कुछ घोर आशावादी[1] कलाकार कर सकते हैं। जीवन की सफलता, उसका आनन्द तथा उसका हर्ष प्रदर्शित करने की धुन में वे कुछ ऐसे चुने हुए दृश्य ही प्रस्तुत करते हैं जिनको देखने के पश्चात् हमें यह भ्रम होने लगता है कि जीवन क्या वास्तव में इतना ही आनन्दमय तथा हर्षपूर्ण है जितना कि नाटककार ने प्रस्तुत किया है? जीवन में तो हमें कदम कदम पर कठिनाइयों, दुःख तथा निराशा के बादल मँडराते हुए दिखलाई देते हैं।

---

१ देखिए-'काव्य की परख'

इसके विपरीत कुछ नाटककार जीवन के केवल दुःखपूर्ण, पीड़ामय तथा करुण स्थल चुनकर नाटक में प्रस्तुत करते हैं और हर्षपूर्ण स्थलों को जानबूझ कर निकाल फेंकते हैं। इस प्रकार के नाटकों में भी हमें जीवन के सम्पूर्ण चित्र के बजाय एकांगी चित्र मिलता है। उसके देखने के पश्चात् हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि जीवन क्या वास्तव में इतना ही दुःख-पूर्ण तथा पीड़ामय है अथवा उसमें हर्ष और आनन्द भी है? क्योंकि जब हम जीवन के विराट साम्राज्य पर दृष्टि डालते हैं तो कहीं बालक वृन्द किलोलें करता है, कहीं युवा-युवती प्रेम पाश बँधते दिखलाई देते हैं और कहीं वृद्ध अपनी भूरी आँखों में मुस्कान लिए इस हर्षपूर्ण संसार को देखते फिरते हैं। केवल दुःख-पूर्ण स्थलों से नाटक निर्माण में हमें नाटककार की प्रतिभा पर सन्देह होने लगता है। हमें यह ज्ञात होता है कि निराशावाद के प्रसार की धुन में वह जीवन की सत्यता को न देख कर केवल उसके एक ही अंग पर प्रकाश डाल रहा है। सम्पूर्ण रूप से दुःखान्तक तथा सुखान्तक शैली में लिखे गए नाटकों में हमें जीवन का वास्तविक, यथार्थपूर्ण तथा प्रतीतिजनक चित्र न मिल सकेगा। इस नाटकीय दोष को हम एकांगी दोष कह सकते हैं और जब तक कलाकार आशावाद अथवा निराशावाद का चश्मा लगाए रहेगा तब तक उसे जीवन का सम्पूर्ण चित्र नहीं मिलेगा।

कलाकार जब तटस्थ होकर जीवन को देखता है तभी उसे जीवन का सम्पूर्ण चित्र दिखलाई देता है। इस दृष्टि से उसे जीवन सुख तथा दुःख दोनों से संलिप्त दिखलाई देगा। कभी वह बालकों की हर्षपूर्ण क्रीड़ाएँ देखेगा, कभी संगीत की मधुर ध्वनि सुनेगा, कभी प्रभात का स्पर्श उसे आन्दोलित करेगा, कभी स्वर्णिम सन्ध्या में उसे प्रेम संगीत की रागिनियों का आवाहन मिलेगा। इसके विपरीत कभी उसे बालकों की अनायास मृत्यु, युवाओं तथा स्त्रियों का करुण-क्रन्दन तथा भाग्य-चक्र की विषमता के दुःखदैन्यपूर्ण जीवन का भी

चित्र मिलेगा। उसे जीवन चक्र में पड़े हुए मानव का कभी हास कभी क्रन्दन, कभी हर्ष कभी पीड़ा, कभी सन्ताप कभी विद्रोह दिखलाई देगा। ईसी मिश्रित जीवन को पूर्ण-रूप से प्रदर्शित करने में ही कलाकार की श्रेष्ठता प्रमाणित होगी।

तटस्थ-रूप से मिश्रित जीवन की झाँकी दिखलाने में भी लेखक को स्वाभाविक रूप से कोई न कोई दृष्टिकोण अथवा कोई न कोई दार्शनिक विचार आधार रूप से अपनाना पड़ेगा। अपनी रुचि, अपने स्वभाव, अपने धर्म, अपने संस्कार तथा विश्वास का सहारा मात्र लेते हुए उसे जीवन के उन अटल सत्यो का निरूपण करना पड़ेगा जो आदिकाल से, समय पर विजय पाते हुए, आज तक विद्यमान है। ये सत्य कौन है ? उनका आधार क्या है, उनकी सीमाएँ क्या हैं ? उनका विस्तार क्या है ? इसका निर्णय कलाकार की निजी अनुभूति तथा जीवन के सफल निरीक्षण द्वारा ही हो सकेगा। यदि लेखक की निजी अनुभूति अत्यन्त कटुता पूर्ण है और जीवन मे क्रन्दन के सिवाय उसे कुछ और नहीं मिला तो उसे अपनी इस कटु अनुभूति तथा जीवन के अटल सत्यो का सहारा ले उसमे साम्य उपस्थित करना पडेगा। वैषम्य-पूर्ण जीवन का एकांगी चित्रण जीवन की असत्य भावनाओ का प्रसार करना है। उदाहरण के लिए कलाकार एक कटु दृश्य चुनता है। यह दृश्य है उस बुड्ढ़ी भिखारिन के चिथड़े से लिपटे हुए शरीर तथा उसके पास सोये हुए दीन-हीन बालक का जिसके मुँह पर मक्खियाँ भिनभिना रही हैं और भिखारिन भूख की ज्वाला तथा ग्रीष्म के ताप से विह्वल हो रही है। इस चित्र को देखते ही कलाकार के मन मे द्वन्द्व उपस्थित होता है और वह द्वन्द्व होता है जीवन के इस यथार्थ दृश्य तथा उस अटल सत्य में जो अनादि काल से चले आ रहे हैं। यदि इस द्वन्द्व में लेखक ने केवल यथार्थ दृश्य को ही सत्य मानकर, उस अलिखित अटल सत्यो की ओर से मुँह फेर कर नाटक लिखा तो उसमें अमरता

दीजिए !" ईश्वर ने प्रार्थना स्वीकार कर ली और आदम के वक्ष-स्थल से एक छोटी सी हड्डी निकाल कर आदि नारी, हौआ का निर्माण कर आदम के हवाले किया। आदम खुशी-खुशी वाटिका में आए और उनके दिन हँसी खुशी में बीतने लगे। मगर कुछ दिनों बाद हौआ ने उनको सताना शुरू किया और वे इतने क्रुद्ध हुए कि उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे ईश्वर के पास जाएँगे और हौआ उनको वापस दे देंगे। अपना निश्चय उन्होंने दूसरे दिन ही पूरा कर दिखाया और वे ईश्वर के पास जा पहुँचे और विनीत हो कहा—'परमेश्वर! हौआ को वापस लीजिए! मैं इसके साथ एक क्षण भी नहीं रह सकता!' परमेश्वर ने खुशी-खुशी हौआ को वापस ले लिया और आदम अपने सर का बोझ उतार कर ईडन वाटिका लौट आए। मगर आते ही उन्हें जीवन का सूनापन काटने लगा, उन्होंने लाख मन को समझाया, ऊँच नीच सुझाया मगर सूनापन बढ़ता ही जाता था। उन्होंने हार मानकर हौआ को ईश्वर से वापस लाने का निश्चय किया। वे ईश्वर के यहाँ फिर पहुँचे और प्रार्थना की—'हे ईश्वर! मुझे हौआ को लौटा दीजिए, मैं उसके बिना मालूम होता है नहीं रह सकता; मुझे जीवन का एकाकीपन काटे खाता है! ईश्वर मुस्कुराए और हौआ को आदम के हवाले किया। मगर कुछ ही दिन बीतने पाए थे कि वही पुराना झगड़ा फिर चला; हौआ ने उन्हें फिर सताना शुरू किया। आदम ने बहुत चाहा कि झगड़ा निबट जाय, मगर यह कहाँ होने का? आदम ने हौआ को हमेशा के लिए ईश्वर के पास छोड़ आने का दृढ़ निश्चय किया और इसी निश्चय के अनुसार वे हौआ को लेकर ईश्वर के पास पहुँचे और हाथ जोड़ कर प्रार्थना की—'हे देव! हमारी प्रार्थना मानी जाय, आप हौआ को वापस ले लें, इसके साथ जीवनयापन असंभव है'? ईश्वर बड़े जोर से हँसे और चुपचाप उन्होंने हौआ को वापस ले लिया। आदम खुशी-खुशी अपनी वाटिका में वापस आ पहुँचे और सोचा चलो

अच्छा हुआ छुटकारा मिला। मगर कुछ दिन बाद फिर वही पुरानी हालत। हर जगह उन्हें हौआ की तस्वीर दिखलाई देती; उसकी सुधि उन्हें बारम्बार आती और वे उसके बिना बेकल रहने लगे। उसका मुख, उसकी भाव भंगी, उसके हाव भाव उन्हें रह रह कर बेकल करने लगे। उन्होंने अपने को बहुत समझाया मगर मन कहाँ समझता; वह तो उनके काबू के बाहर था; उन्होंने निश्चय कर लिया था कि इस बार वे हौआ का मुँह भी न देखेंगे; मगर उसकी शकल तो हर जगह जैसे चित्रित दिखलाई देती थी। उनका मन उनका नहीं रहा। उन्होंने आखिरी बार यही निश्चय किया कि चलकर हौआ को ले ही आना चाहिए। मन मारे वे फिर ईश्वर के यहाँ जा पहुँचे और नत मस्तक हो कहा—'देव! हमें हमारी हौआ वापस मिल जाय'! ईश्वर यह प्रार्थना सुन कर बहुत क्रोधित हुए और आदम को हौआ लौटा कर कहा—'खबरदार! अब फिर तुम कभी इसे वापस करने आए तो तुम्हारी खैरियत नहीं'। आदम, भाग्य तथा दैवी आदेश और हौआ तीनों को साथ लाए और फिर कभी ईश्वर के यहाँ न गए।

इस पौराणिक गाथा में एक अटल सत्य का दिग्दर्शन होता है। आदम और हौआ—आकर्षण; स्नेह; ममता के प्रतीक हैं। ईश्वर अथवा नियति के आदेशानुसार अब तक स्त्री तथा पुरुष आकर्षण, स्नेह, तथा ममता के झूले में झूलते आए हैं। आदम की पहली शिकायत पर ईश्वर केवल मुस्कुराए थे। उनकी मुस्कुराहट में मानव की इच्छा के प्रति सहानुभूति थी; वे आदम की सरलता तथा जीवन की अनभिज्ञता पर मुस्कुराए। दूसरी बार वे बड़े जोर से हँसे थे। उनके अट्टहास में मानव के अज्ञान के प्रति गहरी सहानुभूति थी। तीसरी बार उनका क्रोध आदेश में परिणत होकर जीवन का एक अमिट सत्य बन कर रह गया: यह सत्य है वही प्रेम, आकर्षक तथा लालसा। यह सत्य साहित्य, समाज, सभ्यता तथा संस्कृति की सीमाएँ

तोड़ता हुआ आदि काल से आज तक जीवन में प्रस्तुत है। ये अमिट हैं, अटल हैं, अलिखित हैं।

जीवन के अन्य सत्यों का दिग्दर्शन बुद्ध-धर्म की लोक गाथाओं में सरलता से होता है। कहा जाता है कि एक बुड्ढी स्त्री अपने इकलौते बेटे का मृत शरीर लिए गौतम के मठ में आयी और उनसे अपने बेटे को जीवन दान देने की भिक्षा रो रो कर माँगने लगी। गौतम ने वृद्धा को बहुत आश्वासन दिया और जीवनदान देने की प्रतिज्ञा की। मगर अपनी प्रतिज्ञा के साथ उन्होंने एक छोटी सी शर्त भी रखी। उन्होंने वृद्धा से आग्रह किया कि वह जाकर नगर के किसी भी घर से मुट्ठी भर सरसों के दाने माँग लाय और वे बालक को जीवन दान दें देंगे। वृद्धा आशा की अधीरता में उठी और चली। उसके जाते जाते गौतम ने कहा 'वृद्धा'! दाने उसी घर से लाना जहाँ पर किसी की मृत्यु न हुई हो।' वृद्धा आकांक्षा तथा आशा की डोर पकड़े घर घर घूमने लगी। उसे मुट्ठी भर सरसों सब ने बड़ी खुशी से दिया मगर उसके पूछने पर कि घर में किसी की मृत्यु तो नहीं हुई सबने अपने अपने दुखड़े रोने शुरू किये। किसी ने अपने पिता, किसी ने माता, तथा किसी ने अपने बालक की अकाल मृत्यु की कहानी कही। वृद्धा हताश न हुई; वह धैर्य से नगर के हर घर में गयी मगर हतभाग्य वृद्धा को सबने निजी दुखड़े सुनाए। वृद्धा खाली हाथ तथागत के पास आयी और कहा—'महाभाग! सरसों तो मुझे बहुत मिला; मगर ऐसा घर कोई न मिला जहाँ पर किसी न किसी की मृत्यु न हुई हो।' गौतम ने जीवन की अनित्यता, ईश्वर की शक्ति तथा जीवन-हित के अमोघ अस्त्र धैर्य पर प्रवचन दिया। मृत्यु, धैर्य तथा ईश्वरीय नियमों की शक्ति मानव जीवन के अमिट सत्य हैं।

महाभारत में एक कथानक है। जब युधिष्ठिर पाठशाला पहले पहल गये तो उन्हें गुरु ने पाठ पढ़ाया-'क्रोध पर विजय सच्ची मानवता है।' बालक युधिष्ठिर ने पाठ हृदयांकित कर लिया। दूसरे दिन

वे अपनी पोथी के एक भी पाठ याद करके न ले गये। शिक्षक बहुत क्रुद्ध हुए। उन्होंने युधिष्ठिर की खूब पूजा की और उन्हें इतनी मार मारी कि जिसका वर्णन नहीं मगर बालक युधिष्ठिर मुस्कुराता रहा; गुरु और भी क्रोधित हुए और अपनी मार फिर दुहराई मगर युधिष्ठिर फिर भी हँसते रहे। गुरु ने हताश होकर शिष्य से पूछा 'युधिष्ठर तुमने इतनी मार खायी और तुम्हें जरा भी दुःख नहीं। प्रतिज्ञा करो कि आगे सब पाठ याद करके ही पाठशाला आओगे ?' युधिष्ठिर ने कहा-'गुरुवर। मैं अभी तक आपकी पहली शिक्षा को याद कर रहा था—'क्रोध पर विजय सच्ची मानवता है।' 'मैंने आज यह पाठ पूरी तरह याद कर लिया! गुरु नत मस्तक हुए और बालक को हृदय से लगा लिया।' क्षमा और शान्ति जीवन के अटल सत्य हैं।

यदि नाटककार प्रेम, आकर्षण, लालसा, मरण, धैर्य, श्रद्धा तथा क्षमा और शान्ति के अटल सत्य अपने नाटकों में प्रदर्शित कर सके तो उसकी महत्ता बनी रहेगी। ये सत्य हमें जीवन में पग पग पर दिखलाई देते हैं। इन्हीं के सहारे जीवन, जीवन बनता है। इन्हीं की मर्यादा की रक्षा में जीवन की सार्थकता है। बिना इनके जीवन नीरस, शुष्क तथा उथला रहता है। प्रेम, जीवन की नौका है, आकर्षण तथा लालसा उसके पतवार हैं; क्षमा श्रद्धा, तथा शान्ति उसका निर्दिष्ट स्थान है।

निष्कर्ष-रूप में हम यह कह सकते हैं कि यदि नाटक के वातावरण में सुख, दुःख; हर्ष, विषाद; श्रद्धा, विद्रोह; क्रोध तथा क्षमा का प्रसार है तो नाटक जीवन के समीप है और जीवन उसमें पूर्णतः प्रतिबिम्बित है। जीवन के सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब में ही नाटक का महत्व है; उसकी सफलता है; उसकी श्रेष्ठता है।

२

मिश्रितांकी की कला

मिश्रितांकी की कला का प्रश्न, नाटकों के अंकों तथा गर्भांकों के सृजन तथा उनके सामंजस्य में उठता है। वातावरण की दृष्टि से हम मिश्रितांकी की श्रेष्ठता पर विचार कर चुके हैं; परन्तु देखना यह है कि मिश्रितांकी के अंक-सृजन में यह शैली कहाँ तक वांछित है। यदि हम शेक्सपियर लिखित दुःखान्तकीयों का अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होगा कि उन्होंने सभी श्रेष्ठ दुःखान्तकीयों के अंकों के बीच में किसी न किसी प्रहसनात्मक दृश्य का समावेश कर दिया है। इन प्रहसनात्मक दृश्यों में हम निर्मम हास्य तथा निम्न कोटि के मनुष्यों का भद्दा तथा अशिष्ट संवाद सुनते हैं। शेक्सपियर की कला से अनभिज्ञ आलोचकों ने इन दृश्यों तथा अंकों को किसी अन्य लेखक की कृति प्रमाणित करने की चेष्टा में अनेक प्रमाण इकट्ठे किए हैं। परन्तु श्रेष्ठ आलोचक जो शेक्सपियर की विशाल नाटक-प्रतिभा से परिचित थे इस शैली को नाटककार की प्रतिभा तथा जीवनाध्ययन के अनुकूल समझते हैं। फिर भी मिश्रितांकी की कला पर दो विभिन्न मत नाटक-साहित्य की आलोचना में दृष्टिगोचर होते हैं।

कुछ आलोचकों का मत है कि दुःखान्तकी की रचना में किसी भी प्रहसनात्मक दृश्य का प्रदर्शन साहित्यिक दृष्टि से भद्दा तथा नाटकीय दृष्टि से नितान्त असंगत है। इन लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि इस प्रकार के मिश्रित अंकों के फल-स्वरूप जो नाटक लिखा जायगा वह साहित्य न होकर ऐसी राक्षसी वस्तु होगी जिसके अध्ययन से मानव समाज रसातल की ओर प्रस्थान करेगा। मिश्रितांकी के विरोधी और विपक्षी सैद्धान्तिक रूप से इसका विरोध करते हैं। उनका कथन है कि इस प्रकार के अंकों के सम्मिश्रण से न तो भय

की उत्पत्ति होती है न करुणा की; और बिना इन दोनों भावनाओं के उत्कर्ष के दुःखान्तकी अपने ध्येय की पूर्त्ति नहीं कर सकती। भय और करुणा के उत्कर्ष में ही दुःखान्तकी की सफलता है अन्यथा नहीं।[1]

इस धारणा के साथ-साथ विपक्षी दल का यह भी कथन है कि यदि मिश्रितांकी में दोनों तरह के अंक अथवा गर्भांक साथ साथ रहेंगे तो दोनों एक दूसरे के प्रभाव का प्रतिकार करते रहेंगे। उनका यह विचार है कि यदि नाटककार दुःखान्तक दृश्य के बाद कोई प्रहसनात्मक दृश्य उपस्थित करेगा तो दुःखान्तक दृश्य का न तो कोई समुचित प्रभाव दर्शकों पर पड़ेगा और न करुण रस का ही सम्पूर्ण परिपाक हो पाएगा। दर्शकों को यह प्रतीत होगा कि वे ज़बरदस्ती करुणा जगत से उठा कर एक हास्यपूर्ण जगत में डाल दिए गए हैं। दुःखान्तक दृश्य देखते देखते दर्शकों की स्वाभाविक इच्छा यह रहती है कि दुःखान्तकी का अन्त शीघ्रातिशीघ्र ज्ञात हो जाय और वे जान लें कि नाटक के अन्त में नायक की क्या गति हुई। दर्शक वृन्द नायक की प्रगति दुःखान्तक पथ पर देखते रहते हैं और जब इस प्रगति में बाधा पड़ती है तो दर्शकों को क्रोध आता है और उनकी करुण भावना प्रहसन की चोट से हताहत हो जाती है। वे समझने लगते हैं कि नाटककार ने सम्पूर्ण प्रभाव का प्रतिकार कर दिया।

मिश्रितांकी के समर्थक उपरोक्त सिद्धान्तों से बिलकुल सहमत नहीं है। हस्य द्वारा करुण रस के प्रतिकार के सम्बन्ध में उनके सिद्धान्त बिलकुल भिन्न हैं। उसके सिद्धान्तों के अनुसार यदि नाटककार दुःखान्तक दृश्यों के बाद प्रसहनात्मक दृश्य प्रस्तुत करता है तो बजाय इसके कि करुण भावना का प्रतिकार हो, करुण-भावना और भी गहरी हो जाती है और उसका प्रभाव दर्शकों पर तीव्र रूप से

1. देखिए—'दुःखान्तकी' खण्ड

पड़ता है। मिश्रितांकी के समर्थकों की यह धारणा है कि दो विरोधी रसों के साथ-साथ परिपाक से दोनों रसो की पूर्ण हृदयग्राही व्यञ्जना होती है। उदाहरण के लिए यदि नाटककार पीड़ायुक्त, दुःख-पूर्ण तथा भयावह दृश्य उपस्थित करने के बाद हास्य तथा विनोद का दृश्य प्रस्तुत करता है तो इन दोनो रसो के विरोधाभास के कारण, दोनों का प्रभाव बहुत आकर्षक तथा हृदयग्राही हो जाता है। जिस प्रकार घोर अंधकार से निकलने पर हमें थोड़ा सा प्रकाश भी भला मालूम होता है और वह प्रकाश हमे लुभा लेता है, उसी प्रकार पीड़ायुक्त दृश्यो के प्रदर्शन के बाद प्रहसनात्मक दृश्यों का प्रदर्शन अत्यन्त मनोहर तथा चित्ताकर्षक होता है। इसके साथ-साथ यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि केवल एक ही रस के परिपाक से दर्शक-वृन्द ऊब उठता है, खीझ जाता है तथा हताश हो जाता है; और इस प्रकार की भावना से नाटक के मुख्य उद्देश्य की पूर्त्ति नहीं होती। नाटको का मुख्य उद्देश्य है आनन्द-प्रदान और विरोधी रसों के परिपाक से ही आनन्द की सृष्टि होती है अन्यथा नहीं। इसमें तो कदाचित् सन्देह नहीं कि यदि बहुत देर तक नाटककार करुणा का ही सचार दर्शकों में करता रहा तो सभव है वे विह्वल हो जायें और जीवन की आनन्दपूर्ण शक्तियों की ओर से विमुख हो जायें अथवा साहस खो बैठें। दुःखान्तक दृश्य देखने के पश्चात् जब हास्य-पूर्ण दृश्य देखने को मिलते हैं तो दर्शकों की अनुभूति गहरी, उनका आनन्द दुगना तथा जीवन के प्रति उनका विश्वास दृढ़ हो जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीन आलोचकों के सिद्धान्तो मे मिश्रितांकी रचना, अंक सृजन की दृष्टि से, वर्जित है। कदाचित् इस सिद्धान्त के बनाने में उस समय का सामाजिक वातावरण तथा लेखकों की प्रतिभा का विशेष ध्यान रखा गया होगा। जैसा कि हम दुःखान्तकी खण्ड में देख चुके हैं, भय और करुणा का प्रसार ही

आलचकों का प्रमुख ध्येय था जिसके द्वारा वे जीवन का परिमार्जन चाहते थे। उन आलोचकों के सीमित मनोवैज्ञानिक ज्ञान ने कदाचित् इस बात की कल्पना भी न की होगी कि मानव अनुभूति, भावनाओं के विरोधाभास द्वारा और भी गहरी तथा आकर्षक बनाई जा सकती है। अपने इस सीमित ज्ञान के फल-स्वरूप ही आलोचकों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया होगा। श्रेष्ठ कलाकारों की कमी भी कदाचित् इस सिद्धान्त के पीछे रही हो। किसी भी नाटक में केवल एक ही रस का परिपाक अत्यन्त सरल होता है, परन्तु एक ही नाटक में स्वाभाविक रूप से एक से अधिक रसों का परिपाक केवल श्रेष्ठ कलाकार ही कर सकते हैं। यह तो केवल वही कलाकार कर सकता है जिसने जीवन के अगणित स्थलों तथा अनेक रसों के अनुभव को अपने निजी अनुभव में इस प्रकार घुला मिला लिया कि जीवन के सारे गुप्त रहस्य उसके सामने खुले पड़े हों और जिसने अपनी कल्पना द्वारा, सम्पूर्ण जीवन के आधार जो दैवी सिद्धान्त संसार को परिचालित कर रहे हैं, पूर्णतः हृदयंगम कर लिया हो। जो नाटककार अपनी प्रतिभा द्वारा जीवन की अनेकता के पीछे एकता विषमता के पीछे विश्वास तथा श्रद्धा की झाँकी देखता है वही मिश्रितांकी का सफल लेखक हो सकता है। केवल वही कलाकार जिसकी हथेली पर सांसारिक जीवन का यथार्थ तथा उसकी शालीनता और आध्यात्मिक संसार का सार स्थित है और जो इन दोनों में ऐक्य स्थापित कर सके मिश्रितांकी का श्रेष्ठ नाटककार है।

नाटक की परिभाषा में हम यह सिद्धान्त स्थिर कर चुके हैं कि नाटक जीवन का अनुकरण तथा उसका प्रतिबिम्ब है। इस सिद्धान्त के अनुसार कदाचित् मिश्रितांकी जीवन के सबसे निकट है। सुखान्तकी जीवन के सुख, हर्ष तथा आनन्द और दुःखान्तकी जीवन के दुःख, पीड़ा, तथा नैराश्य का दिग्दर्शन कराती है; परन्तु मिश्रितांकी ही जीवन के सुख दुःख; हर्ष पीड़ा; आनन्द तथा नैराश्य का एक

साथ ही परिचय देती है। इस दृष्टि से तो मिश्रितांकी ही सर्व-श्रेष्ठ नाटक प्रतीत होता है। वास्तव में नाटककार के ऊपर मिश्रितांकी रचना में उत्तरदायित्व कहीं अधिक बढ़ जाता है। सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, आनन्द और नैराश्य का समुचय, श्रेष्ठ तथा श्रद्धायुक्त प्रदर्शन साधारण श्रेणी का कलाकार कदाचित् सफलता पूर्वक नहीं दे सकता। यद्यपि मिश्रतांकी साहित्यिक सिद्धान्तों द्वारा वर्जित कर दी गई है परन्तु जीवन सिद्धान्त उसका पूर्ण समर्थन करता है।

मानव-मनोविज्ञान के सिद्धान्त मिश्रितांकी का समर्थन पूर्णता से करते हैं। मान लीजिए कि आपको सागर की लहरों की ऊँचाई का सम्यक ज्ञान प्राप्त करना है। आप सागर के किनारे पूर्णिमा की रात्रि में जा पहुँचे। पूर्ण-चन्द्र से आलोकित लहरों की चढ़ाई आपने ज्वार के रूप में देखा और आपने ज्वार के फलस्वरूप लहरों की ऊँचाई मन में स्थिर कर ली और उसे ही स्वाभाविक ऊँचाई मान ली। तत्पश्चात् आप फिर सागर तट पर मध्यान काल में किसी दूसरे दिन जा पहुँचे। आपने देखा कि सागर में ज्वार नहीं; सागर शान्त है; उसकी लहरें स्वाभाविक रूप से थोड़ी ही ऊँची उठकर फिर शान्त हो जाती है। आपको भ्रम होना स्वाभाविक ही है कि कहीं लहरों का पिछला माप ग़लत तो नहीं? कहीं यह नया माप ही तो नहीं ठीक है? ठीक यही दशा हमारे मानस की भी है। यदि आपने उसे हर्ष तथा आनन्द से उद्वेलित तथा तरंगित देखा तो आपको यह भ्रम होगा कि वास्तव में जीवन हर्ष-सागर का ज्वार स्वरूप है। यदि आपने उसे दुःख से सन्तप्त, मध्यान में, शान्त लहरों के समान देखा तो यह भ्रम होगा कि जीवन दुःख-सागर का भाटा स्वरूप है। दोनों दृश्यों के संतुलन तथा अनुपात में ही लहरों की यथार्थ तथा स्वाभाविक ऊँचाई का अनुभव हो सकता है। मिश्रितांकी जीवन के विशाल अनुभवों का संतुलन प्रस्तुत करती है। उसका स्थान श्रेष्ठ है; उसकी कला श्रेष्ठ है; उसका प्रभाव श्रेष्ठ है।

मिश्रितांकी की समस्या तथा उसकी कला पर आलोचकों के कथन निम्नलिखित हैं—

३

आलोचकों के वक्तव्य

सर फ़िलिप सिडनी—'बहुत से अंग्रेज़ी नाटक न तो सुखान्तकी हैं और न दुःखान्तकी। उनमें राजाओं और विदूषकों का जबरदस्ती संयोग मिलाया गया है जिसके कारण उनके पढ़ने के बाद न तो भय और न करुणा का संचार होता है और न वास्तविक आनन्द ही मिलता है। बहुत से नाटकों के सुखान्तक भाग में केवल अश्लील गाली गलौज है जिससे हँसी तो आती है मगर वह आनन्द नहीं मिलता जो श्रेष्ठ सुखान्तकी में मिलता है।'[1]

सर आर० हावर्ड—'हमारे नाटक वास्तव में उच्चकोटि के हैं। मगर यह मानना पड़ेगा कि उनमें और नाटकों के विपरीत हास्यपूर्ण और कारुणिक स्थलों का अस्वाभाविक मिश्रण है। केवल बेन जानसन ही ने यह सिद्धान्त नहीं रखा। मेरे विचार में दोनों स्थलों को अलग ही अलग रखना चाहिए क्योंकि एक दूसरे के उद्देश्य में विरोध है। नाटककारों को चाहिए कि वे अपने दर्शकों को केवल एक ही वातावरण और विचार-धारा में रखें। यदि उनमें नाटककार दुःखी भावनाएँ ला चुका है तो उसके साथ ही साथ हास्य का समन्वय ठीक नहीं। दर्शक इस मिश्रण से प्रसन्न नहीं होंगे और दोनों ही भाव एक दूसरे के प्रतिकार के कारण अपना पूरा प्रभाव न डाल पायेंगे।'[2]

---

१ सर फ़िलिप सिड्नी—'ऐन एपालोजी फार पोयेट्री'

२ सर आर० हावर्ड—'प्रिफेस टु फोर न्यू प्लेज'

जोजेफ़ ऐडीसन—'मिश्रितांकी अंग्रेज़ी साहित्य का सबसे घृणित और राक्षसी आविष्कार है। हास्य और दुःख को मिलाने का प्रयास इतना अस्वाभाविक और अनुचित है कि इस विषय पर कुछ और अधिक कहना भाषा का दुरुपयोग होगा।'

सैमुएल जानसन—"साहित्यकारों ने मिश्रितांकी की आलोचना भूल में पड़ कर की है। किसी भी तर्क से यह प्रयोग बुरा नहीं कहा जा सकता। जब हम यह मानते हैं कि नाटक जीवन का सम्पूर्ण प्रति-बिम्ब होना चाहिए तो हमारी यह आलोचना और भी भ्रममूलक हो जायगी। सांसारिक जीवन में हम रोज सुख-दुःख, हास्य-रुदन, सौभाग्य दुर्भाग्य का मिश्रण देखते हैं और नाटक को, स्वाभाविक रूप से इसी जीवन का यथार्थ प्रतिबिम्ब होना चाहिए। सफल नाटक-कारों ने दोनों विरोधी भावों का प्रयोग बड़े प्रभावपूर्ण रूप में किया है। मिश्रितांकी में जहाँ हास्य है वहाँ रोदन भी है। यही सम्मिश्रण हम यथार्थ जीवन में भी पाते हैं।

परन्तु मिश्रितांकी की सफलता और स्वाभाविकता लेखक की श्रेष्ठ प्रतिभा पर ही निर्भर है। हर एक लेखक हास्य और रोदन का हृदयग्राही मिश्रण शायद ही कर सके। शेक्सपियर में यह प्रतिभा थी।"

सैमुएल जानसन—"शेक्सपियर के नाटक न तो पूर्ण रूप से सुखान्त हैं और न दुःखान्त। उनकी एक अलग ही श्रेणी है। उनके नाटक मानव जीवन का पूर्ण परिचय देते हैं। जीवन के सुख-दुःख आनन्द और विलाप, बुरे और भले, सभी का चित्र हमें उनके नाटकों में मिलता है। इस दुनियाँ की विपरीत गति और इसके नियंत्रण-हीन जीवन की भी उन पर अद्भुत छाया है। हम रोज़ ही देखते हैं कि किसी की हानि हो रही है तो किसी को लाभ हो रहा है, कहीं आनन्द है तो कहीं प्रलाप है, कहीं प्रेम है तो कहीं उन्माद और घृणा है; जहाँ विवाह होना चाहिए वहाँ चिर वियोग होता है, जहाँ चिर वियोग की संभावना है, दैव गति से वहाँ विवाह होता है। ज्ञानी,

प्रेमी, विद्वान, युवा जीवन में सफल नहीं होते, अज्ञानी तथा अशिष्ट सफल हो जाते ह। इसी विस्तृत तथा विरोधी जीवन का उनके नाटकों मे हमें सपूर्ण चित्र मिलता है। श्रेष्ठ नाटककारों ने इसी जीवन के कुछ स्थलों को चुन कर नाटक रचना की है। कभी उन्होंने किसी हत्या का कथानक लिया, कभी किसी भयानक घटना को चुना, कभी हास्यपूर्ण स्थल ढूँढे कभी अविकल रोदन के दृश्य दिखाये और इन्हीं के आधार पर दो तरह के नाटक—सुखान्तकी तथा दुःखान्तकी की रचना की।

शेक्सपियर में, एक ही नाटक द्वारा हँसाने और रुलाने की अपूर्व प्रतिभा थी। उनके सभी नाटकों मे गंभीर तथा विनोदी पात्र हैं और जैसे जैसे नाटक का कथानक आगे चलता है वैसे ही वैसे सुख-दुःख, भय करुणा, हास्य-रुदन का प्रस्फुटन होता रहता है।

साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से ऐसे नाटक काव्य के सिद्धान्तों का उल्लंघन करते हैं। परन्तु आलोचना के नियमों के ऊपर हम नहीं निर्भर रह सकते—हमे जीवन की ओर भी दृष्टि डालनी चाहिए। मिश्रतांकी में हम काव्य के उद्देश्य की पूरी सफलता देख पड़ती है। ये नाटक जीवन के समीप हैं। कभी उनमे हम हँसी की बौछार देखते हैं तो कहीं हमें आंसुओं की धार मिलती है, कभी महान आत्माएँ दुःखी देख पड़ती है, कभी विदूषक सुखी देख पड़ते हैं। जीवन के इस संपूर्ण द्वन्द्व का ये बड़ा सफल परिचय देते हैं।

सुख दुःख के विरोधी भावों से दोनों का अनुभव बड़ी तीव्रता से होता है। हम एक दृश्य से दूसरे विरोधी दृश्य का आनन्द बड़ी सफलता में पाते हैं। यह भाव परिवर्तन ही आनन्द का स्रोत है।"[1]

जान ड्राइडेन—"मिश्रितांकी के बारे में यह कहा जाता है कि हम उन्हें देख कर अपने मन में कोई स्थायी भाव नहीं ला पाते। यदि हम

---

[1] सैमुएल जानसन—'प्रेफेस टु शेक्सपियर'

कोई दुःखान्तक-अंक देखें तो उसके बाद शीघ्र ही किसी सुखान्तक अंक का आनन्द हम नहीं पा सकते। एक भाव-संसार से दूसरे विरोधी भाव-संसार में हम आसानी से नहीं आ सकते। परन्तु यह सिद्धान्त ग़लत है और यह विचार भ्रम मूलक है।

इसके विपरीत यह देखा गया है कि किसी भद्दी तथा अरुचिकर वस्तु के देखने के बाद किसी आकर्षक वस्तु को देखने के लिए हमारी बड़ी इच्छा होती है। हम बहुत जल्द एक संसार से दूसरे संसार में आ जाते हैं। इसके साथ साथ किसी अरुचिकर वस्तु के सम्पर्क में सुन्दर वस्तु की अच्छाई और उसका आकर्षण और भी बढ़ जाता है।

बहुत देर तक गंभीर रहने से भी हमारी आत्मा पर एक तरह का बोझ मालूम होता है। हमें शीघ्र ही हास्य की आवश्यकता प्रतीत होती है। जिस प्रकार से अंकों के बीच-बीच गीतों द्वारा हमारा मन बहलाव होता है उसी प्रकार मिश्रिताकी द्वारा हमारा स्वाभाविक मनोरञ्जन होता है। जटिल कथावस्तु, गम्भीर भाषा और लम्बे संवाद से जब हम ऊब उठते हैं तभी हमें मिश्रितांकी की उपयोगिता का अनुभव होता है। हास्य और गाम्भीर्य विरोधी भाव तो अवश्य हैं परन्तु दोनों एक दूसरे के सम्पर्क से अधिक रोचक हो जाते हैं। अंग्रेजी नाटककारों को ही मिश्रित नाटकों के लिखने का श्रेय प्राप्त है। उन्होंने नाटक शैली को इस नवीन प्रयोग द्वारा पुष्ट तथा श्रेष्ठ बनाया है। अन्य देश के तथा प्राचीन और आधुनिक नाटककारों को यह श्रेय प्राप्त नहीं।"

---

१. जान ड्राइडेन—'ऐन एसे आन ड्रैमैटिक पोयेज़ी'

५

पंचम खण्ड

प्रहसन

१

प्रहसन की पृष्ठ भूमि

सुखान्तकी के अन्तर्गत हम प्रहसन की गणना, साहित्यिक दृष्टि से कर सकते हैं। सुखान्तकी के विषयों तथा उसकी शैली का हम विस्तृत विवेचन कर चुके हैं। हम यहाँ निर्णय करेंगे कि प्रहसन की पृष्ठ भूमि, उसके विषय तथा उसकी निर्माण शैली की कौन-कौन सी विशेषताएँ हैं।

यदि सामाजिक रूप से देखा जाय तो प्रसहन उसी समय लिखे गये हैं जब समाज का सांस्कृतिक स्तर निम्न कोटि का रहा है। इस से यह सिद्धान्त निकल सकता है कि समाज की उन्नत अवस्था में श्रेष्ठ प्रहसनो की रचना दुष्कर कार्य होगा। कुछ अंशों मे यह सिद्धान्त मान्य हो सकता है। परन्तु जैसा हम इतिहास के अध्ययन से देखते आ रहे हैं उन्नति और अवनति का चक्र सदा से चलता आ रहा है और ज्योंही समाज उन्नत अवस्था को प्राप्त होता है, त्योंही समय ऐसा पलटा लेता है कि उन्नति अवनति मे परिणत होने लगती है। समाज के पुराने सिद्धान्त बदलने लगते हैं; उनका माप दण्ड भी परिवर्तित होने लगता है। इस ऐतिहासिक परिवर्त्तन में हमें सदैव समाज के कुछ न कुछ अंग ऐसे अवश्य मिलते रहेंगे जिन पर प्रहसन लिखा जा सकता है। सच तो यह है कि जीवन की प्रगति के साथ साथ कुछ ऐसे अवगुण भी उसमें निहित रहते हैं जिनको निकाल कर साहित्यकार प्रहसन रच सकते हैं।

इस विचार से यह सिद्धान्त निकलता है कि प्रहसन का समाज से चोली दामन का सम्बन्ध है। प्रहसन, समाज का ही सहारा लिए अपनी मर्यादा बनाए रख सकता है। इसके प्रतिकूल यह भी कहा जा

सकता है कि क्या एक व्यक्ति को लक्ष्य रूप रख कर प्रहसन रचना नहीं हो सकती है ? इसका उत्तर यह है कि एक व्यक्ति के जीवन का आधार लेकर प्रहसन लिखा तो जा सकता है परन्तु उसकी लोक-प्रियता न बढ़ पाएगी। इसकी लोक प्रियता बढ़ाने का केवल यही उपाय है कि जिस व्यक्ति विशेष का लक्ष्य कर हम प्रहसन लिखें उस व्यक्ति विशेष को किसी वर्ग विशेष का प्रतिनिधि मान लें। या अपने अनुभव द्वारा यह निश्चित कर लें कि उस व्यक्ति-विशेष में कौन से ऐसे दोष अथवा अवगुण हैं जो समाज में भी साधारणतः फैले हुए हैं। इस आधार पर सफल प्रहसन लिखे जा सकते हैं। ऐतिहासिक तथा साहित्यिक रूप से यह सिद्धान्त मान्य है कि प्रहसन सदैव समाज के सहारे ही फल फूल सकते हैं।

समाज से हमारा तात्पर्य केवल हमारे सामूहिक रहन-सहन से नहीं, वरन् समाज के अन्तर्गत हम अनेक विषयों का समावेश कर सकते हैं। राजनीति, अर्थ-शास्त्र, दर्शन, सभी का सम्बन्ध मानव समाज ही से है। इन सभी अंगों पर हम प्रहसन लिख सकते हैं। राजनीति के दाव-पेंच, वर्ग-वैमनस्य तथा मानव-प्रकृति के अनेक स्थल फलप्रद हो सकेंगे। यूनानी लेखक ऐरिस्टाफ़ेनीज़ के सुखान्तकी प्रहसनात्मक हैं और उसमें उन्होंने समकालीन लेखकों, कवियों और नाटककारों की खिल्ली इस वास्ते उड़ाई है कि उनमें तथा अनेक नाटककारों में राजनीतिक तथा साहित्यिक वैमनस्य था। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल से ही नाटककार समाज तथा उसके अनेक अंगों का प्रहसनात्मक प्रयोग करते आए हैं।

संस्कृत साहित्य में अलग से प्रहसन लिखने की साहित्यिक परम्परा नहीं ज्ञात होती। यद्यपि साहित्यिक नाटककारों ने प्रहसन की एक श्रेणी मानी है, परन्तु प्रहसन की आधुनिक परिभाषा के अनुसार हम संस्कृत साहित्य में प्रहसन लिखे हुए दुर्लभ हैं। हाँ, सुखान्तकी के बीच-बीच में सदा कोई प्रहसनात्मक दृश्य अवश्य रहते

हैं और वे नाटक के कार्य में सहयोग देते हैं। या यों कहिए कि इन प्रहसनात्मक दृश्यों से वस्तुत-विश्लेषण तथा उसकी जटिलताओं को सुलझाया जाता है। संस्कृत साहित्य में प्रहसन की न्यूनता होने का कारण, समाज की उन्नत दशा तथा आदर्शवादी नाटक-रचना की परम्परा, मालूम होता है। आदर्श-वादी रचनाओ में प्रहसन की कोई उपयोगिता नहीं और समाज की समुन्नत दशा में प्रहसन की आवश्यकता ही क्या?

हिन्दी साहित्य में प्रहसन लिखे तो गए मगर उन पर अँग्रेजी साहित्य का इतना गहरा प्रभाव है कि कभी-कभी उनकी मौलिकता पर भ्रम होने लगता है। पहले पहल तो हिन्दी में कुछ अँग्रेजी दुःखान्तकी की अनुवाद प्रथा चली, तत्पश्चात् शेक्सपियर के सुखान्तकीयो का अनुवाद शुरू हुआ और अनुवादकों को 'मर्चेन्ट आव विनिस' तथा 'कामेडी आव एरर्स' अधिक रुचिकर रहे। इन अनुवादों में, लेखकों ने कभी वातावरण तथा कथानक और पात्र ज्यों के त्यों रखे हैं कभी उनको भारतीय आवरण पहना दिया है। हिन्दी में प्रहसन प्रियता उन्नीसवीं शताब्दी से आरम्भ हुई, जिससे प्रहसन के सामाजिक सम्बन्ध पर काफी प्रकाश पड़ता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय जनता तथा भारतीय समाज पर पाश्चात्य सभ्यता का रंग चढ़ने लगा था। अंग्रेजी शिक्षा तथा अंग्रेजी भाषा के माध्यम ने समाज को इतना दबोच लिया था कि धीरे-धीरे भारत अपनी प्राचीन संस्कृति तथा आचार-विचार से मुँह मोड़ कर समाज को अंग्रेजी के रंग में रग देने को उत्सुक था। समाज की इस परिवर्तित रूप रेखा तथा समाज की नकल करने की उत्सुकता पर लेखकों को प्रहसन लिखने का आमंत्रण मिला। इसी कारण इस काल में प्रहसनों की भरमार है। हिन्दी साहित्य के प्रहसन लेखकों में बालकृष्ण भट्ट, देवकीनन्दन त्रिपाठी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, राधारमण गोस्वामी तथा

किशोरी लाल गोस्वामी उल्लेखनीय हैं। अन्य प्रहसन लेखकों के बारे में श्री लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय का कथन मान्य है।

"परन्तु यह कहे बिना नहीं रहा जा सकता कि हिन्दी के हास्य रसात्मक ग्रन्थों में अधिकतर अर्थहीन प्रलाप देखने को मिला है। हास्य निम्न श्रेणी का है और व्यंग्य प्राणहीन। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, देवकीनन्दन त्रिपाठी तथा राधाचरण गोस्वामी को छोड़ कर अन्य लेखकों ने उच्चकोटि के तीक्ष्ण व्यग्य की सृष्टि नहीं की है। उनका परिहास असंगत और स्वाभाविकता की सीमा का उल्लङ्घन करने वाला है। मालूम होता है जबरदस्ती हास्य और व्यंग्य प्रकट करने का यत्न किया जा रहा है। एक तो पराधीन देश का हास्य ही क्या। दूसरे इन रचनाओं के पात्र समाज भी निम्न श्रेणी के हैं। अधिकांश पात्रों में हमें कोई बुड्ढा, शिशुवर, वेश्या, कुटनीयाँ, चरित्रहीन स्त्रियाँ, नशेबाज, मोटा महाजन, ओझा आदि ही मिलते हैं। इस अशिक्षित और असंस्कृत जन समूह में हमें किसी अधकचरे समाज सुधारक और देश-सेवक के दर्शन भी हो जाते हैं। परन्तु उनका सामाजिक कुरीतियों का मज़ाक भी ऊटपटाँग, भद्दे और अश्लील ढङ्ग का है। उससे ऐसे परिहास की, जिसमें सत्य की भावना छिपी हो और जो सीधा हृदय पर जाकर चोट करे अवतारणा नहीं होती।"[1]

इसके पहले कि हम प्रहसन के विषय तथा उसकी शैली का विवेचन करें, हम प्रहसनों की लोकप्रियता का विवेचन करेंगे। सुखान्तकी के विपरीत प्रहसनों की लोकप्रियता अधिक है और कदाचित् रहेगी भी। जैसा कि हम पहले प्रकरणों में संकेत कर चुके हैं समाज की समुन्नत दशा में ही श्रेष्ठ सुखान्तकी तथा दुःखान्तकी की रचना हो सकती है। और ऐसा समय बहुत कठिनता से और

---

१ वार्ष्णेय—'आधुनिक हिन्दी साहित्य'

बहुत दिनों बाद आता है और यह समय थोड़े वर्षों के लिए ही रहता है। इसके फलस्वरूप हमें ऐतिहासिक प्रगति तथा सामाजिक उन्नति का मुँह देखना पड़ता है। प्रहसनों के लिए इस प्रकार की कोई बाधा नहीं। उनके लिए सब काल में, सभी समाज में, किसी विषयाधार पर अच्छा मिसाल मिल सकता है। इसी कारण प्रहसन अधिक लिखे गए हैं।

प्रहसनों की लोकप्रियता का दूसरा स्पष्ट कारण यह है कि हम जीवन की विषमताओं; उसके संघर्ष तथा उसके दिन प्रति दिन के आदान प्रदान के कष्टों से छुटकारा चाहते हैं। चाहे यह छुटकारा कुछ ही समय के लिए क्यों न हो हम सन्तुष्ट अवश्य हो जाते हैं। यह छुटकारा हमें प्रहसन बड़ी सरलता से दे देते हैं। इनका साधन है हास्य। हास्य, जीवन यात्रा का अपूर्व सम्बल है। ऐसा हास्य जिसमें छोटा से छोटा आदमी, अशिक्षित से अशिक्षित प्राणी भाग ले सके लोक प्रिय रहा है। जैसा कि हम सुखान्तकी-सिद्धान्त के विचारकों की परिभाषाओं से जान चुके हैं, सुखान्तकी का हास्य विशेषतः मानसिक होता है। मानसिक हास्य को पूर्णतः समझ कर उसका रस लेने में शिक्षा, सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि तथा परिष्कृत मस्तिष्क की आवश्यकता पड़ेगी। बिना इस तैयारी के सुखान्तकी का श्रेष्ठ स्वाद नहीं मिल सकता। परन्तु साधारण जनता के पास ये साधन कहाँ। मगर उनकी संख्या सब से अधिक है और दर्शक वर्ग में भी उन्हीं की संख्या सब से ज्यादा है। इससे यह स्पष्ट है कि इसी दर्शक वर्ग को ध्यान में रख कर प्रहसन लिखे गए हैं और इसी कारण उनकी लोक-प्रियता भी बनी रही है।

२

प्रहसन के विषय

यूनानी तथा अँग्रेजी साहित्यकारों में, जैसा हम उनके वक्तव्यों से प्रमाणित कर चुके हैं, प्रहसनो के लिए केवल निम्नकोटि का जीवन ही उपयुक्त माना है। सुखान्तकी खण्ड में हमने यूनानी तथा अंग्रेजी लेखकों के इस सिद्धान्त का विवेचन किया है; वही विवेचन यहाँ भी लागू होता है। साधारणतः इसका भी कारण वर्ग पक्षपात तथा श्रेष्ठ वर्ग पर श्रद्धा बनाए रखने का उद्देश्य था। परंतु इसमें सन्देह नही कि निम्न वर्ग में प्रहसन के विषय आसानी से मिल जाते हैं और लेखक को अधिक छानबीन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जितने स्पष्ट रूप से निम्न वर्ग का समुदाय प्रहसनात्मक विषय प्रस्तुत करता है उतना शायद श्रेष्ठ अथवा मध्यम-वर्गीय समुदाय नहीं कर सकता है। इस विचार से यह भ्रम-मूलक सिद्धान्त नहीं निकालना चाहिए कि श्रेष्ठ तथा मध्यम-वर्गीय समाज में प्रहसन के लायक विषय नहीं हैं। इन वर्गों में भी प्रहसनात्मक विषय हैं और बहुत हैं; मगर उसे ढूँढने तथा उनमें हास्य का परिपाक करने में कुछ विशेष साहित्यिक श्रम पड़ता है। अंग्रेजी लेखकों ने यह श्रम उठा नहीं रखा और फ्रांसीसी प्रहसनों को आदर्श-रूप मान कर उन्होने श्रेष्ठ प्रहसनों की रचना की है।

सुखान्तकी के बनिस्बत प्रहसनो की लोकप्रियता और उसके लिखने की सरलता पर अंग्रेजी लेखक जान ड्राइडेन के विचार बहुत कुछ अंशं में सही मालूम होते हैं। उनका कथन है कि सुखान्तकी तथा प्रहसन के लेखकों में वही अन्तर है जो एक कुशल चिकित्सक तथा एक नीम हकीम में होता है। दोनों ही रोगी को अच्छा करने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु एक का प्रयत्न वैज्ञानिक तथा विश्वस्त ढङ्ग का है और दूसरे का जोखिम में डालने वाला है। अधिकतर यही

देखा गया है कि कुशल चिकित्सक सफल रहते हैं और नीम हकीम असफल हो जाते हैं। उसी प्रकार प्रहसन दर्शकों को अधिक सफलता से वशीभूत कर लेते हैं।

प्रहसनों की लोक-प्रियता का एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कारण भी है। दुःखान्तकी अथवा सुखान्तकी के बनिस्बत प्रहसन की रचना सरल प्रतीत होती है। दुखान्तकी तथा सुखान्तकी प्रकरणों के अध्ययन से यह साफ़ पता चल जाता है कि दोनों की रचना में अनेक गुणों का होना आवश्यक है। लेखक को वस्तु-विश्लेषण, पात्र निर्माण, चरित्र-चित्रण, प्रगति तथा आपदकाल को सफल-रूप से प्रस्तुत करने में विशेष श्रम तथा सूझ बूझ की आवश्यकता पड़ती है। परन्तु लेखक यदि केवल हास्य प्रस्तुत कर सके तो हम उसकी सफलता मान लेते हैं—चाहे वह हास्य परिस्थिति द्वारा हो अथवा कथोपकथन द्वारा अथवा किसी भी प्रयोग से हो। इसका विवेचन हम आगे करेंगे। यदि लेखक इस हास्य प्रदर्शन के अन्तिम उद्देश्य में सफल है तो वह धन्य है। उससे हम और किसी प्रकार का फल नहीं चाहते। निर्माण शैली की सरलता तथा हास्य की व्यापकता ने अनेक लेखकों को आकर्षित कर उन्हें प्रहसन लिखने की प्रेरणा दी है। उन्हें कितनी सफलता मिली है इसका निर्णय हम हास्य की श्रेष्ठता, उसकी शिष्टता तथा उसकी व्यापकता की कसौटी द्वारा कर सकते हैं।[1]

साहित्यिक रूप से प्रहसन लिखने में पूर्ण सफलता फ्रांसीसी लेखकों को मिली है। इन लेखकों ने मानवी-भावों में से किसी एक को चुन कर उसे विषयाधार मान कर प्रहसन रचना की है। इस मानवी-भाव के चयन से ही उनके प्रहसनों की लोकप्रियता, व्यापकता तथा श्रेष्ठता बढ़ी है। कभी-कभी तो उनके प्रहसन, सुखान्तकी से टक्कर लेने लगते हैं। इसका कारण यह है कि इन फ्रॉसीसी

---

१ देखिए—'हास्य की परख'

लेखकों ने हास्य प्रदर्शन के साथ-साथ चरित्र चित्रण, चरित्र-विश्लेषण तथा मनोवैज्ञानिक विवेचन भी दिया है। अंग्रेजी के प्रहसनों पर फ्रांसीसी प्रहसन लेखकों का विशद प्रभाव पड़ा है।

अंग्रेजी साहित्य के प्रहसनों का मूल विषय मनुष्य की मानवी भावनाएँ हैं। लोभ गर्व, प्रतिहिंसा, अहं-भाव इत्यादि मानवी भावनाओं को लेकर श्रेष्ठ प्रहसनों की रचना हुई हैं। ये मानवी भाव जब समाज से टक्कर लेने लगते हैं और अन्त में मुँह की खाते हैं तो हममें उनके प्रति एक हास्य-पूर्ण घृणा उत्पन्न होती है। विशेषतः हमारा हास्य हमारी घृणा को छिपाए रहता है। सुधार की भावना से स्पष्टतः प्रेरित हो अंग्रेज़ी में प्रहसन कम लिखे गए है, हाँ शायद चरित्र के परिमार्जन का लक्ष्य कहीं-कहीं अवश्य दिखलाई पड़ता है। परन्तु उनमें श्रेष्ठ श्रेणी का हास्य निहित है। अंग्रेजी नाटककारो ने प्रहसनो में हास्य प्रस्तुत करने के अनेक ऐसे विषय भी चुने है जिनमें हिन्दी तथा संस्कृत के प्रहसनात्मक दृश्यों में बहुत हद तक साम्य दिखलाई देता है।

अंग्रेज़ी नाटककारों ने प्रहसन के विषयाधारो मे निम्नलिखित विषय फलप्रद माने है—

१—सौन्दर्य, ज्ञान तथा धन का अहं-भाव
२—मानसिक कुरूपता: असंगति, अनैतिकता
३—भ्रम-मूलक आशाएँ तथा विचार
४—निरर्थक वार्तालाप अथवा अनर्गल संवाद अथवा श्लेष-पूर्ण कथोपकथन
५—अशिष्टता, दुःशील तथा शाब्दिक तथा वितण्डावाद
६—प्रपञ्च-पूर्ण कार्य तथा अस्वाभाविक जीवन
७—मूर्खतापूर्ण कार्य
८—पाखण्ड तथा अस्वाभाविक आदर्श

६—शारीरिक स्थूलता

१०—मद्यपान तथा भोजन-प्रियता

११—विदूपक

संस्कृत के सुखान्तकांयो के प्रहसनात्मक दृश्यो तथा आधुनिक हिन्दी के प्रहसनो में हम इन्हीं उपरोक्त विषयों की पुनरावृत्ति देखते है। संस्कृत नाटकों का विदूषक प्रहसनात्मक दृश्यो का प्राण स्वरूप होता है। प्रहसन के विदूपक का संक्षिप्त विवेचन हम आगे करेंगे। भारतीय समाज में प्रहसन के लिए अभूत-पूर्व विषय प्रस्तुत हैं। कुछ पर प्रहसन रचे गए है और कुछ अभी तक अछूते ह। नाटककारों तथा प्रहसन-लेखको को अब तक निम्न-लिखित विषय अधिक प्रिय प्रतीत हुए हैः—

१—*गार्हस्थ्य जीवन* : (क) पति पत्नी के घरेलू झगडे ख) बहु-विवाह तथा अविवाहित जीवन (ग) बेमेल विवाह तथा तलाक (घ) श्वसुर, सास, जेठानी, नन्द तथा बहुओ के झगड़े। (ङ) मालिक तथा नौकर के झगड़े।

२—*समाजिक जीवन* : (क) शराब खोरी (ख) जुआ। (ग) असंगत प्रेम तथा वेश्यावृत्ति (घ) छल तथा कपट-पूर्ण व्यवहार (ङ) ऊँच नीच भेद (च) रूढ़िवादो चरित्र (छ) आधुनिक फैशन-युक्त जीवन (ज) प्राचीन शिक्षण पद्धति; पंडित तथा मौलवी का जीवन (झ) धार्मिक पाखण्ड (ण) हिंसा।

३—*राजनीतिक जीवन* : (क) दल-बन्दी (ख) स्वेच्छाचारिता (ग) फूटनीति।

४—*आर्थिक जीवन* : (क) मालिक मजदूर के झगड़े (ख) मध्य-युग के उपयुक्त दृष्टिकोण (ग) धन का अहंकार (घ) लेन-देन व्यापार।

५—*वैयक्तिक जीवन* : (क) शारीरिक स्थूलता (ख) भोजन-प्रियता।

६—*विदूपक* : यदि हम अंग्रेजी नाटककारों तथा संस्कृत और

..कारों के प्रहसन सम्बन्धी विषय चयन का अध्ययन करें ..म ज्ञात होगा कि तीनों साहित्यों में बहुत कुछ साम्य है। सामाजिक अवस्था का बहुत कुछ हाथ प्रहसनों के विषय प्रस्तुत करने में है और यदि हमें कोई खास विषय अंग्रेजी प्रहसनों में नहीं मिलता तो उसका कारण सामाजिक ही है। उदाहरण के लिए गार्हस्थ्य जीवन के चित्र हमें अंग्रेजी-प्रहसनों में नहीं मिलेंगे परन्तु सामाजिक विषयों की प्रचुरता मिलेगी; इसके साथ-साथ भारतीय समाज में प्रहसन के उपयुक्त सामग्री की सीमा नहीं।

३

प्रहसन का वर्गीकरण

१

परिस्थिति प्रधान

प्रहसनों को हम चार भागों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) परिस्थिति-प्रधान (२) चरित्र-प्रधान (३) कथोपकथन-प्रधान (४) विदूषक-प्रधान

परिस्थिति प्रधान—प्रहसनों में लेखक को कथा-वस्तु का सम्पूर्ण सहारा लेना पड़ता है। अपने अनुभव अथवा निरीक्षण से कलाकार कुछ ऐसी परिस्थितियों का निर्माण करता है जिनकी असंगति देख कर हँसी आती है। फिर वह उन परिस्थितियों को वस्तु में इस प्रकार सँजोता है कि हास्य स्वाभाविक रूप से प्रस्तुत हो जाता है। उदाहरण के लिए प्राचीन शिक्षण-पद्धति के पण्डित जी विद्यार्थी-गण से अपनी सेवा करा रहे है और उधर शिक्षा विभाग के डिप्टी साहब मुआयना लिखने आ रहे हैं; एक तरफ़ बुड्ढा वर बाजे-गाजे के साथ अष्ट-वर्षीया गौरी-भवेत से विवाह करने जा रहा है और दूसरी तरफ शारदा ऐक्ट के संरक्षक अपना लश्कर लिए आ पहुँचते हैं, अथवा

सास-बहू में झगड़ा होने के उपरान्त सास की विजय होती है परन्तु दूसरे ही क्षण श्वसुर के क्रोध-पूर्ण दण्ड प्रहार से सास की अधोगति भी होती है। इसी प्रकार के अन्यान्य जीवन-स्थल चुन कर उन्हें असामान्य रूप से प्रस्तुत कर नाटककार प्रहसन की रचना करते हैं। सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन कराने में परिस्थिति-प्रधान प्रहसन अधिक प्रभाव पूर्ण प्रतीत होंगे। इसका कारण यह है कि लेखक यदि परिस्थिति का सहारा न लेकर कथोपकथन अथवा विदूषक का सहारा लेगा तो लेक्चरबाजी द्वारा अथवा ऊपरी हास्य द्वारा ध्येय की पूर्त्ति करनी होगी। इन दोनों उपकरणों से सामाजिक कुरीति का जीता जागता चित्र दर्शकों के सामने न आ पाएगा। कोरे कथोपकथन से भी वह अपनी उद्देश्य पूर्त्ति चाहे तो कर सकता है मगर यह सर्वविदित है कि तर्क की शैली का प्रभाव कुछ ही लोगों पर पड़ता है परन्तु परिस्थिति के नग्न-चित्र से उद्देश्य-पूर्त्ति सरलता से होती है।

परिस्थिति-प्रधान प्रहसनों में लेखक को ऐसे स्थल चुनने चाहिए जो बहुत ज्यादा व्यापक हों। यदि परिस्थिति ऐसी है जो समाज के किसी खास वर्ग से ही सम्बन्धित है तो कदाचित उसकी लोक-प्रियता पर धक्का लगेगा। फिर केवल एक छोटे वर्ग से ही सम्बन्धित जीवन, वास्तविक जीवन नहीं और उस पर टिका हुआ साहित्य कदाचित् बहुत दिनों जीवित भी न रह पाएगा? इस सिद्धान्त से यह निष्कर्ष निकलता है कि परिस्थिति के चुनाव में जितनी अधिक व्यापकता रहेगी उतनी ही उसकी लोक प्रियता रहेगी तथा उसमें उतने ही अमरत्व के गुण रहेंगे।

परिस्थिति प्रधान प्रहसनों की सबसे बड़ी भूल अतिशयोक्ति का प्रयोग है। लेखक, सुधार की धुन में, वास्तविक जीवन धारा से इतने अलग होकर परिस्थिति का चुनाव करते हैं कि जिसको देखने के पश्चात् यह भावना जाग्रत होती है कि शायद ऐसा हमेशा तो नहीं होता। जब दर्शकों में ऐसी भावना उठ खड़ी हुई तो स्पष्ट है कि

प्रहसन असफल है। परिस्थिति के चुनाव में वास्तविक जीवन पर एक आँख लगाए रहना अत्यन्त आवश्यक है। इसके साथ ही साथ प्रहसनो को कुरुचिपूर्ण तथा अश्लील हास्य अथवा गाली गलौज के स्थलों से बचाना चाहिए। प्रगति-शील लेखक शायद इस नियम के प्रतिकूल कोई अन्य सिद्धान्त उपस्थित करें मगर यह सिद्धान्त सदैव मान्य रहा है कि कोरी वास्तविकता की भित्ति पर साहित्य कठिनाई से ही महान हो सका है; उसके लिए महान प्रतिभा की आवश्यकता है। हिन्दी साहित्य के प्रहसन साधारणतः परिस्थिति प्रधान हैं।

२

चरित्र प्रधान

चरित्र-प्रधान प्रहसनों में मानवी-भाव ही आधार स्वरूप रहते हैं। क्रोध, गर्व, अहंकार, लालसा, लोभ, मोह, पाखण्ड, द्वेष, घृणा इत्यादि मे आधार-भूत चरित्र-प्रधान प्रहसनो का निर्माण हुआ है। पात्र अथवा नायक इन्हीं मानवी-भावों में से एक अथवा दो का प्रतीक रहता है। जैसा कि हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं फ्रांसीसी प्रहसन-लेखकों ने इस दृष्टि से अपूर्व सफलता पायी है और अनेक श्रेष्ठ अंग्रेजी प्रहसनों में भी यही सिद्धान्त मान्य रहा है।

इसमें सन्देह नहीं कि उपरोक्त मानवी-भाव प्रत्येक जीवित मनुष्य मे रहते हैं मगर ये मानवी भाव प्रहसन के अनुकूल तभी होते हैं जब वे अपनी मर्यादा उल्लङ्घन का यत्न करते हैं। जब तक ये मानवी भाव मर्यादित रहते हैं उनमें नाटकीय तत्त्व नहीं मिलते अथवा ये नाटकीय उपयोग लायक नहीं होते। उदाहरण के लिए सभी प्राणियों में क्रोध, गर्व तथा लालसा की भावना स्वभावतः रहती है परन्तु एक समय ऐसा आता है कि मनुष्य जीवन से खीझ कर धीरे-धीरे क्रोध की मात्रा अपने में बढ़ाने लगता है। क्रोध बढ़ते बढ़ते-ऐसा हास्यास्पद हो जाता है कि प्रहसन-कार उसी बढ़े हुए क्रोध को ऐसे दृष्टि कोण से देखता है

कि बरबस उस चरित्र पर हँसी आने लगती है! मान लीजिए कि नायक को क्रोध अपने दफ्तर के मालिक पर इसलिए है कि वह उसको विवाह करने के लिए छुट्टी की अर्जी नामंजूर कर चुका है। धीरे धीरे उसका क्रोध बढ रहा है; और यदि उसका क्रोध सफल हो जाय तो वह जाकर मालिक से बदला ले, मार पीट करे; दुःखान्तकी की वातावरण प्रस्तुत कर दे; मगर उसका क्रोध यह रास्ता न पकड़ कर उस पात्र विशेष को ही अपना शिकार बनाता है। इसके फलस्वरूप वह अपने जूते को पटकता है, पाजामे की जगह कोट पहनता है और अपनी टोपी छड़ी पर टाँग कर चलता है। इस दृश्य को प्रहसनकार शीघ्र ही समेट लेता है। प्रहसन मानवी-भावों के अतिक्रमण के निष्फल रूप हैं। हमें चरित्र-प्रधान प्रहसनो की श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिए केवल फ्रांसीसी तथा अंग्रेज़ी सिद्धान्तों का सहारा न लेकर तर्क और मनोविज्ञान का भी सहारा लेना वाञ्छनीय जान पड़ता है। पहले तो यह स्पष्ट ही है कि चरित्र-प्रधान प्रहसनों के निर्माण में श्रेष्ठ नाटकीय कला की आवश्यकता पड़ती है। इसके विपरीत यह कहा जा सकता है कि क्या परिस्थिति प्रधान प्रहसनो में कला की आवश्यकता नहीं? इसका उत्तर यह है कि है अवश्य परन्तु उस कोटि की कला की नहीं जो चरित्र-प्रधान प्रहसनों में प्रयुक्त होती है। परिस्थिति-प्रधान-प्रहसन कार केवल असाधारण तथा असामान्य परिस्थिति-इकट्ठी कर आसानी से हास्य प्रस्तुत कर देता है; उसकी खोज केवल जीवन के मोटे मोटे स्थलों तक सीमित रहती है; उसकी कला की सफलता इसी में है कि वह कुछ ऐसे सशय तथा विस्मय में डालने वाले स्थल आकस्मिक रूप से प्रस्तुत कर दे और उन्हें ऐसे हास्यास्पद स्थलों से संबंधित कर दे कि उनमें रोचकता आ जाय।

इसके विपरीत चरित्र प्रधान-प्रहसन कर मानव-हृदय को जटिलताओं में चक्कर काटता हुआ, अनुभव और निरीक्षण का आधार लिए, उसके भावों तथा उनकी प्रतिक्रियाओं को समझता हुआ इधर

उधर प्रहसनात्मक अंशों को बटोर कर हास्य प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। इस प्रयास में श्रेष्ठ कला का उपयोग सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए एक मदारी अनेक प्रकार के बन्दर इकट्ठे करके उन्हें छोड़ देता है, उनमें कोई हाथ पर हाथ धरे बैठा है, कोइ एक आंख बन्द किए हुए अपना सर खुजला रहा है, कोई दुम को गर्दन मे जंज़ीर समान बांध रहा है, कोई शीर्षासन कर रहा है और कोई प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ अपनी प्रेयसी से जुएँ निकलवा रहा है। यदि आप कहें कि मदारी की कला महान है जिसने यह दृश्य प्रस्तुत कर दिए तो हमें आपकी आलोचनात्मक प्रतिभा पर सशय होगा। परन्तु एक दूसरे मदारी को लीजिए। उसने अपना डमरू बजाकर एक बन्दर दम्पति जगाया। डमरू की गति के साथ ही साथ दम्पति नाचने लगे। ज्यों ही डमरू की गति धीमी हुई श्रीमती ने अपनी ओढ़नी ओढ़ी और मायके की ओर प्रस्थान की तैयारी की। बन्दर ने भी एक मोढ़े पर बैठ कर अपनी पगिया सँवारी, मुँह चिकनाया और एक छोटी लाठी ले साम दाम, दण्ड, भेद सबका उपयोग कर उनको वापस लाने की ठानी। ज्यों ही डमरू की ध्वनि और गति बन्द हुई बन्दर दम्पति ज्यों का त्यों साधुभाव से शान्त बैठ गया। वास्तव में इस मदारी में, उसके डमरू में, उस डमरू की ध्वनि और गति में एक विशेष प्रकार की कला है। चरित्र प्रधान प्रहसन लेखक में इसी श्रेष्ठ कोटि की कला दिखलाई देगी।

इसके साथ ही साथ चरित्र-प्रधान प्रहसन हमारे हृदय को इस लिए छूते रहते हैं कि उनमें हमारी ही भावनाओं का दिग्दर्शन मिलता है। उन्हें देख कर हमें अपने पर हँसी आती है। प्रहसन हमारे मानवी-भावों का हास्यात्मक रंगस्थल है।

३

कथोपकथन प्रधान

जिन प्रहसनों में कथोपकथन द्वारा हास्य प्रस्तुत किया जाता है उनकी भी आधुनिक काल मे विशेष लोक प्रियता है। आधुनिक काल वाक्-चातुर्य का काल है। वाक्चातुर्य एक श्रेष्ठ कला है जिसमें विद्वत्ता तथा शब्द-ज्ञान का विशेष हाथ रहता है। व्यंग्य, श्लेष तथा उपहास इसके प्रधान अंग हैं। व्यंग्य के तीखे वाण छोड़ कर, श्लेष का शाब्दिक प्रयोग कर तथा उपहास का वातावरण उपस्थित कर कथोपकथन-प्रधान प्रहसन लिखे गए हैं।

कथोपकथन प्रधान प्रहसनो को शिष्ट संभाषण के स्तर से नीचे गिरने की बड़ी आशंका रहती है। हास्य-प्रस्तुत करने की धुन में लेखक व्यंग्य की मर्यादा की रक्षा न कर पात्र को हताहत कर उसे निश्चेष्ट कर देते हैं। व्यंग्य की सफलता तभी है जब दोनो ओर की चोट बराबर बैठे और यह कहना कठिन हो जाय कि किसकी हार हुई।

राह चलते दुबले पतले क्षीणकाय नाटककार स्वर्गीय बर्नर्डशॉ तथा मोटे झाटे स्थूल-काय लेखक चेस्टरटन की मुठभेड़ हो गयी—

चेस्टरटन-शॉ! तुम्हें देखने से तो मालूम होता है कि शायद लन्दन में क़हत पड़ गया है?

शॉ—और तुम्हें देखने पर विश्वास हो जाता है कि तुम्हीं उसके ज़िम्मेदार हो?

उपरोक्त सम्बन्ध में दोनो चोटें किसी एक दूसरे से कम नहीं चाहे जीत उसमें शॉ की ही हुई हो।

श्लेष का उपयोग प्रहसनकार बड़ी सरलता स करते आए हैं और शायद इसका प्रयोग किसी हद तक इतना अधिक हो गया है कि संवाद की स्वाभाविकता पर सन्देह होने लगता है। प्रत्येक वाक्य

में श्लेष का उपयोग मस्तिष्क को थका देता है और उसका प्रभाव उसके अतिप्रयोग के क्षीण हो जाता है। इसका प्रयोग पान में चूने के समान होना ही वाञ्छित है।

कभी-कभी लेखकों ने दूसरे लेखकों की शैली तथा विषय प्रतिपादन का उपहास-पूर्ण अनुकरण कर अच्छे कोटि का हास्य प्रस्तुत किया है। इससे यह समझना भूल होगी कि श्रेष्ठ लेखकों का उपहासात्मक अनुकरण श्रेष्ठ लेखक की निन्दा है। इसके विपरीत यह सिद्धान्त मान्य है कि इसमें श्रेष्ठ लेखक की श्रेष्ठता प्रमाणित होती है। हिन्दी जगत के अनेक लेखकों की कविताओं का उपहास-पूर्ण अनुकरण हुआ जिससे कि कदाचित कुछ लेखकों को मानसिक दुःख पहुँचा है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जो उपहासपूर्ण काव्य का अनुकरण करता है वह एक प्रकार से लेखक को आदर दान देता है और यह सिद्ध करता है कि जब वह उस लेखक की कोटि का काव्य न लिख सका तब उसका सहारा ढूँढ कर हास्य ही प्रस्तुत करने की चेष्टा की। जितना ही श्रेष्ट काव्य होगा उतनी ही सरलता से उसका उपहासात्मक अनुकरण हो सकेगा। अनुकरण की सरलता उसकी श्रेष्ठता का सफल प्रमाण है।

कुछ लेखकों ने कथोपकथन द्वारा हास्य प्रस्तुत करने का बड़ा सरल साधन अपनाया है। कुछ ख़ास पात्रों को कोई न कोई तकिया कलाम अथवा शाब्दिक आवृत्ति दे दी जाती है जिसके द्वारा हास्य सरलता से प्रस्तुत हो जाता है—'जी हुजूर'; 'क्या कहने हैं', 'राम जी की कसम', 'दरी चेशक','सीताराम सीताराम','वल्लाह आलम',इत्यादि ऐसे शब्द-समूह हैं जो पात्र द्वारा मौके-बेमौके दुहराए जाते हैं जिनसे सफल हास्य प्रस्तुत होता है। शाब्दिक अथवा भाव-समूहों की पुनरावृति में हास्य की आत्म निहित है।[1] प्रहसनों में इनका प्रयोग लोकप्रिय

[1] देखिए—'हास्य की परख'

है। कथोपकथन के साथ-साथ कुछ लेखकों ने आंगिक पुनरावृत (जब प्रहसन रंग-स्थल पर खेले जाँय) से भी हास्य का सफल निर्माण किया है। किसी विशेष प्रकार से सर हिलाना, हाथ पटकना, चलना, मुँह बनाना, आँखे नचाना, आंगिक पुनरावृत्ति के अन्तर्गत आते हैं। इनसे रंगस्थल पर काफ़ी मात्रा में हास्य प्रस्तुत हुआ है। परन्तु इसमें भी आधिक्य आ जाने से हास्य की स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है।

४

विदूषक-प्रधान

विदूषक प्रधान प्रहसन अंग्रेज़ी साहित्य में नहीं के बराबर हैं। परन्तु विदूषक का प्रयोग श्रेष्ठ कोटि के सुखान्तकीयों तथा दुःखान्त-कीयों में हुआ है। संस्कृत नाटकों में भी विदूषक की परम्परा देखने को मिलती है। इन नाटकों का विदूषक अनेक प्रकार से हास्य प्रस्तुत करता है। पहले तो वह संस्कृत नाटकों के आदर्शपूर्ण नायकों का अन्तरंग मित्र रहता है और उसकी पहुँच हर जगह रहती है। वह स्त्री-पात्रों के साथ बे रोक टोक वादविवाद करता है, नायिका को नायक का सन्देश पहुँचाता है; पत्रवाहक का कार्य करता है और नायक की निजी भावनाओं से पूर्णतः परिचित रह कर उस पर व्यंग्य वाण चलाता रहता है। इसके साथ ही साथ वह नायक तथा नायिका की बड़े आड़े समय सहायता करता है। कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि लेखक विदूषक का पार्ट अलग कर दे तो वस्तु की पूर्त्ति कदाचित असंभव हो जाय। उसी के द्वारा वस्तु की तथा कार्य की पूर्त्ति कभी-कभी असन्दिग्ध रूप में होती है।

विदूषक को, हास्य प्रस्तुत करने में, अपनी सज धज तथा वेशभूषा का स्पष्ट सहारा रहता है। अपनी टोपी, अपनी तिलक-मुद्रा, तथा अपनी चाल ढाल से वह साधारणतः हास्य प्रस्तुत किया करता है।

अपनी स्थूल काया की दुहाई देकर तथा अपनी भोजन-प्रियता और पेटूपन की ओर इशारा कर वह दर्शकों को हँसाता रहता है।

कथोपकथन द्वारा भी विदूषक बड़ी सफलता से हास्य निर्माण करता है। वह व्यंग्य, श्लेष, उपहास तीनों का प्रयोग महारथियों के समान करता है। और अन्त में उसी की विजय रहती है।

अंग्रेज़ी साहित्य के नाटकों में विदूषक का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। यद्यपि वह संस्कृत के नाटकों के विदूषक से बहुत कुछ मिलता जुलता है फिर भी वह विशेष कर शेक्सपियर के सुखान्तकीयों तथा दुःखान्तकीयों में महत्वपूर्ण स्थान लिए रहता है। अंग्रेज़ी नाटकों का विदूषक भी अपनी वेश-भूषा,अपने व्यंग्य तथा उपहासात्मक अनुकरण से हँसी लाता रहता है। वह मदिरा-प्रेमी, सफल गायक, तथा दुःख-पूर्ण क्षणों को आनन्द में परिवर्त्तित करने वाला होता है। व्यंग्य तथा तर्क का वह महारथी रहता है, परन्तु उसके ऊपर दुःखान्तकी अथवा सुखान्तकी के वस्तु की पूर्त्ति का भार नहीं रहता। सुखान्तकी में वह नायिका से शब्द-चातुर्य में बाज़ी मार ले जाता है; दुखान्तकी में वह नायक को दार्शनिक रूप से सहारा दिए रहता है तथा प्रहसनों में अपने तकियाकलाम, व्यंग्य, तथा शाब्दिक चमत्कार पूर्ण संवाद से ठिठोली करता रहता है। विदूषक-प्रधान प्रहसन रचना आजकल लोक प्रिय नहीं।

६

षष्टम खण्ड

एकांकी

१

एकांकी का उद्गम

एकांकी अंग्रेज़ी साहित्य की देन है।[1]

ऐतिहासिक रूप में, कदाचित् एकांकी का उद्गम दसवीं शताब्दी के धार्मिक अवसरों पर प्रदर्शित उन कथानकों तथा सन्त जीवनियों में रहा होगा जो ईसाई-धर्म के भिक्षु तथा पादरी वर्ग के संरक्षण में हुआ करता था।[2] कदाचित् मध्य-युग के गायकों, भाटों तथा नटों द्वारा दिखलाए गए उन प्रदर्शनों में भी इसकी सुदूर छाया मिल सकती है जो उस समय की जनता को बहुत ही प्रिय थे। गायकों के वीर-गीतों, भाटों के वीर गाथाओं तथा युद्ध-स्थल के वर्णनों में इसका स्रोत अस्पष्ट रूप में कदाचित् रहा होगा।

दसवीं शताब्दी के ईसाई भिक्षु अपनी धार्मिक-शिक्षा प्रसार के लिए कुछ मनोरंजक वातावरण निर्मित किया करते थे। कोरी धार्मिक शिक्षा जो दर्शकों की आत्मा को केवल स्वर्ग का दर्शन कराना चाहती थी, उनके मन को वश में नहीं कर सकती थी। इस सत्य को समझ कर पादरी वर्ग ने सन्तों की जीवनी के कुछ रोचक तथा अद्भुत-रस से पूर्ण उन स्थलों को चुना जो दर्शकों को देर तक आकर्षित रख सकते थे। इन कथानकों को वे पहले तो केवल अपने वर्ग की सहायता से फिर कुछ अन्य उत्साहपूर्ण दर्शकों के सहयोग से जनता के सामने नाटकीय रूप में प्रदर्शित करते थे। इन कथानकों में कहीं प्रेम की पराकाष्ठा थी, कहीं दया और करुणा की विजय थी,

---

१. कुछ आलोचक एकांकी का उद्गम संस्कृत साहित्य से मानते हैं; परन्तु एकांकी लेखन जब बीसवीं शताब्दी में शुरू हुआ तो स्पष्ट है कि उस पर अंग्रेज़ी का प्रभाव है न कि संस्कृत का।

२. देखिए—'अंग्रेज़ी साहित्य का इतिहास'—'नाटक खण्ड'

रह सकती थी। इन नैतिक कथानकों तथा विनोदांकों की पृष्ठ-भूमि, वस्तु, पात्र तथा उद्देश्य में, हम ऐतिहासिक रूप में, एकाँकी का प्रथम-दर्शन पायेंगे।

सामाजिक रूप से यदि हम एकाँकी का आदि-रूप जानना चाहें तो हम अंग्रेज़ी समाज के कुछ नियमों तथा उसकी आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखना होगा। बीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी समाज ने खाने-पीने के समय में कुछ परिवर्त्तन आरम्भ किया। जो समय पहले मान्य था उसमें अड़चनें दिखलाई पड़ने लगीं। कुछ लोग पुराने समय पर अडे हुए थे, कुछ ने नया समय अपना लिया था और एक मत से समय निश्चित करना अगर असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था। ऐसी स्थिति में भोजनालयों तथा प्रीति-भोज में समय की बड़ी गड़बड़ी होती थी। एक के बाद दूसरे मेहमान को खिलाने-पिलाने की प्रथा न थी। जब सब मेहमान इकट्ठे हो जाते तभी खाने का सामान प्रस्तुत किया जाता था। जो लोग पुराने विचारों वाले थे नौ बजे रात्रि में पहुँचते, कुछ समय-सुधारक सात ही बजे आ पहुँचते और कुछ आठ बजे अपने दैनिक कार्य से निवृत्त होकर ही शरीक हो सकते थे। ऐसी दशा में नौ बजे रात्रि तक मेहमानों का तांता लगा रहता था और उसी समय से भोजन आरम्भ होता था। प्रश्न यह था कि पहले से आए हुए मेहमानों का समय कैसे कटे। परस्पर बातचीत में समय अवश्य कट सकता था; मगर अंग्रेज़ आपस में जल्दी दोस्ती बढ़ाने में बड़ा सकोच करते हैं। यह उनका जातीय गुण है। जब तक कि परिचय न दिया जाय और आपस में आना-जाना काफी बढ़ न जाय तब तक वे एक दूसरे से खिंचे से रहते हैं। ऐसे वातावरण में यह आवश्यक हो गया कि कुछ ऐसा साधन ढूँढ निकाला जाय, जिससे कि बीच का खाली समय आसानी से कट जाय। इसी साधन की खोज में एकांकी का निर्माण हुआ। इसका प्रथम उद्देश्य था मनोरंजन प्रस्तुत करना।

यों भी साहित्य-रचना में मनोरंजन का काफी स्थान रहता है परन्तु एकांकी के प्रदर्शन में मनोरंजन प्रस्तुत करना लेखकों का प्रमुख ध्येय था। लेखक, दर्शकों की रुचि भली-भाँति समझ कर एकाँकी रचना करते थे और इसी कारण जो एकांकी पहले-पहल लिखे गए उनमें हास्य की मात्रा विशेष होती थी। उन्हें हम प्रहसन के नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं। इन प्रहसनों के प्रदर्शन देखने में कभी-कभी दर्शक-वर्ग इतना आकर्षित रहता था कि यदि कोई व्यक्ति बीच में आ जाता और बैठने की जगह ढूँढ़ने लगता तो थोड़ी देर के लिए काफी गड़बड़ी फैल जाती थी। यह गड़बड़ी हम आज कल के सिनेमा-हाल में भी नित्य देख सकते हैं। दर्शक-वर्ग जो पहले से आकर बैठ गया और एकाग्र होकर प्रदर्शन देखना शुरू किया उसे स्वभावतः इन देर से आने वालों पर क्रोध आता है। हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि कभी-कभी यह क्रोध उग्र रूप भी धारण कर सकता था। इस परिस्थिति में रंग-शालाओं के ऊपर एक नया भार पड़ गया। उन्हें अब कोई ऐसी व्यवस्था ढूँढ़ निकालनी थी जिससे कि दोनों पक्षों की बात रह जाती। इसी को ध्यान में रखते हुए, लेखकों ने एक अन्य-प्रकार की एकांकी का निर्माण किया जिसे हम प्रवेशिका[1] कह सकते हैं। प्रवेशिकाओं में पात्रों की संख्या साधारणः दो होती थी और उनकी वस्तु में किसी प्रकार की श्रेष्ठता नहीं रहती थी। केवल दो पात्रों के ही संवाद द्वारा किसी न किसी साधारण भावना का प्रदर्शन किया जाता था। उनकी महत्ता भी ऐसी नहीं होती थी कि यदि वे देखे न जायें तो किसी प्रकार की कमी का अनुभव हो। वास्तव में उनका स्थान बहुत गौण रहा करता था। यद्यपि उनका प्रदर्शन पहले होता था परन्तु विशेष महत्व था एकांकी का जिसके लिखने में लेखक समुचित कला का उपयोग करते थे।

---

[1]कर्टेन रेज़र

एकांकी तथा नाटक—एकांकी-लेखन वास्तव में एक श्रेष्ठ कला है। कदाचित, कुछ अंशो में एकांकी लेखक को, सम्पूर्ण नाटक लेखक के बनिस्बत अधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। नाटक की पृष्ठभूमि विस्तृत होती है, उसकी कथा-वस्तु में समुचित विस्तार हो सकता है, उसके पात्र अनेक तथा असमरूप रहते हैं। इन साधनों के अतिरिक्त नाटककार को समय का अभाव नहीं रहता और वह अपनी बात विस्तार के साथ कह सकता है। एकाँकी लेखक को हर कदम पर कठिनाई का अनुभव होता है और वह इन कठिनाइयों पर श्रेष्ठ कला के प्रयोग से ही विजय पा सकता है।

कुछ आलोचकों का विचार है कि एकांकी केवल एक छोटा नाटक है अथवा नाटक का ही संक्षिप्त स्वरूप है। यह विचार भ्रम-मूलक है और एकांकी के उद्गम की ओर ध्यान देने पर हमें यह स्पष्ट-रूप से ज्ञात हो जाता है कि दोनों में महान अन्तर है। नाट्यकला के उद्गम की कहानी हम पढ़ चुके हैं; एकांकी के उद्गम पर भी हम अभी विचार कर चुके हैं और यह स्पष्ट है कि दोनो ने अपने अलग अलग रास्ते अपनाए हैं और अपना व्यक्तित्व पृथक रखा है। दोनों का उद्गम भिन्न है; दोनों की प्रगति में विभिन्नता है और दोनों के प्रभाव तथा निर्माण-शैली में अन्तर है।

२

एकांकी का वर्गीकरण

विषय-चयन: इतिहास

नाटक लेखकों के सम्मुख, नाटक रचना के लिए विषय की इतनी अधिक प्रचुरता है कि कभी-कभी कठिनाई यह होती है कि कौन सा विषय चुना जाय। उनके सामने इतिहास अपने पृष्ठ खोले हुए अन-

गिनत विषय-सूची प्रस्तुत किए रहता है। ऐतिहासिक विषयों में राजाओं की जीवनी, उनके अनेक महत्व-पूर्ण कार्य, उनका पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय और वैयक्तिक जीवन, सभी नाटककार अपने नाटकों में समेट सकता है। सामन्तों तथा राष्ट्रीय वीरों, नेताओं, सुधारकों तथा सेनानायकों के महत्व-पूर्ण कार्यों को नाटककार अपने नाटकों में प्रदर्शित कर सकता है। अपने नाटकों में वह उन ऐतिहासिक घटनाओं, क्रान्तियों तथा राष्ट्र की काया-पलट करने वाली नीति को नाटकीय रूप में प्रस्तुत कर सकता है जो देश के इतिहास में अमर स्थान पा गई हैं।

ऐतिहासिक विषय-चयन में नाटककार का प्रमुख ध्येय, दर्शकों में भूत-काल का गौरव तथा उसके प्रति गर्व की भावना का प्रसार करना रहता है। इतिहास में ही देशों के प्राचीन गौरव की कहानी स्वर्णांकित रहती है। जब नाटककार ऐसे गौरव-पूर्ण स्थल रंग मंच पर सफलता से प्रदर्शित करता है तो स्वभावतः दर्शकों में महानता, उत्कर्ष तथा अभ्युत्थान की भावना तीव्र-रूप से जाग्रत हो जाती है। इसी कारण अंग्रेजी रंग मंच पर, महारानी एलिजबेथ के समय में, शेक्सपियर लिखित ऐतिहासिक नाटकों—हेनरी प्रथम, हेनरी तृतीय, रिचर्ड इत्यादि की बड़ी प्रशंसा हुई और वे बहुत लोकप्रिय रहे। फ्रांसीसी रंग मंच पर नेपोलियन बोनापार्ट तथा लुई आठवें के जीवन से संबंधित विषयों की बड़ी लोकप्रियता रही। भारतीय रंग मंच पर चन्द्रगुप्त, अशोक, महाराणा प्रताप, शिवाजी, दुर्गादास तथा अन्यान्य ऐतिहासिक पुरुषों की जीवन-गाथा बहुत लोक-प्रिय रही है और भविष्य में भी रहेगी। जब तक इतिहास जीवित रहेगा तब तक नाटककार उसके कोष से विषय-चुनकर जनता को भूत काल की गौरव गरिमा से प्रभावान्वित करते रहेंगे।

लोक-गाथा

नाटककार के सम्मुख इतिहास से संबधित विषयों के अतिरिक्त लोक गाथाओं का अमर-कोष भी प्रस्तुत रहता है। यूनान तथा रोम की लोक-गाथाएँ, इगलिस्तान तथा स्कॉटलैण्ड की लोक-गाथाएँ तथा भारतीय पौराणिक कथाओ को विषय-रूप मानकर अन्यान्य नाटकों का निर्माण हुआ है। यूनान की लोक-गाथाओं में, देवी-देवताओं, दैत्यो दानवों, शूर-वीरों से संबंधित अनेक दैवी घटनाओं में नाटक के विषय प्रचुर-रूप मे हैं। कुछ अंग्रेजी लेखको ने इनका नाटकीय उपयोग सालहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध मे किया था। भारतवर्ष की पौराणिक कथाओ में तो नाटकीय विषयों का अक्षय भण्डार है। श्रीमद्भागवत तथा उसकी अन्तर्कथाओं में, ध्रुव तथा प्रह्लाद सरीखे भक्तों की जीवनी में तथा देवी देवताओ से सम्बंधित रोचक कथाओं मे नाटक रचना के लिए बहुत सामग्री है। भारत के प्राचीन ऋषियों तथा उनकी तपस्या-सम्बन्धी अन्तर्कथाओं में भी बहुत लोक-प्रिय ऐसे विषय हैं जिनको लेकर सफल नाटक-रचना हो सकती है।

लोक गाथाओं तथा पौराणिक कथाओं को विषयाधार मान कर नाटक-रचना का मुख्य उद्देश्य प्राचीन संस्कृति तथा प्राचीन सभ्यता की परिपाटी को जीवित रखना है। प्राचीन संस्कृति तथा सभ्यता से प्रेम तथा उस पर श्रद्धा स्वाभाविक है। प्राचीन सस्कृति तथा सभ्यता के सामाजिक तथा राष्ट्रीय आचार-विचार तथा नियमो और आदर्शों के अनुशीलन में एक विचित्र प्रकार के हर्ष तथा गर्व का अनुभव होता है; और उसी प्राचीन संस्कृति को सामने रख कर हम अर्वाचीन संस्कृति और सभ्यता का सम्यक माप लगा सकते हैं। वस्तुतः ऐतिहासिक तथा लोक-गाथा विषयो का मूल उद्देश्य प्राचीन गौरव-गरिमा का पुनरुत्थान तथा प्राचीन सस्कृति का अभ्युत्थान प्रदर्शित करना है।

मानवी भाव

नाटककारों के सम्मुख उन मानवी विषयों का भी अनन्त प्रसार रहता है जिसको लेकर कलाकारों ने उत्कृष्ट नाटकों की रचना की है। मानवी गुण और दोष सद्गुण और दुर्गुण जो मानव-चरित्र में आदिकाल से निहित हैं उनकी नींव पर महान् नाटकों का निर्माण हुआ है। जब से मानव धरती पर अवतीर्ण हुआ है तब से उसके रक्त और चरित्र में अनेक भावों तथा विचारों का समावेश होता आया है। प्रेम, ममता, लालसा, स्नेह सौहार्द्र, सहानुभूति, द्वेष, घृणा, वैर; कामना, आकांक्षा, महत्वाकांक्षा; अभिलापा, आशा, निराशा; गर्व, दम्भ, निर्दयता, क्रूरता, हत्या; अकर्मण्यता, अविवेक, वीरता, कायरता; प्रत्येक प्राणी के अन्तस्तल में छिपे रहते हैं। समय और वातावरण की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता देख कर वे डूबते तिराते हैं। मानव हृदय एक प्रकार का समुद्र है जिसमें जीवन की असीम शक्तियाँ मन्थन करती रहती है और अमृत और विष दोनों का उत्पादन करती हैं। नाटककार इनमें से किसी भी भाव-समूह को लेकर नाटक का निर्माण कर सकता है।

इन नाटकीय विपयो के चयन का मुख्य नाटकीय उद्देश्य मनुष्य की आदि भावनाओं तथा विचारों का दिग्दर्शन कराना है। रंग-मंच पर इन भावों अथवा भाव-समूहों का प्रदर्शन देख कर मानव स्वयं अपने आपको पहचान सकता है। नाटककार अपनी कला-द्वारा मनुष्य की आँखें उसके अन्तस्तल की ओर झुका कर अपने को पह-चानने पर बाध्य करता है। इसके प्रदर्शन द्वारा मनुष्य में सद्गुणों के प्रति आकर्षण तथा दुर्गुणों के प्रति घृणा का प्रसार होकर मानव हृदय तथा मानव चरित्र का परिमार्जन होता है। जो नाटक इन भाव-समूहों के विषयाधार पर लिखे जाते हैं उनका प्रभाव मानव-हृदय पर गहरा पड़ता है। साधारणतः नाटककार इस विषय पर

लिखे गए नाटकों में रूढ़िवादी शैली का प्रयोग करता है। इस शैली द्वारा वह नाटक के विषय को केवल दो भागों में विभक्त करके दोनों में वाह्य द्वन्द्व प्रस्तुत करता है। नाटक के पहले वर्ग के प्रतिनिधि एक विशेष भाव समूह के प्रतीक होते हैं और उसके प्रतिकूल भाव-समूह के प्रतिनिधि स्वरूप दूसरा वर्ग रहता है और दोनों में घोर द्वन्द्व के पश्चात् एक की विजय घोषित होती है। उदाहरण के लिए नाटक का एक वर्ग दया, क्षमा और सौहार्द्र का प्रतिनिधि रह सकता है और उसका विरोधी वर्ग क्रूरता प्रतिशोध तथा द्वेष का प्रतिनिधि हो सकता है। विरोधी भावों के प्रतिनिधि-स्वरूप जिन दो वर्गों में संघर्ष प्रस्तुत होता है उसमें नाटकार को श्रेष्ठ कला के प्रयोग का सुअवसर कम मिलता है। ऐसे विषय पर आधारित नाटकों को हम वाह्य-द्वन्द्वी नाम दे सकते हैं।

अन्य नाटकों में नाटककार इन्हीं मानवी-भावों का अंर्तद्वन्द्व प्रस्तुत कर सकता है। यद्यपि वह नाटक-विषय को दो वर्गों में विभाजित करता है, परन्तु दोनों वर्गों के प्रतिनिधि-स्वरूप जो-जो पात्र हमारे सामने आते हैं वे अन्र्तद्वन्द्व से उद्वेलित रहते हैं। यद्यपि वे वाह्य द्वन्द्व में भाग लेते हैं परन्तु दर्शकों को वे तभी आकर्षित करते हैं जब वे अपने अन्तस्तल के अन्र्तद्वन्द्व का प्रकाश हमारे सामने करते हैं। इस प्रकार के विषय श्रेष्ठ नाटककारों को प्रिय रहे हैं और अन्र्तद्वन्द्व प्रदर्शन में ही उनकी महत्ता रही है। इन अन्र्तद्वन्द्वी अथवा विश्लेषक अथवा मनो-वैज्ञानिक नाटकों की महत्ता साहित्य में सर्वदा रहेगी। उदाहरण के लिए एक ही पात्र में स्नेह और क्रूरता, दया और प्रतिशोध, अकर्मण्यता और वीरता, लालसा और हत्या का अन्र्तद्वन्द्व नाटककार प्रदर्शित कर सकता है। अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर के नाटक इसी वर्ग के हैं।

इस शैली में लिखे गए नाटकों का उद्देश्य मानव-हृदय की गहराइयों को नापना है। काल तथा परिस्थिति के आवर्त्त में पड़कर मनुष्य

का हृदय किस तरह परिवर्त्तित होता रहता है, कौन-कौन सी नैतिक अथवा अनैतिक शक्तियों का वह शिकार हुआ करता है; किस प्रकार वह स्वभावतः अपने ही बनाए हुए जाल में फंस कर अपने जीवन का अन्त करता है; किस प्रकार उसके मानसिक अवगुणों का सहारा ढूँढ़कर परिस्थितियाँ उसको विनाश के राह पर लाकर डाल देती हैं—इन सब का लेखा हमें मनो-वैज्ञानिक अथवा अन्तर्द्वन्द्वी नाटको में मिलेगा। इन नाटको का दूसरा उद्देश्य है मानव-हृदय अथवा मानव-चरित्र की श्रेष्ठता की स्थापना। नाटककार अपनी समुचित कला से हममें जीवन के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास की ज्योति जगाता है। वह अन्त में जीवन की सत्यता, उसकी सुन्दरता तथा उसकी शालीनता की प्रतिष्ठा कर हमें अपूर्व सन्तोष दान देता है। जो नाटककार इस विपरीत भावनाओं का प्रसार नाटकों में करना चाहते हैं उन्हें निराशावादी[1] कलाकार और जो उपरोक्त भावनाओं का प्रसार करते हैं उन्हें आशावादी कलाकार नाम मिला है।

समाज

सामाजिक आचार-विचार, रीति-रिवाज तथा रहन-सहन ने भी नाटक रचना के लिए यथेष्ट विषय प्रस्तुत किए हैं। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। जो समाज वह अपने लिए निर्मित करता है उसके साथ अनेक नियम अपने आप बनते चले जाते हैं। ये नियम किसी खास समय, किसी विशेष परिस्थिति, किसी खास वर्ग के मनुष्य बनाते हैं। काल के चक्र में, उन नियमों और बन्धनों की उपयोगिता ज्यों-ज्यों समाज बदलता जाता है, त्यों-त्यो कम होती जाती है। बदलते हुए समाज को अब नवीन नियमों की आवश्यकता जान पड़ती है। परन्तु समाज तो रूढ़िग्रस्त है। लोग पुराने नियमों में इतने लिप्त हैं

---

१. देखिए—'काव्य की परख'

कि उनको तोड़ना उनके साहस के परे है। रूढ़िग्रस्त-समाज तब सुधारक की बाट जोहने लगता है। समय पाकर सुधारक का जन्म होता है और वह अपने उत्साह तथा व्यावहारिकता से उन रूढ़ियो पर प्रहार करना शुरू करता है जिसके फल-स्वरूप सुधारक के अनुयायी बढ़ चलते हैं और सम्पूर्ण समाज धीरे-धीरे उस सुधार की भावना को अपनाना आरम्भ कर देता है और समाज सुदृढ़ बनता चला जाता है।

सामाजिक विषय-चयन का मुख्य उद्देश्य समाज सुधार और जनता मे जागरण प्रस्तुत करना रहता है। नाटककार समाज के अन्याय अंगों पर प्रकाश डाल कर जनता को चैतन्य बना सकता है। योरप के सभी देशों के नाटककारों ने सामाजिक-कुरीतियों को आधार भूत मान कर श्रेष्ठ नाटकों की रचना की है। भारतीय नाटककारों ने भी इन सामाजिक विषयों का पूर्ण रूप से उपयोग किया है। बाल-विवाह, बहु-विवाह, शराब-खोरी, जुआ, अविद्या का परिणाम, फिजूल-खर्ची पाश्चात्य देशों के सिद्धान्तों तथा उनके रीति रिवाजों का अनुकरण, वेश्या-वृत्ति तथा अनेक कुरीतियों पर नाटक-रचना हुई है। सुधारक-नाटक रचना में एक विशेष शैली के प्रयोग की आवश्यकता पड़ती है। इस शैली को हास्यात्मक शैली नाम दे सकते हैं।

दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी की शैली के अन्तर्गत सुधारक-नाटकों की कम रचना हुई है। इसका एक विशेष कारण है। दुःखान्तकी की शैली गौरवपूर्ण तथा उत्कृष्ट विषयों के लिए ही साधारणतः उपयुक्त होती आई हैं। यदि इस शैली द्वारा सामाजिक कुरीतियों का दिग्दर्शन कराया जाय तो ऐसा ही जान पड़ेगा जैसे किसी बड़े सिंहासन पर जगन्नाथजी की छोटी सी मूर्ति रखी है अथवा किसी छोटे बालक को उसके पिता के कपड़े पहना दिए गए हैं। वैभवपूर्ण तथा उन्नत और श्रेष्ठ विषय ही जो मानव के इतिहास से संबंधित रहते हैं

कदाचित् दु:खान्तकी ही की शैली में फबते हैं[१]। सुखान्तकी की शैली, यद्यपि इन विषयों में प्रयुक्त हुई है परन्तु इसमें वाँच्छित सफलता कठिनाई से ही मिलती है। इसका कारण यह है कि सुखान्तकी की शैली तभी फल फूल सकती है जब विषय-प्रसार में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को उचित स्थान मिले। वास्तव में, समाज की कुरीतियों का सफल प्रदर्शन हास्यात्मक शैली द्वारा ही हो सकता है।

हास्य सामाजिक कुरीतियों का श्रेष्ठ तथा सफल सुधारक है।[२] इसका प्रयोग कर के नाटककार कुरीतियों को इस ढंग से प्रदर्शित करता है कि बरबस हंसी आती है और हम उस कुरीति को घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। नाटककार ऐसी परिस्थिति तथा ऐसा वातावरण प्रस्तुत कर देता है कि कुरीति अत्यन्त बेढंगी तथा कुरूप प्रतीत होने लगती है और उसे अपनाने वाले हास्यास्पद जान पड़ने लगते है। इसी भावना से प्रेरित होकर समाज अपने को कुरीति से दूर करने लगता है।

समस्याएँ

इन सामाजिक विषयों के साथ साथ आधुनिक नाटककारों ने मानव-समाज से सम्बन्धित अनेक समस्याओं को भी नाटक का विषयाधार बनाया है। आधुनिक मानव-समाज कुछ अर्थ-शास्त्रियों, व्यवसायियों तथा राजनीतिज्ञों के हाथ की कठपुतली के समान है। इन वर्गों ने समाज के सम्मुख अनेक प्रश्न उपस्थित कर दिए हैं। इन्होंने वर्ग-संघर्ष, वर्गवैमनस्व, प्रतिद्वन्द्वी आदर्श, जनता के सामने रख कर जन-समूह को इन प्रश्नों का हल ढूँढने पर विवश किया है।

१. आधुनिक युग में इस सिद्धान्त का घोर विरोध हुआ है। देखिए 'दु:खान्तकी खण्ड'

२. देखिए—'हास्य की परख'

अर्थ शास्त्रियों ने अनेक प्रकार के आर्थिक आदर्शों को समाज के सम्मुख रखा है जिनमें मुख्य हैं साम्य-वादी तथा पूंजीवादी; व्यवसायियों ने अपनी धन लिप्सा से अनेक वर्ग निर्मित कर दिए हैं; राजनीतिज्ञों ने साम्यवाद, प्रजातन्त्र, जन तन्त्र तथा एक-राज-शासन, तानाशाही आदि राजनीतिक आदर्शों को समाज के सामने लाकर उसको श्रेष्ठ-शासन विधान अपनाने का आमन्त्रण दिया है। न्याय-विधान से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों को नाटककारों ने विषयाधार माना है। गरीबी तथा अमीरी की समस्या; ऊँच तथा नीच की समस्या, महाजन तथा कर्ज़दार की समस्या, कानून तथा अपराधी की जटिल समस्या, असहयोग तथा सहयोग की समस्या, विवाह तथा तलाक संबन्धी समस्याएं, सभी बड़ी सरलता से नाटककार अपना कर श्रेष्ठ-नाटक रचना कर सकते हैं।

इन समस्यात्मक नाटकों का मुख्य उद्देश्य जनता और समाज के सम्मुख, समस्याओं की विषमताओं तथा उससे संबन्धित सामाजिक हानि लाभ का लेखा प्रस्तुत कर समाज को उन समस्याओं को सफल-रूप से हल करने पर बाध्य करना है। न्याय तथा अन्याय सम्बन्धी समस्याओं तथा विवाह और तलाक सम्बन्धी प्रश्नों को कुछ अंग्रेजी नाटककारों ने इतना सफल नाटकीय रूप दिया कि सरकार ने विवश होकर कुछ पुराने नियम बदल दिए और नए कानूनों का निर्माण किया है। समाज में जब वर्गीकरण के फल-स्वरूप कुछ विषय समस्याएँ पैदा हो जाती हैं तो प्रतिद्वन्द्वी वर्गों में घृणा, द्वेष, शत्रुता, वैर तथा हानि पहुँचाने की भावनाएं जाग्रत हो जाती हैं। प्रतिद्वन्द्वी वर्ग अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक दूसरे को नीचा दिखलाने तथा परास्त करने की धुन में लग जाते हैं। इस द्वन्द्व तथा प्रतिस्पर्द्धा के कारण जो दोनों ओर की हानि होती है उस पर दोनों वर्ग अपने अभिमान के कारण दृष्टिपात नहीं करते। वे दोनों अपने गर्व में चूर अपनी जीत के नारे लगाते रहते हैं। नाटककार को इस द्वन्द्व के फलस्वरूप

जो भलाई बुराई दिखलाई दे उसी को कलापूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना चाहिए।

समस्यात्मक नाटको के लिखने में शायद श्रेष्ठतम कला की आवश्यकता होती है। शायद इस श्रेणी के सफल नाटक लिखने में अन्य विषयो पर नाटक लिखने की बनिस्बत अधिक कलात्मक-श्रम की जरूरत पड़ेगी। इसका एक कारण है। जब नाटककार समस्यात्मक नाटकों को हाथ में लेता है तो वह एक मनुष्य की हैसियत से अपने को किसी न किसी वर्ग का प्रतिनिधि अथवा अनुयायी मान लेता है। और यह अत्यन्त स्वाभाविक भी है। उदाहरण के लिए पूँजीवाद तथा साम्यवाद से सबन्धित समस्या पर प्रकाश डालने में लेखक के निजी व्यक्तित्व का बड़ा भारी हाथ रहेगा। यदि वह पूँजीवादी समाज में पला है, फला फूला है तो स्वाभाविकत: वह उनका पक्ष लेने पर बाध्य हो जायगा।

इसी प्रकार साम्यवादी आदर्शों का मानने वाला कलाकार, अपनी कला के आदर्शों को भुला कर उस वर्ग का प्रतिनिधित्व ग्रहण कर लेगा और अपने विरोधी वर्ग के आदर्श को उचित रूप से स्पष्ट नहीं कर सकेगा। इसी तरह व्यवसायी वर्ग से सहानुभूति रखने वाला और मजदूर-वर्ग से विमुख कलाकार केवल अपने ही पक्ष के समर्थन में फँस कर समस्या की सारी गुत्थियों को न सुलझा सकेगा।

समस्यात्मक नाटकों के लिखने में वाग्यवादी [1] शैली ही अधिक उपयोगी प्रमाणित होगी और हुई भी है। इस शैली में विषय प्रतिपादन करने से दानों विरोधी पक्षों के अधिकारों का सम्यक माप मिलेगा। एक कुशल वकील के समान कलाकार जब दोनों पक्षों की कहानी, निर्लिप्त रूप से कह चलता है तो कुशल पाठकों पर असर गहरा पड़ता है। और जब वह पक्ष ग्रहण करके, एक वर्ग का प्रति-

[1] देखिए—'काव्य की परख'

निधि बन, उसी वर्ग की अच्छाई प्रदर्शित करने पर तुल जाता है तो हमें यह संशय होने लगता है कि इसम लेखक की शायद निजी रुचि का ध्यान अधिक रखा गया है कला का ध्यान कम। अन्तर्वादी शैली[1] मे लिखे गये ऐसे नाटकों की संख्या यद्यपि कम नहीं परन्तु उन्हें सफल नाटक कहने में सकोच होगा। अंग्रेजी साहित्य में गॉल्स-वर्दी के समस्यात्मक नाटक उच्चकोटि के हैं और उनमें जहाँ तक सम्भव हो सका है नाटककार ने दोनो विरोधी पक्षों का समर्थन खूबी से किया है। परन्तु कुशल और चतुर पाठक कुछ भावनाओं के अधिक प्रसार में जान लेते हैं कि लेखक की सहानुभूति किस पक्ष की ओर अधिक है।

जीवन-चित्र

कुछ आधुनिक नाटककारो में अन्यान्य नाटकीय विषय न अपना कर केवल प्रतिदिन के जीवन का चुनी हुई घटनाओं को विषयाधार मानकर दृश्यात्मक नाटकों की रचना की है। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो हमें ज्ञात होगा कि हर दिन के जीवन में हमें ऐसे-ऐसे दृश्य दिखलाई देते हैं कि यदि उन्हें हम शब्दों द्वारा चित्रित कर सकें तो वे साहित्य की अमूल्य निधि होंगे। हम सबेरे से शाम तक अपने निजी कार्यों में व्यस्त रहते हैं और यदि कोई कलाकार हमारे भावो और कार्यों को ज्यों का त्यो प्रदर्शित कर सकता तो उस वर्णन को पढ़ कर हमें बरबस बड़ी हँसी आती और बड़ा अचभा होता। उदा-हरण के लिए आप शाम को बाहर टहल जाइए। कहीं न कहीं पान वाले की दूकान आपको जरूर दिखलाई पड़ेगी। दूकान से चार कदम इधर ही आप खड़े हो जाइए और खरीदारों का तांता, उनकी सज धज, उनकी बातचीत, दूकान की सजावट-सब पर तीव्र निगाह

---

1 वही

डाल कर नाटक का वातावरण प्रस्तुत कर लीजिए। या आप बाजार की ओर जाइए। आप देखेंगे कि कहीं पर कोई तरकारी का मोल भाव कर रहा है, कहीं कोई कुप्पी मे तेल भराए उसमें लिपटे हुए तेल को हथेली से काछ कर सर पर रगड़ रहा है; कहीं कोई गाय किसी की टोकरी से मूली के पत्ते घसीटती नजर आ रही है; कहीं कोई घलुआ माँगने में आध घन्टा झाँव-झाँव कर रहा है; कहीं कुँजड़े का तराजू डांड़ी मारते वक्त बरबस टूट रहा हैं और उसी वक्त कोई 'ले गरमा-गरम पकौड़ियाँ' की आवाज लगा रहा है। इन दृश्यों को कोई भी कलाकार सजाकर उसे हमारे सम्मुख रख कर हमें आकर्षित कर सकता है। कुछ साहित्यिक मनीपियों का कथन है कि वास्तविक जीवन-चित्र काल्पनिक जीवन-चित्र की अपेक्षा अधिक आश्चर्यित करने वाला होता है। अगर कलाकार हिन्दुस्तान के इक्के वालों; ताँगेवालों, ठेलेवालों, गाड़ीवालों, रिक्शेवालों, मोटरवालो की आवाज ही वास्तविक रूप से शब्द चित्रों में प्रस्तुत कर ले तो हमें उसे पढ़कर बड़ा आश्चर्य होगा; और उतना आश्चर्य परीदेश की एक कहानी पढ़कर शायद न हो। या कोई कलाकार हलवाई के कपड़ों की सत-रंगी महक, ठर्रा पीकर गधे पर चढ़े हुए धोबी की लहक, या कुछ चलती हुई दूकानों पर के भीड़ भड़क्के का वास्तविक चित्र खींच दे तो शायद हम लोग हँसते-हँसते लोट पोट हो जाँय और हमें उन चित्रों की वास्तविकता पर विश्वास भी हो क्योंकि वास्तविकता काल्पनिकता से कहीं अधिक आश्चर्य में डालने वाली होती है।

दृश्यात्मक नाटकों का प्रमुख उद्देश्य वास्तविक जीवन के प्रति अनुरक्ति अथवा विरोध पैदा करना नहीं वरन् केवल इसका हास्यपूर्ण दृष्टिकोण उपस्थित करना रहता है। कलाकार एक ऐसे कोण से इन वास्तविक दृश्यों को देखता है कि उसपर मामूली आदमी की निगाह पड़ती ही नहीं और अगर पड़ती है तो बहुत धुँधले रूप में। मामूली दर्शकों को पान वाले की दूकान पर केवल चूना, कत्था, पान सुपारी

का क्रय-विक्रय दिखलाई देता है, मगर कलाकार की आँखे उस छैल छबीले ग्राहक की भ्रूभगिमा को देखती हैं जो पान खाकर, अपने सिर की टोपी जरा तिरछी कर, दूकान के बडे आइने में अपनी शकल देख, मूछें टे, एक हलकी सी मुस्कान फेंकने के बाद अपने लाल अंगोछे से अपने जूते को झाड़ने के पश्चात् अपने होठों के कोरो पर लगी पीक को पोंछते पोछते चल देता है। जिस प्रकार व्यंग्य चित्रा-वली का चित्रकार इंगलिस्तान के भूतपूर्व प्रधान-मंत्री मिस्टर चर्चिल की गोल गोल, फूली फूली शकल और उसमें चुभा हुआ एक लम्बा सिगार; या महात्मा गाँधी का गोल चश्मा और काछा काछे दुबला पतला शरीर; या जिन्ना साहेब की चुस्त शेरवानी या अपटूडेट सूट लम्बी टांगें और एक आँख का चश्मा देखता है उसी प्रकार दृश्यात्मक नाटकों का कलाकार जीवन को कुछ ऐसे दृष्टिकोण से देखता है कि हमें अनायास हँसी आ जाती है।

इस कथन से कदाचित् यह भ्रम हो सकता है कि दृश्यात्मक नाटकों का उद्देश्य केवल हास्य प्रस्तुत करना है। यह बात संदिग्ध है। नाटककार का उद्देश्य तो केवल जीवन के दृश्यों की वास्तविकता का अनुभव कराना है अगर उस अनुभव के फलस्वरूप हमें हँसी आ जाय तो और भी अच्छा। ऐसे यथार्थवादी साहित्य का एक और उपयोग है—वह है हमें अपना स्वयं परिचय मिलना। जीवन में व्यस्त हम अपने को देख ही नहीं सकते; देख तो वह सकता है जो व्यस्त रहते हुए अपना व्यक्तित्व अलग रख सके। कलाकर यह आसानी से कर सकता है इसलिए हम अपने को समझने के लिए उसका सहारा ढूँढ़ते हैं। 'चौराहा'[1] दृश्यात्मक नाटक का सफल उदाहरण है।

---

१. देखिए—'सात एकांकी'

प्रचारात्मक विषय

कुछ नाटककार अपनी रुचि अथवा प्रतिभा के अनुसार प्रचारात्मक विषय चुनकर भी नाटक रचना कर सकते हैं। यद्यपि ये विषय बहुत कुछ अंशों में समाज के अन्तर्गत आते हैं फिर भी इनकी एक अलग श्रेणी मान ली जा सकती है। आधुनिक काल में इन विषयो की बहुतायत है और अनेक कलाकारों ने इन्हें फलप्रद विषयाधार माना है। इस शताब्दी के दूसरे महायुद्ध के समय प्रचारात्मक साहित्य बहुत अधिक रचा गया और अभी भी कुछ कलाकार इनकी महत्ता कम नहीं समझते। प्रचारात्मक विषय जीवन के प्रत्येक विभाग से संबन्धित रह सकते हैं। परन्तु विशेषतः राजनीतिक विषय ही अधिक रुचिकर रहे हैं। पूँजीवाद के विरुद्ध साम्यवादी आदर्शों का प्रचार; तानाशाही के विरुद्ध जनतन्त्र के आदर्शों की घोषणा; व्यवसायिकता के विरुद्ध सरल तथा प्राकृतिक जीवन-यापन के आदर्शों का प्रचार; हिंसा के विरुद्ध अहिंसा का प्रचार, साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रजातन्त्र शासन विधान के आदर्शों का प्रचार—अनेकानेक विषय चुने जा सकते हैं।

प्रचारात्मक विषयों का उपयोग तो स्पष्ट ही है। लेखक का उद्देश्य इन नाटकों में अपने प्रचारित वादों की ओर जनता को आकर्षित करना रहता है; उनका ध्यान सदैव उस श्रेणी के लोगों पर रहता है जिनका मन अपनी ओर खींच लेना उनका वांच्छित उद्देश्य है। जनता को जाग्रत कर, उसे किसी आदर्श की ओर अग्रसर कर देना इन नाटकों का स्पष्ट उद्देश्य रहा करता है। आधुनिक काल में अंग्रेजी सरकार ने बहुत दिनों तक एक प्रचार-विभाग जारी रखा था जिसका मुख्य उद्देश्य प्रजातन्त्र शासन की महत्ता तथा साम्राज्यवाद की नींव दृढ़ करना था। इस विभाग के आदेशानुसार सामयिक साहित्य की रचना हुई और प्रजातन्त्र की महत्ता, तानाशाही की क्रूरता तथा युद्धस्थल की नैतिकता की कहानी देश के कोने तक पहुँचाई गयी।

प्रचारात्मक नाटकों की रचना में एक विशेष कला की आवश्यकता है। यह कला है निष्पक्षता की। जितने ही अधिक निष्पक्ष रूप से विषय का प्रतिपादन होगा उतना ही लेखक सफल मनोरथ होगा। निष्पक्ष रूप से नाटक रचने में कई अड़चनें आती हैं। पहला तो है लेखक का व्यक्तित्व। उसको अलग हटा कर साहित्य लिखना बड़ा दुर्लभ कार्य है। श्रेष्ठ कलाकार ही अपने व्यक्तित्व के पाश से मुक्त होकर समस्याओं की तह तक पहुँच पाए हैं। जहाँ जहाँ व्यक्तित्व साहित्य पर छा गया है वह साहित्य महत्वहीन हो गया है। लेखक को इन प्रचारात्मक नाटकों के सफल प्रयोग में एक ऐसे दृष्टिकोण को अपनाना रहता है जिससे कि कही हुई बात तर्कयुक्त तथा संगत जान पड़े। यदि प्रचार का ध्यान अधिक और संगत तथा तर्कयुक्त विषय-प्रतिपादन का ध्यान कम रखा गया तो पढ़े लिखे लोगों पर उनका समुचित प्रभाव न पड़ सकेगा। हाँ, अनपढ़ लोगों पर उनका प्रभाव पड़ सकता है; पर ऐसे अस्थाई प्रभाव से क्या लाभ। इन नाटकों में भी वास्तववादी शैली अपेक्षित है।

३

एकांकी के तत्त्व

कथानक

एकांकी के तत्त्वों में सबसे पहले कथानक की गणना है। कथानक हम जीवन के किसी भी विभाग से चुन सकते हैं। इतिहास, लोकगाथा, समाज, मानवी भाव, समस्याएँ, जीवन चित्र, प्रचारात्मक विषय-कहीं से भी हम कथानक ढूँढ कर उसका नाटकीय उपयोग कर सकते हैं। इस कथानक के चुनने में लेखक को रुचि ही नहीं वरन उसकी क्षमता भी उसके निर्णय में सहायक होनी चाहिए। किस विषय के लिए कैसी शैली अपेक्षित होगी इसका संकेत हम कर चुके

हैं। यहाँ केवल इसका निर्णय करना है कि एकांकी रचना के लिए कैसे कथानक विशेष-रूप से फलप्रद होंगे। यों तो श्रेष्ठ कलाकार के लिए कोई भी कथानक श्रेष्ठ एकांकी लिखने के लिए मान्य होना चाहिए मगर फिर भी अनेक फलप्रद कथानकों की ओर संकेत किया जा सकता है।

सफल तथा फलप्रद कथानक में कुछ विशेष तत्वों का होना जरूरी है। ये तत्त्व हैं उसकी वास्तविकता अर्थात् साधारण जीवन से सम्बन्ध; उत्तेजना अर्थात् पग पग पर कुतूहल तथा जिज्ञासा की जागृति; विस्मय अर्थात् अन्तिम फल को अन्त तक दुविधा में छिपे रहना और रोचकता। रोचकता के अन्तर्गत हम अनेक गुणों का समावेश कर सकेंगे। आनन्द, हास्य तथा चित्त को देर तक आकर्षित रखने की क्षमता हम कुछ विशेष गुण मान सकते हैं। आयरलैण्ड के प्रमुख कवि तथा नाटककार विलियम बटलर येट्स के एक अन्य नाटककार लार्ड डनसेनी ने पूछा—'आप एकांकी के कथानक का प्रधान गुण क्या समझते हैं? येट्स ने उत्तर दिया—'विस्मय'; डनसेनी ने फिर पूछा—और दूसरा गुण? उत्तर मिला—'विस्मय' और तीसरा गुण? प्रश्नकर्त्ता ने दुहराया; जवाब मिला—'विस्मय'। इससे स्पष्ट है कि जो कथानक विस्मय विहीन हैं वे लेखक के लिए वांच्छनीय नहीं।

एकांकी रचना में कथानक की वास्तविकता सम्बन्धी विवादग्रस्त समस्या बहुत पुरानी है। यथार्थ और कल्पना का झगड़ा भी बड़ा पुराना है और यह कहना भ्रम-मूलक है कि यथार्थ और कल्पना दो विरोधी शक्तियाँ हैं। वास्तव में दोनों एक दूसरे की पूरक हैं। कोरी कल्पना का दूसरा नाम प्रमाद है। यथार्थ की नींव पर ही कल्पना अपना विशाल महल बनाती है; सपने संजोती है; विविध रंग के वितान तनती है। कलाकार अपनी श्रेष्ठ कला के पीछे यह सत्य इस खूबी से छिपा लेते हैं कि पाठक तथा दर्शक के सम्मुख कल्पना

का ही मायाजाल दिखलाई देता है। यथार्थ मुँह छिपा कर ऐसी आँख मिचौनी खेलना है कि साधारण पाठक उसका पता आसानी से पा ही नहीं सकते। कल्पना अपना इन्द्रधनुष ताने सम्पूर्ण आकाश पर छा जाती है, आकाश अपना यथार्थ वायुमण्डल छिपाए कल्पना की सतरंगी अठखेलियाँ देखा करता है। यथार्थ पर वैज्ञानिक की दृष्टि पड़ती है; कल्पना पर कवि की।

अब निश्चय यह होना है कि साधारण जीवन से सम्बन्धित कथानक अथवा असाधारण या श्रेष्ठ वर्गों के जीवन से सम्बन्धित कथानक फलप्रद होंगे। यह झगड़ा भी साहित्यिक रूप से बहुत पुराना है। प्राचीन आलोचकों[1]—पूर्वीय तथा पाश्चात्य-दोनों ने ही श्रेष्ठ श्रेणी के लोगों से सम्बन्धित कथानकों को नाटकों के लिए मान्य समझा है और यदि वे जीवित होते तो एकांकी के लिए भी यही आदेश देते। अरस्तू के अनुसार दुःखान्तकी किसी श्रेष्ठ वर्ग के पात्र द्वारा सम्पादित, एक गभीर, महत्वपूर्ण, सम्पूर्ण तथा विशाल कार्य है जो भय और करुणा के माध्यम द्वारा हमारी भावनाओं का परिमार्जन करता है। पूर्व के सुखान्तकी में पात्र राजे हैं, महाराज हैं। इसके विपरीत मारिस मेटरलिक तथा अन्य प्रगतिवादी तथा यथार्थवादी आलोचकों ने श्रेष्ठ वर्ग के जीवन को नाटक-रचना के लिए अनावश्यक ही नहीं बरन निरर्थक माना है। इसके अनुसार साधारण वर्ग के लोगों के जीवन में, जो हमारे बहुत निकट है, ऐसे फलप्रद स्थल हैं जिनके आधार पर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ नाटक की रचना हो सकती है। इस सिद्धान्त से कलाकार का उत्तरदायित्व कुछ अधिक बढ़ जाता है। यों तो श्रेष्ठ कलाकार बालू से भी तेल निकाल सकता है परन्तु साधारण कलाकार को रूढ़िवादी होना ही पडेगा। जब तक उसकी प्रतिभा असाधारण नहीं कदाचित वह साधारण

---

१ देखिए—'दुःखान्तकी खण्ड'

विषयों में नाटक की आत्मा की प्रतिष्ठा न कर सकेगा। हम साधारण दृश्यात्मक स्थलों की ओर संकेत कर चुके हैं और उनकी रोचकता पर विचार भी कर चुके हैं। सच तो यह है कि कथानक का चुनाव हमें लेखक की रुचि और उसकी प्रतिभा पर ही छोड़ना पड़ेगा; परन्तु उससे हम उत्तेजना, विस्मय तथा रोचकता माँगने के हकदार अवश्य हैं।

उदाहरणार्थ 'माँ'[1] का कथानक साधारण अफ्रीदी जीवन से लिया गया है जिसमें यथार्थ का यथेष्ट ध्यान रख कर ही उद्देश्य-पूर्ति की चेष्टा की गई है। इस एकांकी में साधारण अफ्रीदी समाज तथा उसके अन्तर में छिपे हुए कुछ स्थलों की ओर प्रकाश डाला गया है और इस प्रकाश में हमें अफ्रीदी समाज के दो एक जातीय गुणों के स्पष्ट दर्शन होते हैं। यदि इस उद्देश्य में कथानक सहायता देता है तो उसका चुनाव सफल है। उसी प्रकार 'ठाकुर का घर'[2] में एक साधारण गृहस्थ के क्रान्तिकारी जीवन से सम्बन्धित कथानक चुना गया है। 'मछुए की माँ'[3] का कथानक माहीगीरों के सरल' दीन तथा दरिद्र जीवन से सम्बन्धित है। 'बन्दर की खोपड़ी' तथा 'दादा की मौत' का कथानक मध्यम वर्गीय जीवन की ओर दृष्टिपात करता है और 'प्यारे सपने' का कथानक भी उसी जीवन से सम्पर्क रखता है। इन कथानकों में प्रायः सभी, केवल 'दादा की मौत' छोड़ कर, दुःखान्तक हैं और यथासाध्य उनमें कथानक के तीन वांच्छनीय गुणों - उत्तेजना, विस्मय तथा रोचकता लाने का प्रयास किया गया है। इन तीनों गुणों का परिपाक किस प्रकार तथा किन साधनों द्वारा किया गया है इसका उल्लेख एकांकियों की अलग आलोचना में ही हो सकता है। परन्तु इसका संकेत अवश्य किया जा सकता है कि

---

१ देखिए—'सात एकांकी'

२ वही ३ वही

'माँ' में उत्तेजना तथा रोचकता ग़फ़ार की माँ की स्निग्ध ममता तथा अपने-सगे बेटे की मृत्यु की अज्ञानता के द्वारा ही प्रस्तुत हुई है। वैसे ही 'ठाकुर का घर' तथा 'मछुए की माँ' में उत्तेजना तथा रोचकता, गगा तथा शान्ति के प्रेम और कप्तान डूडिल के क्रूर तथा कुटिल वाद-विवाद के द्वन्द्व-स्वरूप तथा 'मुलिया की माँ' के आग्रह तथा उसके व्यथित हृदय की आशकाओ की पूर्णता मे क्रमशः प्रस्तुत हुआ है। 'बन्दर की खोपड़ी' तथा 'दादा की मौत' मे उत्तेजना और रोचकता की विशेष मात्रा है। 'बन्दर की खोपड़ी' में कदाचित उत्तेजना अतिक्रमण कर गई है और 'दादा की मौत' में रोचकता।[१] यह स्वाभाविक ही है क्योंकि पहले का कथानक तत्र-जगत से सम्बन्धित है और दूसरे का प्रहसनात्मक है।

वस्तु

कथानक के चुनाव के पश्चात् हमे उस कथानक को एक ऐसे ढाँचे मे ढालना रहता है जिससे हमारे नाटकीय उद्देश्य की पूर्त्ति हो। जिस प्रकार से लोहे के कारखाने कच्चा लोहा गलाकर, उन्हें साँचे में ढाल कर चमचमाती हुई रेल की पटरियाँ तथा अन्य उपयोगी औजार बना देते हैं अथवा जैसे नानबाई मैदा, खमीर तथा साँचे और आग के उपयोग से डबल-रोटियाँ प्रस्तुत कर देते हैं उसी प्रकार नाटककार कथानक को काँट छाँट कर, उसको संवार कर, वस्तु का निर्माण कर सकते हैं। कुशल माली वाटिका में घूम-घूम कर क्यारियों की मेड़ें ठीक करता है, फुनगियाँ सीधी करता है, पौधे के पास लगी हुई घास को उखाड़ फेंकता है, गुलाब में कलमें लगाता है और जाते-जाते वाटिका को नया रूप तथा रंग दे देता है उसी प्रकार एकांकी नाटककार अपने कथानक-रूपी उद्यान की क्यारियाँ, पौधे, कलमें, काट-छाँट कर वस्तु का निर्माण करता है। कुछ लेखकों और

---

१ देखिए—'सात एकांकी'

पाठकों के मन में कथानक तथा वस्तु के अन्तर का अनुभव कठिन जान पड़ता है वे कथानक और वस्तु को एक ही चीज़ समझने लगते है। यह धारणा भ्रममूलक है। कथानक वस्तु का जन्मदाता है। वह उसकी नीव है। गमले रूपी कथानक का वस्तु प्रस्फुटित पुष्प है।

रङ्ग स्थल

वस्तु-निर्माण में सब से पहले रंग-स्थल का ध्यान होना चाहिए। रंग-स्थल की अड़चनें वस्तु को बहुत कुछ अंशों में सीमित कर देती हैं। जैसा कि हम दुःखान्तकी खण्ड मे देख चुके हैं शेक्सपियर के समस्त नाटक रंग स्थल की अड़चनों पर विजय पाने के लिए अनेक साधनों का सहारा लेते रहे हैं। उसी प्रकार आधुनिक नाटककार को भी ऐसी कथा-वस्तु सजोनी चाहिए जिससे रंग-स्थल की कठिनाइयाँ कोई बड़ी अड़चन न डाल सकें। आधुनिक रङ्ग-स्थल इतना सहज तथा प्राकृतिक हो गया है कि उसमे हम कोई असाधारण अथवा कृत्रिम घटनाओं को सफल रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकते। पश्चिमी देशो में, खुले मैदान में, रङ्ग-स्थल की व्यवस्था का प्रचार बहुत जोर शोर से है। बहुत से प्रगति-शील नाटककार रङ्ग-स्थल के लिए केवल एक पिछला और एक अगल्प परदा ही यथेष्ट समझते हैं और जीवन के सभी रोचक प्रसंग वहाँ पर सफलता से प्रस्तुत कर सकते है। नाटक की पृष्ठ-भूमि समझाने के लिए रंग-स्थल पर सजाई हुई चीज़ों तथा पात्रों की वेश-भूषा और कथोपकथन का उपयोग साधारणतः आजकल होता है।

ऐतिहासिक कथानकों से ली हुई वस्तु में रङ्ग-स्थल का उत्तर-दायित्व कुछ अवश्य बढ़ जायगा। लेखक को तत्कालीन जीवन का सम्पूर्ण परिचय, वेश-भूषा ज्ञान; भाषा का ज्ञान तथा सजावट का सम्पूर्ण परिचय होना चाहिए। इस दृष्टि से हमें नाटककार की सफलता की माप लगाना होगा। उदाहरण के लिए वस्तु तो है अशोक अथवा चन्द्रगुप्त के समय से सम्बन्धित और बैठक में आजकल की

कुर्सियाँ रखी हैं ; बिजली का पखा चलाया जा रहा है और बन्द किया जा रहा है; चाय आ रही है, प्लेटों में रखी हुई, मिठाई नहं वरन केक और बिस्कुट आ रहा है या महाराज के स्नानागार में पानी के पम्प लगे हुए हैं। या चित्र तो है बौद्धकालीन भारत का और पात्र रंग-स्थल पर चूड़ीदार पाजामा तथा जूते पहने हुए हैं। अथवा मुगल-दर्बार के दृश्य में बिजली के पंखे चलते दिखलाई देते हैं अथवा दृश्य है एक अत्यन्त गरीब घर का मगर बर्तन कुछ तो हैं चाँदी के; अधिकांश फूल के और एक बैठक भी है जिसमें गद्देदार कुर्सियाँ भी रखी हैं। यह वातावरण वस्तु के, पात्र के तथा देशकाल की दृष्टि से असंगत है।

साधारण जीवन से सम्बन्धित कथानकों से वस्तु चुनने में निरीक्षण शक्ति की बहुत आवश्यकता पड़ेगी। निरीक्षण की क्षमता द्वारा ही वस्तु में जान पड़ सकती है : इसी शक्ति के उपयोग द्वारा वस्तु के सम्पर्क में आने वाली अनेक चीजों पर यथेष्ट ध्यान पड़ेगा। निरीक्षण द्वारा ही प्रत्येक वस्तु में वास्तविकता की प्राण-प्रतिष्ठा हो सकती है। बाह्य जीवन को वस्तु में समेटने के लिए तो निरीक्षण-क्षमता के अतिरिक्त और कोई दूसरी शक्ति ही नहीं। मनुष्यों का रहन-सहन, आचार-विचार, आदान-प्रदान तथा उनके प्रतिदिन की जीवन-चर्या का समुचित परिचय निरीक्षण-शक्ति द्वारा दिया जा सकता है। इस शक्ति के समुचित प्रयोग से वस्तु की सजावट तथा उसका शृङ्गार हो सकता है और इसी के बल पर हम वस्तु को ऐसा रूप दे सकते हैं जैसा कि हम शायद कल्पना भी न कर सकें। निरीक्षण-शक्ति, वस्तुरूपी शिशु की सुबुद्धिपूर्ण धाय समान है जो उसको हर समय, हर जगह क्षति से बचाती चलती है और उसका पोषण करती रहती है। निरक्षण-क्षमता यों तो सभी तरह के साहित्य निर्माण में अपेक्षित है किन्तु नाटक-रचना में तो उसका स्थान बहुत महत्व-पूर्ण है।

भाव प्राधान्य

वस्तु-निर्माण मे लेखक को केवल एक ही स्थल, एक ही भावना, एक ही स्थिति तथा एक ही भाव अथवा चित्तवृत्ति का प्राधान्य रखना चाहिए, इसी एककोणीय प्रदर्शन में एकांकी विशेषता है और इसी म उसकी कला है। यदि किसी एकांकी मे अनेक स्थलों, अनेक भावो, अनक चित्तवृत्तियों का सम्मिश्रण है तो वह लेखक एकांकी के प्रमुख तत्व की रक्षा नहीं करता और उसमे एकांकी लेखन कला पूर्ण-रूप से प्रस्फुटित न हो पाएगी। एकांकी की महत्ता इसी में है कि वह केवल एक ही भावना अथवा चित्तवृत्ति का उत्तेजनापूर्ण, विस्मयपूर्ण तथा रोचक प्रदर्शन करे। यदि लेखक इस आदर्श से गिरता है तो वह किसी भी दृष्टि से सफल नहीं हो सकता। कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि कुछ कलाकार वस्तु में उत्तेजना अथवा रोचकता लाने के लिए भूल से अनेक स्थलों अथवा भावनाओं को एक ही एकांकी में प्रस्तुत कर देते हैं जिसके फलस्वरूप एकांकी के अन्तिम प्रभाव में बहुत कमी आ जाती है और दर्शक का ध्यान भट-कने लगता है। जब तक एक ही भावना का प्रसार न होगा प्रभाव में सदा कमी रहेगी। एकांकी नाटकरूपी गीत है। जिस प्रकार गीत का प्राण एक ही भाव-प्राधान्य में रहता है उसी प्रकार एकांकी का प्राण केवल एक ही भावना-विशेष में निहित रहता है। यह नियम, चाहे दुःखान्तकी हो अथवा सुखान्तकी अथवा प्रहसन सभी पर लागू होगा। इस नियम की उपेक्षा नहीं हो सकती। उपरोक्त नियम के आधार-भूत 'माँ' में वात्सल्य की मर्यादा, 'ठाकुर का घर' में घर की 'आन' की मर्यादा; 'मछुए की माँ' मे मांझी के जीवन की (दृढ़ता तथा आशङ्का के द्वन्द्व रूप) 'वात्सल्य-व्यथा', 'बन्दर की खोपड़ी' में 'औत्सुक्य' का एकाकी प्रसार; 'दादा की मौत' में सामाजिक तथा 'पारिवारिक पाखण्ड' का प्रदर्शन तथा 'प्यारे सपने' में कौमार्य जीवन की कल्पना का दिग्दर्शन है।

इसी नियम के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि कलाकार को एकांकी में केवल एक भावना के फल स्वरूप एक ही प्रभाव विशेष डालने में संलग्न रहना चाहिए। एक भावना के फल-स्वरूप जो प्रभाव प्रकट किया जायगा उससे दर्शक के हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ेगा और यदि प्रभाव में अनेकरूपता हुई तो एकांकी अपने आदर्श से गिर जायगी। प्रभाव के अनेक रूप होने के कारण दर्शक का ध्यान बँटता चला जायगा और अन्त में उसके हृदय पर कोई स्थायी तथा स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ सकेगा।

सामञ्जस्य तथा समन्वय

कला की दृष्टि से एकांकी लेखक को वस्तु के अनेक भागों पर कड़ा नियंत्रण रखना होगा। इस नियन्त्रण के फलस्वरूप ही एकांकी अपने सफल रूप मे विकसित हो सकेगी। इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु के जो-जो अंग और जो-जो स्थल लेखक चुने उन स्थलों में सम्पूर्ण सामञ्जस्य तथा समन्वय होना चाहिए। यदि उसका कोई भी स्थल प्रभाव मे अड़चन डाले और पूर्णरूप से एक दूसरे मे समवेष्ठित न हो सके तो उसे निकाल ही फेंकना श्रेयस्कर होगा। क्योंकि जो स्थल अपना व्यक्तित्व, मुख्य स्थल में घुला मिला न देंगे, उन्हें नाटककार को अलग से आगे बढ़ाना पड़ेगा और इस कारण एकांकी के प्रभाव में काफी क्षति पहुँचने की आशंका हो जायगी। यदि कहीं पर, किसी समय भी, नाटककार किसी एक अलग स्थल की मनुहार मे लग गया तो एकांकी की रूप रेखा बिगड़ जायगी। इसीलिए श्रेष्ठ कलाकारों का आदेश है कि उसके समस्त अंगों में कलापूर्ण ऐक्य तथा सहज समन्वय होना चाहिए। जिस प्रकार बेलपत्र की तीन पत्तियाँ सदा साथ उपजती हैं, साथ-साथ बढ़ती हैं और साथ ही साथ शिव के मस्तक पर सुशोभित की जाती हैं उसी प्रकार एकांकी के स्थल एक दूसरे से सहज तथा नैसर्गिक रूप में बिंधे हुए रहना चाहिए।

एकांकी में इस ऐक्य तथा समन्वय की स्थापना के साथ लेखक को वस्तु की रूप रेखा पर विशेष ध्यान रखना होगा। ऐक्य और समन्वय के फलस्वरूप ही एकांकी की रूप रेखा बनती बिगड़ती है और यदि लेखक रूप रेखा पर अलग से भी ध्यान देगा तो एकांकी अद्‌भुत रूप से हमें प्रभावित करेगी। एकांकी के वस्तु की रूप रेखा एक छोटे कथानक-रूपी जलाशय के मध्य में विकसित कमल के समान होनी चाहिए। कमल के नीचे की पखुड़ियाँ जल पर तैरती रहती हैं; उनके ठीक बीचोबीच से अण्डाकार पखुड़ियों का दर्शन होता है। उसी प्रकार वस्तु की आत्मा भी विकसित होनी चाहिए। उसकी पंखुड़ियों मे ऐक्य और समन्वय के साथ-साथ उसकी रूप-रेखा का कमल-रूपी विकास होना चाहिए। उदाहरणार्थ 'माँ' में ग़फ़ार की माँ की अविकल प्रतीक्षा; अहमद की उतावली; जिरगे के चौकीदारों की सूचना प्रणाली द्वारा समन्वय तथा ऐक्य प्रदर्शन करने की चेष्टा की गई है, 'ठाकुर का घर' में गंगा का मातृत्व, शान्ति का पत्नीत्व, कप्तान डूडिल का शासकत्व तथा उत्तम का व्यक्तित्व—चारों में समन्वय लाने का प्रयास है, 'मछुए की माँ' में मुलियाँ की माँ के आशंकित वात्सल्य तथा धम्मन की निष्ठा और धुलिया के सरल अज्ञान में सामञ्जस्य प्रस्तुत करने की चेष्टा है। 'बन्दर की खोपड़ी' में भैरव की व्यक्त उत्सुकता और जमुना की अव्यक्त उत्सुकता दोनों में समन्वय का प्रयास है।

ध्यानाकर्षण

वस्तु में ऐक्य और समन्वय के अतिरिक्त जो बात सबसे अधिक महत्व की है वह है दर्शकों का ध्यानाकर्षण। यदि दर्शकों का ध्यान आदि से अन्त तक वस्तु के विस्मय पूर्ण तथा संशय-पूर्ण अन्त की ओर नहीं रहा तो कोई भी एकांकी सफल नहीं कही जायगी। दर्शकों के ध्यानाकर्षण में एकांकी की नब्बे फीसदी सफलता निहित रहती

है। दर्शक शुरू से ही विस्मय और संशय के पाश में इतना जकड़ दिया जाय कि अन्त तक उसका छुटकारा न हो सके और एकांकी के पटाक्षेप के बाद भी उसकी आत्मा, विस्मय, संशय तथा उद्विग्नता के सागर में डूबती तिराती रहे। विस्मय तथा संशय के अभ्युत्थान, उसका प्रगति तथा उसके अन्त के प्रदर्शन में जिस कला की आवश्यकता पड़ती है उतनी कदाचित् एकांकी के अन्य-स्थलों के प्रदर्शन में नहीं पड़ती। कथानक चुनना सरल है; वस्तु-समन्वय भी सरल है परन्तु दर्शक के हृदय में विस्मय के प्रसार द्वारा उसका ध्यानानर्पण कठिन है।

इसके अनेक कारण हो सकते हैं। पहला तो यह कि समस्त दर्शक वर्ग किसी एक ही सामान्य विस्मय भाव से समान-रूप से नहीं प्रभावित हो सकता है। किसी दर्शक को भावात्मक संशय, किसी को घटनात्मक संशय, किसी को तार्किक-संशय तथा किसी को कल्पनात्मक संशय प्रिय होता है और सबको समान रूप से प्रभावित करना प्रायः असंभव ही होगा। हाँ, यह अवश्य है कि कुछ संशय तथा विस्मयपूर्ण स्थल ऐसे भी हो सकते हैं जिससे कि साधारण मानव, मनुष्य की हैसियत से साधारणरूप से प्रभावित हो जाय। जिन मनुष्यों की आत्मा तथा आचार विचार अधिक संस्कृत होंगे और जिन्हें साधारणतः उच्चस्तर पर मानव जीवन-विश्लेषण प्रिय होगा वे कदाचित् कल्पनात्मक संशय तथा विस्मय से अधिक प्रभावित होंगे। जिस दर्शक वर्ग में उच्च शिक्षा तथा परिमार्जित भावों की कमी होगी वह साधारणतः घटनात्मक-विस्मय से ही अधिक प्रसन्न होंगे। इसका सबसे सबल प्रमाण सिनेमा संसार से तथा उपन्यास और कहानी लेखकों से मिल सकता है। जिन-जिन फ़िल्मों का घटना-चक्र जटिल और साथ ही साथ आकर्षक नहीं होता वे अधिकतर जनता को प्रिय नहीं होते। अधिकांश मनुष्य बाहर निकल कर यह कहते सुने जाते हैं—'इसमें कोई कहानी ही नहीं—बस ऐसा ही वैसा

है'। यही दशा उपन्यासों की भी होती है। यदि उपन्यास लेखक घटना-स्थलों में विस्मय कूट-कूट कर भर देता है तो उसकी रचना बिकती खूब है; यही कारण है कि शायद हिन्दी संसार में 'चन्द्र-कान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' की बहुत धूम रही और कदाचित् ही कोई पुस्तक—हाँ तुलसीकृत रामायण तथा गीता छोड़कर—इतनी संख्या में बिकी हो। पश्चिमी साहित्य में भी यह बात उसी अंश में लागू होती है जिसका प्रमाण हमें जासूसी उपन्यास लेखकों की सर्व-प्रियता में मिलता है। अंग्रेजी साहित्य के प्रमुख जासूसी उपन्यासकार-सर आर्थर कोनन डायल, एडगर वालेस, ऑपिनहीम तथा बर्था रक अपने घटनात्मक-विस्मय-पूर्ण कृतियों के फलस्वरूप ही इतने लोक प्रिय रहे हैं। भावात्मक विस्मय, तार्किक विस्मय तथा कल्पनात्मक विस्मय-पूर्ण नाटक केवल परिष्कृत मस्तिष्क वालों को ही प्रिय हो सकते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि भावनाओं की स्वाभाविकता का समुचित माप, तर्क प्रियता तथा कल्पना की हृदय-ग्राहिता और गुण ग्राहकता किसी वर्ग-विशेष के मनुष्यों में ही मिल सकती है। सारी जनता इस विस्तृत अनुभव से दूर रहती है। इसी कारण जिन नाटकों में भावों का परिष्कृत रूप मिले, तर्क का प्रसार हो और कल्पना की उड़ान हो वे लोकप्रिय नहीं होते। लोकप्रियता के लिए घटनाओं का चक्रव्यूह चाहिए जिसमें पग-पग पर संशय और विस्मय का प्रसार हो। कुछ संसारी लेखक और फिल्म-निर्माता मध्य-वर्त्ती मार्ग भी अनुसरण करते हैं जिनके द्वारा वे जनता को कुछ अंश में प्रसन्न करते हैं और कुछ अंश में कला की रक्षा भी करते हैं। जब तक जनता में साक्षरता तथा शिक्षा का अधिक प्रसार न होगा और जब तक समाज का मस्तिष्क परिष्कृत न होगा, श्रेष्ठ साहित्य की रचना में सदैव अड़चनें बनी रहेंगी। उपरोक्त विश्लेषण के उदाहरण-स्वरूप हम 'माँ' में भावात्मक विस्मय, 'बन्दर की खोपड़ी' तथा 'दादा की मौत' में घटनात्मक विस्मय तथा 'प्यारे सपने' में

कल्पनात्मक विस्मय मिलेगा। 'मछुए की माँ' तथा 'ठाकुर का घर' में भावात्मक तथा घटनात्मक विस्मय के सम्मिश्रण का प्रयास है।

४

वस्तु-निर्माण

निरूपण

एकांकी लेखन में कलाकार को जो सबसे बड़ी कठिनाई झेलनी पड़ती है वह वस्तु निरूपण से सम्बन्ध रखती है। यदि यह कठिनाई दूर हो जाती है तो बहुत कुछ अंश में एकांकी सफल होगी। साधारणतः वस्तु-निरूपण के चार भाग होते हैं परन्तु तीसरा और चौथा भाग इतना मिला-जुला रहता है कि साधारण पाठकों के लिए उसका स्पष्टीकरण कठिन ही नहीं वरन असम्भव हो जाता है। मूल रूप में तो प्रत्येक एकांकी की वस्तु में आदि, मध्य तथा अन्त का होना अनिवार्य है। जिस प्रकार दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी खण्ड में हम वस्तु के 'आदि' की महत्ता, 'मध्य' की विशेषता तथा 'अन्त' का प्रभाव देख चुके है उसी प्रकार एकांकी मे भी मूल-रूप से वही सिद्धन्त मान्य है। बिना इन तीनों के न तो एकांकी की रूप रेखा बन सकती है और न वे रोचक ही हो सकते हैं।

वस्तु-निरूपण के चार भागो में क्रमानुसार निरूपण, अवरुंधन, उत्कर्ष तथा अपकर्ष की गणना होती है। निरूपण का मुख्य कार्य है दर्शकों को नाटकीय पृष्ठभूमि तथा नाटक-स्थिति का परिचय देना। इस भाग को देखते ही दर्शकों को यह निश्चय हो जाना चाहिए कि परिस्थिति क्या है और मुख्य पात्र पात्री कौन हैं। बिना परिस्थिति-ज्ञान तथा मुख्य पात्र अथवा पात्री से परिचय पाए हुए दर्शक का न तो ध्यानाकर्षण होगा और न संशय और विस्मय का ही बीजारोपण हो सकेगा। इसलिए यह नितान्त आवश्यक है कि नाटककार एकांकी के आदि भाग में शीघ्र से शीघ्र निरूपण द्वारा नाटक की परिस्थिति का

यथेष्ट परिचय दे। हाँ, यह हो सकता है कि परिचय सम्पूर्ण न हो; मगर इतना तो अवश्य होना चाहिए कि दर्शक यह जान लें कि पृष्ठ-भूमि क्या है और कैसा कथानक उनके सामने प्रस्तुत होने वाला है। इस जानकारी में नाटककार को काफ़ी सहायता देनी चाहिए। परन्तु निरूपण के लिए सब से महत्वपूर्ण बात है—निरूपण की स्वाभाविकता तथा संक्षिप्त संकेत। एकांकी के वस्तु का ढाँचा इतना छोटा और उसका विस्तार इतना संकुचित होता है कि निरूपण-भाग में विस्तार-पूर्वक लेक्चरबाज़ी तथा विस्तृत विश्लेषण का न तो सावकाश ही रहता है और न उसकी आवश्यकता। इसके साथ ही साथ ध्यानाकर्षण का अलग आग्रह है जिसके ऊपर एकांकी का सम्पूर्ण भार रहता है। इन प्रश्नों को सामने रखते हुए नाटककार को एकांकी के 'आदि' भाग में परिस्थिति का ज्ञान अवश्य करा देना चाहिए।

परिस्थिति का परिचय देने में प्रासांगिक पृष्ठ-भूमि का भी विशेष स्थान होना चाहिए। प्रासांगिक पृष्ठ-भूमि से तात्पर्य परिस्थिति से सम्बन्धित, उन छिपे हुए स्थलों अथवा भावों का परिचय है जो एकांकी में स्पष्ट रूप से नहीं बताए गए हैं मगर उनकी छाया सम्पूर्ण नाटक पर है। निरूपण खण्ड में ही यह बताना आवश्यक है कि पहले क्या-क्या हो चुका है अथवा कौन सी घटना घट चुकी होगी अथवा कौन-कौन से भावों का विस्तार रहा होगा। जिस प्रकार चित्रकार सूर्योदय का चित्र चित्रित करने में सूर्य की रश्मियों के पीछे उषा की लालिमा और उषा की लालिमा के पीछे बादलों की अथवा अन्धकार की रेखाओं का भी धुँधला प्रदर्शन रख देता है उसी प्रकार एकांकी नाटककार निरूपण के पहले छिपे हुए स्थलों का संकेतात्मक परिचय देता है जिससे वस्तु के समझने में आसानी होती है। परन्तु इसमें भी बड़ी स्वाभाविकता होनी चाहिए और अत्यन्त संक्षेप में—दो ही एक कथोपकथन द्वारा-परोक्ष के स्थलों को स्पष्ट कर देना चाहिए। विस्तृत भूमिका घातक होगी; लम्बे कथोपकथन अरुचिक

तथा अस्वाभाविक होंगे, और एकांकी इन कमज़ोरियों से उभर न पाएगी। उदाहरण से यह नियम और भी स्पष्ट हो जायगा। 'माँ' में यह बतलाना आवश्यक है कि ग़फ़ार की माँ, ग़फ़ार की इन्तजार में है, ग़फ़ार बाहर गया हुआ है; बुढ़िया का केवल वही सहारा है, वह उसी की प्रतीक्षा में उतावली है। इस तथ्य का संकेत पहले ही वाक्य में होता है—

"कौन ? कौन है ? (पास आकर) अहमद ! अरे तू ! इस वक्त कैसे ? मैंने तो तेरी आहट भी न पायी। मैं समझी कि कहीं ग़फ़ार तो नहीं चुपके से चला आया। मैं तो डर गयी।" १

इसके साथ-साथ ही यह भी आवश्यक है कि वस्तु के प्राण की ओर संकेत कर दिया जाय और अत्यन्त संक्षिप्त तथा संकेतात्मक शब्दों, मुहावरों अथवा भावों द्वारा यह बतला दिया जाय कि शायद अन्त में वस्तु का अमुक स्वरूप होगा। इसी ध्येय की पूर्ति के लिए अहमद कहता है—"माँ ! तुम मुझे आज से अपना बेटा समझो।" और ग़फ़ार की माँ अपने दुर्भाग्य से अपरिचित, स्वाभाविक रूप से कह बैठती है—"तो साफ क्यों नहीं कहता कि खून कर आया है ? कौन अभागा था वह ?" दुर्भाग्यात्मक संकेत का 'अभागा' बड़ा सफल उदाहरण है। इसी प्रकार 'ठाकुर का घर' में यह जताना आवश्यक है कि गंगा और शान्ति उत्तम की प्रतीक्षा में है। उत्तम किसी अत्यन्त रहस्य-पूर्ण अथवा गुप्त कार्य वश बाहर गया है और यह परिचय भी आवश्यक है कि एकांकी आगे क्या स्वरूप ग्रहण करेगी; उसको भी नितान्त संक्षिप्त संकेत वाँच्छनीय है। इसीलिए गंगा पहले ही वाक्य में कहती है—"बाहर तो जैसे तूफान खड़ा हो ! मालूम होता है जैसे 'घर' ही ढह पड़ेगा" इसके बाद ही एक ही वाक्य में वह अपना अपरिचित दुर्भाग्यात्मक संकेत दे बैठती है—"मुझे तो दूर तक अँधियाला ही अँधियाला दिखाई पड़ता है"। "उसने तो कहा था कि जब दरवाजा खटके तभी लालटेन रखना।" तात्पर्य यह

है कि लेखक को शीघ्र से शीघ्र, संक्षिप्त रूप में, संकेतात्मक शैली द्वारा पूर्व-परिस्थिति का ज्ञान करा देना चाहिए। पूर्व-परिस्थितिज्ञान में कथोपकथन ही प्रधानतः सहायक होता है; और रंगस्थल पर प्रमुख पात्रों की या तो उपस्थिति आवश्यक है अथवा अन्य पात्रों द्वारा उनका परिचय। कथोपकथन के स्वरूप का हम आगे विवेचन करेंगे।

अवरुंधन

एकांकी के अवरुंधन खण्ड में नाटककार को नाटकीय स्थलों अथवा नाटकीय भावों अथवा पात्रों को द्वन्द्व-रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। नाटकीय स्थलों के प्रदर्शन में संशय और विस्मय का केवल बीजारोपण होना चाहिए; और इस स्थान पर दो स्थलों अथवा दो भावों, अथवा दो विचारों, अथवा दो पात्रों, अथवा दो पात्र-वर्गों को स्वाभाविक रूप से अवरुंधन में डाल कर नाटक की प्रगति करनी चाहिए। यदि कलाकार चाहे तो अन्य पात्रों का भी परिचय इस खण्ड में दे सकता है। परन्तु उसका मुख्य ध्येय होना चाहिए—विस्मय का प्रसार और दर्शकों का ध्यानाकर्षण। अवरुंधन में कभी-कभी भय इस बात का रहता है कि नाटकीय स्थल कहीं इतने जटिल तो नहीं हो गए जो शीघ्र सुलझ न पाएँ और नाटक का अन्त करने के लिए जबरदस्ती किसी पात्र को या तो जन्म देना पड़े या किसी को मारना पड़े या आत्महत्या करानी पड़े। अनेक एकाँकियों में लेखक, एक अथवा अनेक अपरिचित पात्र इतनी देर में रंग-स्थल पर प्रस्तुत करते हैं कि उनका सम्बन्ध न तो पृष्ठभूमि से रहता है, न मुख्य पात्रों से, और वे केवल अस्वाभाविक रूप से एकांकी का अन्त कराने में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार का वस्तु-निर्माण दोषपूर्ण होगा और एकांकी सफल न हो पाएगी।

अधिकतर देखा गया है कि एकांकी के निरूपण भाग तथा अवरुंधन भाग में समय का अन्तर नहीं के बराबर होता है और दोनों एक दूसरे से बिलकुल मिल-जुल जाते हैं और हम दोनों भागों

को स्पष्ट-रूप से देख नहीं पाते। इसका कारण है; एकाँकी का सकुचित क्षेत्र और उसका सीमित विस्तार। ज्यों ही निरूपण आरंभ हुआ त्योंही अवरुंधन भी शुरू हो जाता है और ज्योंही दोनों स्थलो का मिश्रण हुआ त्योंही उत्कर्ष अथवा तीसरा भाग आरम्भ हो जाता है। उदाहरणार्थ 'माँ' मे अवरुंधन, निरूपण के थोड़ी देर बाद ही आरम्भ हो जाता है—

अहमद—"कहीं भी पनाह दो' देर न करो; मेरा दम घुट रहा है; वे सब आते ही होगे !"

ग़फ़ार की माँ—"कौन आता होगा ? ग़फ़ार ? हाँ बड़ी देर हुई ! उसे आना ही चाहिए।"

अहमद—"नहीं माँ, जिरगे के सिपाही। वे बहुत दूर न होंगे, उन्होंने मुझे इधर भागते भी देखा है।······"

ग़फ़ार की माँ—" तो मेरी जिरगे के सिपाहियो मे ठनी है, बड़ा बहादुर बना है !"

दो पात्रों में कथोपकथन के मध्य में ही तीसरी होने वाली घटना का परिचय अवरुंधन की पहिली सीढ़ी है। उसी प्रकार 'ठाकुर का घर' में अवरुंधन का स्पष्ट आरम्भ उत्तम करता है—

उत्तम—"देख शान्ती !अगर कोइ आवे भी तो खबरदार ज़बान से एक शब्द भी न निकले, नहीं तो सब चौपट हो जायगा; और कुछ हाथ न लगेगा। फौज़ी बात निकालने में बडे होशियार होते हैं। वे कुछ उठा न रखेंगे······"

यद्यपि अवरुंधन का प्रथम संकेत गंगा देती है—

"ले बेटा खाता जा और तापता जा। फिर थोड़ा आराम कर ले तब जाना।"

"बेटा ! जब आग में हाथ दिया तो फफोलों का क्या डर।"

'मछुए की माँ' में अवरुंधन काफ़ी देर में प्रदर्शित होता है जिसका संकेत यद्यपि पहले अनेक पात्र करते हैं मगर स्पष्टीकरण मुलिया की माँ ही करती है —

"अपनी ही करोगे, देख तो लो तूफ़ान घिरा आ रहा है; ऐसा ही तूफ़ान धन्नू को ले गया था।"

जैसा कि हम ऊपर स्पष्ट कर आए हैं अवरुंधन में भी जितने भविष्य के लिए संकेत हो उतना ही अच्छा। मगर वे केवल रहस्यात्मक संकेत होने चाहिए—स्पष्ट कभी भी नहीं। ये रहस्यात्मक संकेत जिनके उदाहरण हम गिना चुके हैं इतने स्वाभाविक और सहज रूप में आने चाहिए कि उन पर मामूली दर्शक का ध्यान आसानी से आकृष्ट न हो परन्तु चतुर दर्शक इशारा पाजाँय कि शायद एकाँकी का अन्त अमुक रूप में होगा।

उत्कर्ष

अवरुंधन के पश्चात उत्कर्ष तथा अपकर्ष की रचना होती है। उत्कर्ष भाग में भावों का अथवा विचारों का, अथवा नाटकीय स्थलों का, अथवा पात्र और पात्र वर्गों का द्वन्द्व एक अत्यन्त ऊँचे स्तर पर प्रदर्शित किया जाता है। भावों का वहाँ चरम विकास होता है; भाव अथवा भाव-समूह उस चरम स्तर पर पहुँच कर निम्नगामी होते हैं। उस उच्चशिखर पर पहुँच कर (क्योंकि उसके आगे विस्तार कठिन है या है ही नहीं) भाव समूह स्वाभाविक रूप से उतार पर आ जाते हैं। जिस प्रकार आतशबाज़ी में जब अनार छूटता है तो पहले छुर्‌र्‌र्‌ की आवाज होती है और वह आवाज धीरे धीरे ज़ोर पकड़ती हुई ऊँचे उठती जाती है और थोड़ी ही देर में आकाश में पटाखे का फ़ौआरा छूटने लगता है जो धीरे-धीरे धुँधला होकर अंधकार में विलीन हो जाते हैं। उसी प्रकार एकाँकी का भी प्रदर्शन होना चाहिए। तुमुलनाद में ही उसका उत्कर्ष प्रतिध्वनि हो और धुँधलेपन में उसका अपकर्ष।

उत्कर्ष में सब से आवश्यक बात यह है कि वह स्वाभाविक हो और उसकी प्रगति, निरूपण और अवरुंधन के स्थलों से होती हुई भावों की चरम सीमा की ओर अग्रसर हो। जिस प्रकार किशोरावस्था

से बालक अथवा बालिकाएं युवावस्था को प्राप्त होती हैं उसी प्रकार सहज रूप में भावों का उत्कर्ष प्रदर्शित होना चाहिए। एकाँकी में विशेषतः एक ही भावप्राधान्य हम सैद्धान्तिक रूप से मान आये हैं। और यह सिद्धान्त हितकर भी है। परन्तु जहाँ अनेक भाव हों उनमें से सब से महत्त्व-पूर्ण भाव को ही आगे बढ़ाना चाहिए और अन्य भावों को नीचे स्तर पर छोड़ देना चाहिए। यदि अनेक भाव उच्चस्तर पर आने की चेष्टा करेंगे तो जैसा हम पहले कह चुके हैं एकाँकी के प्रभाव में कमी आएगी और उसकी रूप रेखा विकृत हो जायगी। भाव-प्राधान्य और उत्कर्ष का बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है।

साधारणतः उत्कर्ष दो प्रकार का हो सकता है—आन्तरिक अथवा वाह्य। आन्तरिक उत्कर्ष में भावनाओं की तथा वाह्य उत्कर्ष में घटनाओं की प्रधानता होगी। कभी-कभी दोनों एक साथ ही रह सकते हैं। परन्तु जैसा हम पहले कह चुके हैं भावोत्कर्ष केवल कुछ ही दर्शकों को प्रिय होंगे क्योंकि उसके समझने और उसका आनन्द ग्रहण करने के लिए परिष्कृत मस्तिष्क की आवश्यकता पड़ेगी। घटनात्मक उत्कर्ष साधारणतः लोकप्रिय होता है और दर्शक उसका आनन्द सरलता से ग्रहण कर लेता है। उदाहरण के लिए 'माँ', 'मछुए की माँ', 'प्यारे सपने' तीनों में भावात्मक तथा आन्तरिक उत्कर्ष प्रधान है और 'दादा की मौत' तथा 'बन्दर की खोपड़ी' में घटनात्मक तथा वाह्य उत्कर्ष प्रदर्शित है। 'माँ' में भावना का उत्कर्ष ग़फ़्फ़ार की माँ के कथन द्वारा प्रदर्शित है—

ग़फ़्फ़ार की माँ—"हैं! अहमद? अहमद? या अल्लाह!"

'ठाकुर का घर' में गंगा का कथन इसका द्योतक है। मगर उसमें घटनात्मक उत्कर्ष का भी सम्मिश्रण है—"गंगा—तुझे शर्म नहीं आती! औरतों के मुंह लग रहा है!......देर क्यों! मेरे जीते जी ठाकुर के घर की आन नहीं मिट सकती। नहीं मिट सकती।"

तथा "झूडिल का कथन—हज़ारा ! दे दो इस बुड्ढी को इसका बेटा का लाश ।"[1]

अपकर्ष

एकांकी के उत्कर्ष तथा अपकर्ष में वैसा ही घनिष्ट तथा जटिल सम्बन्ध है जैसा निरूपण तथा अवरु'धन में होता है। जिस प्रकार निरूपण भाग तथा अवरु'धन खण्ड एक दूसरे से घुल मिल जाते हैं वैसे ही उत्कर्ष तथा अपकर्ष खण्ड में भी स्वाभाविकतः मिश्रण हो जाता है। अधिकतर एकाँकियों में तो उत्कर्ष तथा अपकर्ष बिलकुल साथ-साथ होता है—ज्योंही उत्कर्ष की भावना प्रकट हुई उसी क्षण अपकर्ष का आरम्भ हो जाता है। यह स्वाभाविक ही है जब उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर हो तभी से अपकर्ष का भी आरम्भ हो जाय।

अपकर्ष खण्ड में एकांकी वस्तु की अन्तिम अवस्था का परिचय देती है। दर्शक, उसमें एकाकी की अन्त और सम्पूर्ण कथानक, वस्तु तथा अवरु'धन की गुत्थियाँ सुलझती हुई देखता है। पटाक्षेप के पहले ही दर्शक जान लेता है कि मुख्य पात्र अथवा पात्री, मुख्य भावना अथवा विचार का अन्तिम स्वरूप क्या हुआ। उसे यह पूर्णतया बोध हो जाता है कि अन्तिम भावना दुःखान्तक है अथवा सुखान्तक। नायक की सफलता अथवा विफलता, प्रेम की विजय अथवा पराजय, दुःख का निराकरण अथवा प्रसार, इसी खण्ड में दर्शक को ज्ञात हो जाता है। अपकर्ष एकांकी का ही अन्त नहीं वरन विस्मय का भी अन्त प्रस्तुत करता है जिसके सहारे उसकी प्रगति हो रही थी। अपकर्ष खण्ड का प्रधान गुण स्वाभाविकता तथा मनोवैज्ञानिक सत्यता है।

स्वाभाविकता या तो एकांकी के सभी तत्वों में वांच्छनीय है परन्तु अपकर्ष खण्ड में लेखक का उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता

---

१ देखिए—'सात एकाँकी'

है। यदि अपकर्ष स्वाभाविकता के आदर्श से गिरता है और अस्वाभाविक रूप से एकांकी का अन्त होता है तो एकाकी निम्नकोटि की होगी। स्वाभाविकता से तात्पर्य वस्तु की सहज रूप में प्रगति और चरित्र चित्रण की सत्यता से है। अधिकतर ऐसा होता है कि लेखक पात्रों के नैसर्गिक कार्यों द्वारा अपने ध्येय की पूर्ति नहीं कर पाता है और अपकर्ष का खण्ड आते-आते उसकी कल्पना अथवा निरीक्षण शक्ति अस्थिर हो जाती है और वह उतावली में आकर पात्रो से अस्वाभाविक बातें कहला बैठता है और घबराहट में एकांकी का अन्त कर देता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि एकांकी अपकर्ष पर आ तो गया मगर लेखक को अभी बहुत कुछ कार्य पात्रों से कराना है; अथवा उसे किसी आदर्श का प्रतिपादन करना है; अथवा किसी भावना का और भी स्पष्ट अथवा तीव्र करना है जिसके फल-स्वरूप वह एकांकी को बढ़ाता जाता है; पात्रों में अनर्गल संवाद कराता रहता है, नए विषय जोड़ता रहता है और ऊब कर कहीं न कहीं एकांकी पर पटाक्षेप डाल ही देता है। ये अवगुण बड़े घातक हैं।

अपकर्ष के बाद ही एकांकी पर पटाक्षेप डालना प्रधान भावना का स्पष्टीकरण कलापूर्ण कार्य हैं। पटाक्षेप डालने की कला सरल नहीं, क्योकि उसके साथ ही साथ दर्शकों पर वांच्छित प्रभाव; एकांकी का स्पष्ट प्रयोजन, चरित्र चित्रण का उत्कर्ष—सभी का समुचित दर्शन होना चाहिए। कलाकार को यह जानना नितान्त आवश्यक है कि कहाँ पर, किस स्थल पर, किस संवाद पर, किस घटना पर तथा किस प्रभाव पर एकाकी का अन्त कर देना चाहिए। लेखनी रोकने की कला, लेखनी चलाने की कला से कहीं महत्वपूर्ण है। कलाकार का व्यक्तित्व भावनाओ तथा उनके स्पष्टीकरण के निग्रह मे प्रस्फुटित होता है। ज्योंही वांच्छित भावना तीव्र हो जाय, ज्योंही स्वाभाविक रूप से वह अपने उच्च शिखर पर पहुँचें त्योंही पटाक्षेप होना चाहिए और एकांकी समाप्त हो जानी चाहिए। कोई और बात

प्रस्तुत किया जाय उसका अलग व्यक्तित्व, अलग स्वत्व तथा अलग उत्तरदायित्व होना चाहिए। यह सिद्धान्त नायक के चरित्र-चित्रण में विशेषतः और अन्य पात्रों मे साधारणतः लागू होगा। नायक का व्यक्तित्व जितना स्पष्ट होगा उतनी ही एकाकी प्रभावपूर्ण होगी। जितने निष्पक्ष रूप से उसका कार्य-क्रम प्रदर्शित किया जायगा उतना ही उसका कार्य सन्तोषप्रद तथा स्वाभाविक होगा और जितनी सहानुभूति तथा स्वाभाविकता से उसके भावों की प्रगति होगी उतने ही उसमें साहित्यिक अमरत्व के गुण विकसित होंगे। कुछ लेखक भावनाओं के उत्कर्ष मे इतने बह जाते हैं कि उनका चरित्र-चित्रण या तो स्वाभाविकता का अतिक्रमण करने लगता है या ऐसे स्तर पर पहुँच जाता है जहाँ कल्पना भी हार मान जाती है। स्वाभाविक चरित्र-चित्रण का सबसे सरल तथा सहज उपाय है अनुभव तथा निरीक्षण। जितना ही लेखक का निरीक्षण तीव्र होगा, जितना ही उसकी आँखें मजी हुई होगी, जितना ही उसका अनुभव व्यापक होगा, उतना ही चरित्र-चित्रण प्रभावपूर्ण तथा सन्तोषप्रदायी होगा।

चरित्र-चित्रण यदि अनुभव और यथार्थ की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो मुख्य पात्र तथा अन्य पात्र अथवा पात्रियों में विभिन्नता भी नहीं आएगी जिसके फल-स्वरूप न तो पात्रों का संतुलन ही होगा और न वे आकर्षक ही होंगे। इस अभाव से सब धुंधले और अस्पष्ट व्यक्तित्व लिए अवतरित होंगे और दर्शकों पर उनका प्रभाव भी धुंधला, अस्पष्ट तथा हीन होगा। अनुभवात्मक निरीक्षण तथा स्वाभाविकता पात्र-निर्माण के प्राण-स्वरूप हैं। बिना मनोवैज्ञानिक ज्ञान के भी पात्र निर्माण खोखला होगा और हम पात्रों की सत्यता पर विश्वास न कर पाएँगे। मनोविज्ञान हमें मानव-जीवन की भूल-भुलइयों से परिचित कराता है। वह जीवन के अस्पष्ट-भावस्तरों पर प्रकाश डाल कर हमारे पार्थिव शरीर के पीछे छिपे हुए मानव हृदय का परिचय देता है; और नाटककार जितना ही इस ज्ञान को अपनी साहित्यिक

कृतियो में समो देता है उतना ही वह श्रेष्ठ कलाकार है। जिस प्रकार अनुवीक्षण यन्त्र छोटे से छोटे कीटाणुओं का चित्र खींच देता है उसी प्रकार नाटक-कार का मनोवैज्ञानिक ज्ञान मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क की धमनियों का प्रदर्शन देता है। इसी मे उसकी श्रेष्ठता है; इसी मे उसकी अमरता है।

पात्र-वैचित्र्य तथा चरित्र मे विभिन्नता लाने के लिए कुछ सरल मन्त्र हैं जो महान कलाकारों की कृतियों के अध्ययन द्वारा प्रमाणित है। पहला मन्त्र है—चित्तवृत्ति। पात्रों की चित्तवृत्ति अथवा प्रवृत्ति द्वारा विभिन्नता सरलता से लायी जा सकती है। अन्योन्याश्रित चित्त-वृत्ति मे भी विभिन्नता प्रकट होती है। कौन सा पात्र अमुक पात्र के प्रति कैसी भावना तथा कैसा विचार रखता है और अमुक पात्र किसी दूसरे या तीसरे विशेष पात्र के प्रति कैसे भाव रखता है, इस तथ्य के प्रदर्शन में विभिन्नता अपने आप ही आ जाती है।

व्यक्ति-विशेष की और चित्त-वृत्ति के साथ-साथ घटनाओं द्वारा जो मानसिक प्रतिक्रिया हुआ करती है उसके फल-स्वरूप भी पात्र-वैभिन्य प्रदर्शित हो सकता है। अमुक पात्र एक घटना-विशेष को किस दृष्टि से देखता है, इसी में विभिन्नता के लक्षण स्पष्ट होंगे। एक ही प्रकार की घटना अनेक पात्रों में एक ही प्रकार के भाव नहीं उकसाती; कुछ उसमें लिप्त हो जाते हैं, कुछ निर्लिप्त रहते हैं; कुछ दुःखी होते हैं; कुछ आनन्दित होते हैं तथा कुछ मिश्रित भावों को प्रकट करते हैं। यदि कलाकार इन विभिन्न प्रतिक्रियाओं को समझ कर उनका स्वाभाविक तथा नाटकीय प्रयोग करता है तो उसकी एकाकी पात्र-विभि-न्नता से आभूषित होगी और उसका चरित्र-चित्रण हृदय-ग्राही होगा।

अधिकांश रूप से साधारण लेखक, संवाद की विशेषता द्वारा चरित्र-चित्रण में विभिन्नता ले आते हैं। यह साधन बहुत सरल है। जैसा हम प्रहसन खण्ड में देख चुके हैं संवाद में तकिया कलाम की बहुत लोक-प्रियता रही है। पात्र, कोई विशेष शब्द अथवा शब्द-

समूह मौके बे मौके बोलता रहता है और अपनी इस विचित्रता के कारण हास्य प्रस्तुत किया करता है। इसी विशेषता के द्वारा वह अन्य पात्रों से अलग पहचाना जा सकता है। उदाहरण स्वरूप 'ठाकुर का घर' मे डूडिल ऐंग्लो इन्डियन वर्ग की हिन्दी बोलता है; 'चौराहा' मे देहाती, देहाती हिन्दी बोलता है। भाषा मे अपभ्रंश रूपों के प्रयोग द्वारा भी पात्रों मे अच्छी विभिन्नता आ सकती है। इसके साथ बोली के स्तर और उच्चारण की विभिन्नता द्वारा भी पात्र वैचित्र्य प्रदर्शित हुआ है। हकलाने वाले व्यक्ति, हिचकने वाले व्यक्ति, रुक-रुक कर बोलने वाले पात्र, जल्दी-जल्दी संवाद करने वाले पात्र, नाक से बोलने वाले पात्र, शाही उच्चारण से बोलने वाले व्यक्ति एकांकियो मे पात्र-वैचित्र्य के साधन रहे हैं।

चरित्र का स्वाभाविक विकास चरित्र-चित्रण का सबसे महत्व-पूर्ण अंग है। यदि चरित्र का विकास नैसर्गिक रूप से नहीं होता तो एकांकी कभी भी प्रभावोत्पादक नही होगी। साधारणतः देखा गया है कि लेखक, पात्रों मे अस्वाभाविक परिवर्त्तन प्रदर्शित करने लगता है—क्रूर, दानी बन जाता है; दानी, क्रूर बन जाता है; द्रोही, राज्य-भक्त बनता है; और राज्य-भक्ति विद्रोह में परिणत हो जाती है। इससे यह तात्पर्य नही कि पात्रो मे परिवर्त्तन आवे ही नहीं। पात्रों मे परि-वर्त्तन होना अवश्य चाहिए परन्तु उस परिवर्त्तन-प्रदर्शन की तैयारी पहले से ही होनी चाहिए। ऐसा कभी नही होना चाहिए कि अकारण ही दानी क्रूर हो जाय। प्रत्येक परिवर्त्तन की पृष्ठ भूमि मे उसका स्वाभाविक प्रमाण होना चाहिए। यदि कोई पात्र अकारण, बिना उसकी सूचना अथवा मानसिक सकेत दिए अपनी चित्त-वृत्ति अथवा प्रवृत्ति परिवर्तित करता है तो कलाकार दोषी है और उसका चरित्र-चित्रण हीन है।

इस प्रकार का अस्वाभाविक परिवर्त्तन केवल वही नाटककार करता है जो अपने वस्तु को इतना जटिल बना चुका है कि उसका सरल सुलझाव उसकी शक्ति के बाहर है और बिना अपने पात्रों को

अस्वाभाविक रूप से परिवर्तित किए न तो उसकी वस्तु सुलझ सकती है और न एकांकी का अन्त ही हो सकता है। निरूपण और अवरुंधन के दोषपूर्ण होने के कारण ज्योंही वस्तु का सुलझाव, कठिन प्रतीत होने लगता है पात्र भी अपना चरित्र बदलने लगता है और कलाकार के हाथ की कठपुतली समान हो जाता है। ऐसा चरित्र परिवर्तन अत्यन्त दोष-पूर्ण होता है। चरित्र-चित्रण की अस्वाभाविक कलाबाजियाँ अनेक एकांकियों में देखने में आती हैं। इसी नियम के अनुसार 'ठाकुर का घर' में उत्तम का चरित्र, 'माँ' में ग़फार की माँ का चरित्र, धम्मन का चरित्र 'मछुए की मा' में; यमुना तथा भैरव का चरित्र, 'बन्दर की खोपड़ी' में स्वाभाविक रूप से विकसित करने का प्रयास है।[1]

चरित्र-चित्रण में पात्रों—विशेषतः नायक का चुनाव अत्यन्त सावधानी से होना चाहिए। दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी खण्ड में नायक संबंधी विश्लेषण एकांकी में मान्य है। पात्र न तो देवता ही हो और न हैवान; उसमें गुण और दोष का सम्यक विस्तार होना चाहिए। आदर्श नायक जो संस्कृत नाटकों के आधार रहे हैं वे उस समय विशेष के लिए हितकर थे। नायक अथवा कोई भी पात्र इतना आदर्शवत् न हो जाय कि वह मनुष्य रहे ही नहीं। इसमें सावधानी की आवश्यकता है। नाटक के अन्त होते ही सब से बड़ा लोभ जो नाटककारों के सम्मुख रहता है वह है नाटक के मुख्य पात्र को सुखी बनाना। जब नाटक शुरू हुआ तो उस पर विषाद की छाया प्रस्तुत थी और अन्त में वह छाया और भी प्रगाढ़ हो गयी परन्तु कलाकार के सुखान्तकी लिखने के लोभ ने सम्पूर्ण विषाद की छाया धोकर रख दी और अन्त सुखान्त कर दिया। इस प्रकार का वस्तु विकास तथा चरित्र-विकास आजकल की एकांकियों में अधिक होता है। सुखान्तकी में अधिक विस्तार होने से नाटककार के पास अनेक साधन रहते हैं

---

१ देखिए—'सात एकांकी'

परन्तु एकांकी का विस्तार इतना संकुचित रहता है कि सुख दुःख के हिंडोले बहुत देर तक नहीं झुकाए जा सकते और जब एक ही भाव-प्राधान्य हम एकांकी के लिए स्थिर कर चुके हैं तो उसका अतिक्रमण दोष पूर्ण होगा। यदि वस्तु तथा नायक का स्वाभाविक विकास दुःखान्तकी की ओर चल पड़ा है तो उसे रोकना नहीं चाहिए; उसकी शान्ति मृत्यु ही द्वारा होनी चाहिए। इसी कारण 'माँ' 'मछुए की माँ' तथा 'ठाकुर का घर' दुःखान्तकी है।[1]

संवाद

एकांकी की वस्तु के प्रमुख तत्त्वों में संवाद महत्वपूर्ण है। संवाद ही एकाँकी का मूलाधार है। संवाद द्वारा ही एकांकी का निरूपण, उसका अवरुंधन, उसका उत्कर्ष तथा उसका अपकर्ष प्रदर्शित किया जाता है। संवाद ही चरित्र-चित्रण का आधार है और इसी के द्वारा ही चरित्र का विकास होता है। इसी के सफल प्रयोग से एकांकी अपना प्रभाव बनाती बिगाड़ती है।

संवाद की कला कठिन है। हम साधारणः बात तो स्वाभाविक ढंग से करते हैं मगर उस बात को कागज पर लिखते ही सजग हो जाते हैं और लिखित शब्द हमारे अनुभव से न निकलकर 'शब्द-सागर' अथवा शब्द-कोष से निकलने लगते हैं। साधारण बोली के शब्दों को कागज़ पर उतारते ही हमें उनमें ग्रामीण दोष दिखलाई पड़ने लगता है और हम फोटो खींचने वाले के समान चित्र न खींच कर किसी उद्भट वक्ता की भाँति संवाद लिखने लगते हैं। वास्तविक बोली का यथार्थ रूप हमें डरा देता है और हम मात्राएँ साहित्यिक रूप से लगाने लगते हैं जिसका फल यह होता है कि भाषा न तो साहित्यिक रहती है और न ग्रामीण-दोनों के मिश्रण से एक अजीब ऊबड़ खाबड़ भाषा की व्युत्पत्ति हो जाती है। इस दोष के कारण

1 देखिए—'सात एकांकी'

अनेक एकांकी भाषा की दृष्टि से असफल प्रतीत होते हैं।

संवाद का प्रधान गुण है प्रभावोत्पादकता। यदि संवाद स्थायी प्रभाव नहीं डालता तो दर्शक अछूता रहेगा और एकांकी के किसी भी अंग की पूर्ति न हो पाएगी। कथोपकथन का रूप जब संवाद ले लेता है तो स्वाभाविकता के साथ उसकी चोटें बराबर की होनी चाहिए। यदि संवाद उलझा हुआ, गतिहीन तथा निरर्थक है तो वस्तु का विकास किसी प्रकार भी सफल-रूप से नहीं हो सकेगा। इसके साथ ही साथ प्रत्येक संवाद का कोई न कोई नाटकीय प्रयोजन भी होना चाहिए। प्रयोजन-हीन संवाद का एकांकी में कोई स्थान नहीं। या तो संवाद वस्तु की प्रगति कराए, या चरित्र का विकास करे, या भावों को स्पष्ट अथवा गंभीर बनाए, इसी में उसकी महत्ता है। एकांकी के संकुचित क्षेत्र के कारण संवाद का उत्तरदायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। इसी कारण यह नियम अनिवार्य है कि प्रत्येक संवाद का प्रयोजन स्पष्ट हो और प्रत्येक वाक्य किसी न किसी रूप में एकांकी को आगे बढ़ाए। संवाद की स्वाभाविकता की ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं। उसकी वास्तविकता में ही उसका प्राण है। उदाहरणार्थ 'चौराहा' में पादरी, स्कूली लड़के, पुलिसमैन, प्रोफ़ेसर, युवक, युवती, साहित्यिक, पंडित, बुड्ढे, बुड्ढी औरतें, सभी के संवाद में उपरोक्त गुण लाने का प्रयास है।

चरित्र-चित्रण के विवेचन में हमने संवाद द्वारा पात्रों में विभिन्नता लाने का सरल साधन बतलाया है और अपभ्रंश, ग्रामीण भाषा, तकिया कलाम तथा सहज नैसर्गिक बोली का प्रयोग दिखलाकर प्रमाणित किया है। इसी के अन्तर्गत हम उन संवादों की भी गणना कर सकते हैं जिनसे पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाता है और उन कथनों की ओर भी संकेत कर सकते हैं जो एकांकी में प्रदर्शित जीवन स्थल को एक वाक्य अथवा वाक्यांश में समेट कर रख देते हैं। किसी एक जीवन-स्थल अथवा अनुभव को स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाना एकांकी का मुख्य कार्य है और यदि लेखक

सफलतापूर्वक, चलते-चलते, सरलता से, संवाद द्वारा उस अंश की ओर संकेत मात्र कर देता है तो सम्पूर्ण एकांकी में जान आ जाती है। यह तथ्य उदाहरण से ही स्पष्ट होगा। 'माँ' में अफ्रीदी जीवन की बर्बरता तथा उसके असयम की ओर भी सकेत होना आवश्यक है इसीलिए अहमद कहता है—

अहमद—......"खून का तो अफ़सोस नहीं, मगर बन्दूक—मेरी रोज़ी भी गयी।"

रहमान भी इसी भावना को स्पष्ट करता है—

रहमान—"हम लोगों के बस की बात भी तो नहीं; सबके पास बन्दूकें और हर आदमी शिकारी और हर दूसरा आदमी शिकार।"

'ठाकुर का घर' में १६४२ के हत्याकाण्ड को एक ही संवाद में समेटने का प्रयत्न है—

गंगा—......"अब उसके है ही कौन! सात-सात बेटे तो उसने होम दिये। घर की एक ईंट खड़ी नहीं, अब तक उनकी लाश निकालने वाला भी कोई न मिला। आदमी तो इस तरफ़ गूलर के फूल हो गए। गौरैया ऐसे पट-पट मारे गये। न जाने भगवान ने क्या लिख रखा है।"

'मछुए की माँ' में एक मछुए के जीवन का दैवी विराग अभीष्ट है। इसी भावना को मुलिया की माँ स्पष्ट करती है—

"मुलिया की माँ—ठीक है बेटा! धन्नू मेरे लिए बड़ी-बड़ी चीजें लेने गया था, सो वह अभी तक न लौटा और इस बुढ़ौती में तुम मेरे लिए टट्टू खरीदने निकले हो। खरीदो, ज़रूर खरीदो, उसी पर चढ़ कर स्वर्ग जाऊँगी न !!!

संवाद का आदर्श रूप वही है जिसमें चरित्र-चित्रण तथा वस्तु-विकास के साथ-साथ रोचकता बनी रहे। इसलिए संवाद, कथोपकथन

का रूप इस प्रकार ले कि दो या तीन के बीच संवाद बदलता रहे और नवीन गति से आगे बढ़ता रहे। 'क' से 'ख' और 'ख' से 'ग' और 'ग' से 'घ' प्रणाली का संवाद नीरस होने लगता है और जैसा 'अन्दर की खोपड़ी' में प्रदर्शित है संवाद 'क' से 'घ', 'घ' से ग तथा 'ग' से 'क' तक आना जाता रहना चाहिए। संवाद में हास्य, श्लेश, परिहास, व्यंग्य सभी का प्रभावपूर्ण प्रयोग समयानुसार हो सकता है।

प्रभाव

दर्शकवृन्द पर एकांकी लेखक मनोनुकूल प्रभाव डाल सकता है परन्तु ध्यान केवल इस बात का होना चाहिए कि एक ही भावना का प्राधान्य रहे। अन्य भावनाएँ गौण रूप से रह सकती हैं परन्तु एक ही विशेष भावना का स्पष्टीकरण होने से दर्शक के हृदय पर प्रभाव स्थायी रूप में पड़ेगा।

प्रभाव के प्रदर्शन में वस्तु-सामंजस्य तथा संवाद का विशेष स्थान रहता है। वस्तु-समन्वय द्वारा ही, दर्शक, स्थिति ठीक-ठीक समझ लेता है और संवाद द्वारा ही पात्रों का चरित्र ग्रहण कर अपने को प्रभावित कर सकता है। जो सिद्धान्त दुःखान्तकी तथा सुखान्तकी के उद्देश्य में मान्य है वही सिद्धान्त एकांकी के प्रयोग में भी मान्य है। एकांकी आनन्द और शिक्षा दोनों सम रूप से प्रदान कर सकती है। यदि लेखक का ध्येय केवल आनन्द प्रदान है तो वह आनन्द का प्रसार कर सकता है और यदि शिक्षा-प्रदान है तो वह यह भी सरलता कर सकता है। साधारणतः लेखकों ने आनन्द तथा शिक्षा दोनों के यथोचित मिश्रण के उद्देश्य से ही एकांकी लिखे हैं परन्तु अनेक एकांकियों में आनन्द प्रधान गुण है और शिक्षा गौण रूप में ही प्रदर्शित है। एकांकी जिस वर्ग की होगी उसी वर्ग के लक्ष्य के अनुसार, लेखक, मनोनुकूल, दर्शक-वृन्द अथवा पाठक वर्ग को आनन्दित, शिक्षित अथवा प्रभावित कर सकता है।
